प्रकाशकीय

प्रत्येक धर्म मे आस्था के केन्द्र, उपास्य और आदर्श के रूप मे किसी महान् व्यक्तित्व को स्वीकार किया जाता है। ऐसे महनीय व्यक्तित्व को हिन्दू परम्परा मे ईश्वरावतार के रूप मे, बौद्ध परम्परा मे बुद्ध के रूप मे एव जैन परम्परा मे तीर्थंकर के रूप मे स्वीकार किया गया है। इस प्रकार तीर्थंकर, बुद्ध एव ईश्वरावतार की अवधारणाए क्रमश जैन, बौद्ध एव हिन्दू धर्म का आधार हैं। भारतीय धर्मों की इस त्रिवेणी के उपास्य के रूप मे स्वीकृत तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओ के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित इस शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित करते हुए आज हमे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। यह ग्रन्थ भारत की इन प्राचीन तीनो धर्मों/परम्पराओ पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए उनमे निहित समन्वयात्मक सूत्रो को खोजने का प्रयत्न है। डा० रमेशचन्द्र गुप्त ने पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान के शोधछात्र के रूप मे इस शोध-प्रबन्ध को तैयार किया था जिस पर उन्हे सन् १९८६ मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने पी-एच डी की उपाधि प्रदान की थी। इस शोध प्रबन्ध के परीक्षक प दलसुखभाई मालवणिया की अनुशसा पर इसके प्रकाशन का निश्चय किया गया। हम ग्रन्थ के लेखक डा रमेशचन्द्र गुप्त के तो आभारी हैं ही, इसके साथ ही साथ शोध-प्रबन्ध के विषय-चयन से लेकर उसके प्रकाशन तक के समस्त प्रयासो के लिए सस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन का भी आभार व्यक्त करते हैं। यह उनके ही प्रयत्नो का सुफल है कि सस्थान में भारतीय धर्म और दर्शनो के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति विकसित हो रही है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमे डा० रमणलाल शाह की प्रेरणा से जैन युवक मण्डल, बम्बई के द्वारा दस हजार रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ, अत हम मण्डल के न्यासियो के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। साथ ही ग्रन्थ के प्रूफ सशोधन के लिए हम शोध सहायक डा० शिव प्रसाद, श्री अशोक कुमार सिंह एव प्रकाशन सहायक श्री महेश कुमार के भी आभारी हैं। इसी प्रकार इसके सुन्दर व सत्वर मुद्रण के लिए वर्द्धमान प्रेस का भी आभारी हूँ।

यह ग्रन्थ भारतीय धर्म दर्शन मे तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक अध्य-
यन की प्रवृत्ति को विकसित करने मे कितना सहायक होगा, इसका निर्णय
तो इस ग्रन्थ के प्रबुद्ध पाठक ही बता सकेंगे, किन्तु तुलनात्मक एव समन्व-
यात्मक अध्ययन की जिस प्रवृत्ति को सस्थान ने आधार बनाया है वह
भविष्य मे अधिक विकसित होकर विभिन्न धर्मो के लोगो के बीच सौहार्द
व समन्वय का प्रसार कर सके, यही हमारी अपेक्षा है।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मन्त्री
श्री सोहनलालजैन विद्या प्रसार समिति
अमृतसर

प्राक्कथन

भारतीय धर्मों मे अवतार, बुद्ध और तीर्थंकर की अवधारणाएँ अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। जहाँ हिन्दू धर्म मे उपास्य के रूप मे अवतार को स्थान मिला है, वहा बौद्ध धर्म एव जैन धर्म मे क्रमश बुद्ध और तीर्थंकर को उपास्य माना गया है। ये तीनो अवधारणाए भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण अग हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध छ अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम अध्याय परिचयात्मक है। इसमे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि जैन, बौद्ध एवं हिन्दू धर्म मे क्रमश तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा का क्या स्थान है। साथ ही इस अवधारणा के विकास की ऐतिहासिक समीक्षा भी की गई है। प्रस्तुत अध्याय मे ही जरथुस्त्र, यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम मे अवतारवाद के अनुरूप ही जिन अवधारणाओ का विकास हुआ, उनका भी सक्षिप्त विवेचन है।

द्वितीय अध्याय मे जैन धर्म मे विकसित हुए तीर्थंकर की अवधारणा के विविध पक्षो पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। तीर्थंकर शब्द के विभिन्न अर्थ, तीर्थंकरो के विशिष्ट गुण, भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन तीर्थंकरो की अवधारणा और उनके नाम तथा तीर्थंकर पद की प्राप्ति व्यक्ति की किस प्रकार की आध्यात्मिक साधना का परिणाम है– इन प्रश्नो पर आलोचनात्मक ढग से विचार किया गया है। साथ ही तीर्थंकर का क्या स्वरूप है तथा तीर्थंकर का अरिहन्त, प्रत्येकबुद्ध एव सामान्य-केवली से क्या अन्तर है, इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है। इसी अध्याय में जैन धर्म में भक्ति और करुणा का क्या स्थान हो सकता है, इसकी चर्चा भी की गई है।

तृतीय अध्याय मे बौद्ध धर्म मे बुद्ध की अवधारणा के विविध पक्षो पर चर्चा की गई है। बौद्ध धर्म में बुद्ध की अवधारणा के विकास के साथ ही, इसमे करुणा और भक्ति की अवधारणा के विकास मे किन कारको का योगदान था, इस पर विशद् रूप से विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में हिन्दू धर्म मे विकसित हुए अवतार की अवधारणा के विभिन्न पक्षो की चर्चा है। इसमे अवतार की अवधारणा के मुख्य

कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने अध्ययन की अनुमति देकर विद्या की उपासना का अवसर प्रदान किया।

श्रद्धेय श्री दिवाकर पाठक, पिता तुल्य श्री प्रेम नारायण श्रीवास्तव के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिनकी प्रेरणा एव आशीर्वचन का सम्बल पाकर मैं यह महान् कार्य पूर्ण कर सका।

मैं परमपूज्य पिता श्री श्रीराम जी, मातु श्रीमती चमेली देवी, भाई श्री महेश चन्द्र गुप्त, श्री नरेश चन्द्र गुप्त, आदरणीय मामा डॉ० एस०वी० एल० गुप्त एव स्वजन आर० सी० गुप्ता, डॉ० श्याम सुन्दर, डॉ० निशा अग्रवाल का भी आभारी हूँ, जिन्होने मुझे विद्या के अध्ययन के लिए सतत् प्रोत्साहित किया। अन्त मे पत्नी श्रीमती सरला गुप्ता, पुत्र चि० राजीव, चि० सजीव तथा पुत्री कु० अजुम का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होने मुझे पारिवारिक कार्यों से मुक्त रखकर विद्या की उपासना का अवसर दिया।

अन्त मे, एक वार पुनः उन समस्त महानुभावो के उपकार को स्मरण कर आभार व्यक्त करता हूँ, जिनसे मैं लाभान्वित हुआ हूँ।

दिनाक १-१-१९८८

रमेश चन्द्र गुप्त
सहायक कर्मशाला अधीक्षक
डीजल रेल इजन कारखाना
वाराणसी-२२१००४

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय : अवतार की अवधारणा

संकेत सूची

आ० नि०	—	आवश्यकनिर्युक्ति
उ०	—	उत्तराध्ययनसूत्र
उत्त० नि०	—	उत्तराध्ययन निर्युक्ति
उ० पु०	—	उत्तरपुराण
छा० उ०	—	छान्दोग्य उपनिषद्
ति० प०	—	तिलोयपण्णत्ती
प्रव०	—	प्रवचनसारोद्धार
वाल्मीकि रा०	—	वाल्मीकि रामायण
भा०	—	भागवत
म० सा० अ०	—	मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद
वि० आ० भा०	—	विशेषावश्यकभाष्य
वि० पु०	—	विष्णु पुराण
श० ब्रा०	—	शतपथब्राह्मण
सम०	—	समवायाङ्ग
हरि० पु०	—	हरिवंशपुराण

•

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

१. भारतीय संस्कृति का मूल उत्स

भारतीय संस्कृति पवित्र गगा नदी के समान है, जिसमे अनेक धाराएँ विलीन होती हैं और प्रादुर्भूत होती हैं। भारतीय सस्कृति समन्वय की सस्कृति है। उसमे विविधता मे भी एकता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति–जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओ का त्रिवेणी-संगम है, इसमे भी जैन और बौद्ध परम्पराए श्रमण धारा की, और हिन्दू परम्परा वैदिक धारा की प्रतिनिधि हैं। यहां हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि चाहे अपने मूल उत्स निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग की दृष्टि से हम श्रमण और वैदिक धारा को अलग-अलग भले ही करें किन्तु दोनो ही परम्पराओ ने एक दूसरे को इतना प्रभावित किया है कि आज श्रमण धारा और वैदिक धारा को मूल स्वरूप मे खोज पाना अत्यन्त ही कठिन है। श्रमणो ने वैदिको से और वैदिको ने श्रमणो से बहुत कुछ लेकर आत्मसात् कर लिया है। जैन और बौद्ध धर्मों का हिन्दू धर्म पर विशेष रूप से वैष्णव धर्म पर और वैष्णव धर्म का जैन और बौद्ध धर्मों पर काफी प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रस्तुत तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओ का तुलनात्मक अध्ययन इन धाराओ की पारस्परिक निकटता और दूरी को समझने की दृष्टि से किया गया है। वस्तुत कोई भी संस्कृति शून्य से पैदा नही होती, वह अपने देश, काल और परिस्थिति की उपज होती है। अत समान देश, काल और परिस्थिति मे उत्पन्न विचारधाराएँ दार्शनिक दृष्टि से कुछ भिन्नता रखते हुए भी व्यावहारिक क्षेत्र मे वस्तुत भिन्न नही होती। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ विशाल भारतीय परम्परा के विभिन्न अगो के रूप मे विकसित हुई हैं, अत उनके बीच विभिन्नताओ के होते हुए भी कही समन्वय के सूत्र निहित हैं। उन्ही के सन्दर्भ मे इनकी दार्शनिक और धार्मिक अवधारणाओ का मूल्याकन किया जा सकता है।

विद्वानो ने भारतीय धर्मों को मुख्य रूप से दो भागो मे विभाजित किया है—१ प्रवर्तक धर्म और २ निवर्तक धर्म। जहाँ जैन और बौद्ध धर्म निवर्तक धारा से सम्बन्धित हैं वहाँ वैदिक धर्म प्रवर्तक धारा का प्रतिनिधित्व करता है। प्रवर्तक धर्म मुख्य रूप से समाजोन्मुख है और

उनमें जैविक मूल्यों को प्रधानता दी गयी है जबकि निवर्तक धर्म मुख्यतः सन्यासमार्गी और जैविक मूल्यों के निषेधक रहे हैं। यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान में न तो जैन या बौद्ध पूर्णतः निवर्तक है और न हिन्दू धर्म पूर्णतया प्रवर्तक बल्कि दोनों ही परम्पराओं में एक दूसरे के तत्त्व समाविष्ट हो चुके हैं। फिर भी ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से इनके मूल में निहित विभिन्नता को देखा जा सकता है। डा० सागरमल जैन अपनी पुस्तक जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग की भूमिका में इन दोनों ही प्रकार के धर्मों की समीक्षात्मक विवेचना करते हुए लिखते हैं कि 'प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ से जैविक मूल्यों की प्रधानता रही है, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर ही अधिक मुखर हुए हैं उदाहरणार्थ—हम सौ वर्ष जीयें हमारी सन्तान बलिष्ठ होवें, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हो आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया उन्होंने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति विराग और आत्म-सन्तोष ही सर्वोच्च जीवनमूल्य है।'[1]

निवर्तक और प्रवर्तक धर्मों के उपरोक्त लक्षणों को सैद्धान्तिक दृष्टि से हम स्वीकार कर सकते हैं किन्तु आज कोई भी धर्म न तो शुद्ध रूप से निवर्तक है और न तो शुद्ध रूप से प्रवर्तक ही। फिर भी मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इन दो परम्पराओं का अलग-अलग रूप देखा जा सकता है। दोनों परम्पराओं के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डा० जैन पुनः लिखते हैं कि—"एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वाञ्छनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक मांगों का ठुकराना ही जीवन-लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और अध्यात्म के प्रतीक बन गये। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यों पर बल देते हैं अतः स्वाभाविक रूप से वे समाजगामी बने

---

१. जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग—भूमिका पृ० १

क्योंकि जैविक आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि तो समाज जीवन में ही सम्भव थी, किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज विमुख और वैयक्तिक बन गये। यद्यपि दैहिक मूल्यो की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे। किन्तु जब मनुष्य ने देखा कि दैहिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए उसके वैयक्तिक प्रयासो के बावजूद भी उनकी प्राप्ति या अप्राप्ति किन्ही अलौकिक शक्तियो पर निर्भर है, तो वह देववादी या ईश्वरवादी बन गया। विश्व व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियो के नियन्त्रक तत्त्व के रूप मे उसने विभिन्न देवताओ और ईश्वर की कल्पना की और उनकी कृपा की आकाक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार मे नैष्कर्म्यता के समर्थक होते हुए भी कर्म सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगे कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है, अत निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासो पर आस्था रखने लगे। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्मसिद्धान्त उनके प्रमुख तत्त्व बन गए। साधना के क्षेत्र मे जहाँ प्रवर्तक धर्म में अलौकिक दैवीय शक्तियो की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य विधि-विधानो (याग-यज्ञ) का विकास हुआ, वही निवर्तक धर्मों ने बाह्य कर्मकाण्ड को अनावश्यक मानकर चित्तशुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया है।"[1] वस्तुतः प्रवर्तक वैदिकधारा और निवर्तक श्रमण-धारा की मूलभूत विशेषताओ और उनके सास्कृतिक और दार्शनिक प्रदेयो को अलग-अलग देखा जा सकता है किन्तु यह मानना भ्रान्तिपूर्ण ही होगा कि एक ही देश और परिवेश मे रहकर वे दोनो एक दूसरे के प्रभाव से अछूती रही हैं। उनमे प्रत्येक ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। यदि हम वैदिक धारा को एक "वाद" (Thesis) मानें तो श्रमण-धारा को उसका "प्रतिवाद" (Anti-'Thesis) कहा जा सकता है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्पराएँ वाद और प्रतिवाद के समन्वय (Synthesis) की परिचायक हैं। यह Synthesis एक ही प्रकार का नही है। जहाँ जैन धारा मे निवर्तक धर्मों के लक्षण अधिक रूप मे जीवित एव विकसित हुए, वहाँ बौद्ध धारा विशेषरूप से परवर्ती महायान बौद्ध धर्म ने निवृत्ति और प्रवृत्ति—दोनो में सन्तुलन बनाने का प्रयास किया जबकि वैदिक धारा से विकसित हिन्दू-धर्म में निवर्तक परम्परा के अनेक तत्त्वो के प्रविष्ट होने के बावजूद प्रधानता प्रवर्तक धारा की रही है।"

---

१ जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग—प्रास्ताविक पृ० ९-१०

२ श्रमणधारा का उद्भव

परम्परागत वैदिक धर्म की सहजता को जब स्वार्थी पुरोहित वर्ग ने जटिल और सकीर्ण बना दिया तथा कठोर वर्णव्यवस्था और कर्मकाण्ड ने उसकी सर्वजनग्राह्यता को नष्ट कर दिया, तब उसके विरोध मे जिन प्रगतिशील चिन्तको ने आवाज उठायी, वे ही श्रमण धारा के प्रतिनिधि थे। इसी श्रमण परम्परा मे आगे चलकर जैन और बौद्ध धर्मो का विकास हुआ। दार्शनिक मतभेद के होते हुए भी दोनो के धार्मिक एव नैतिक दृष्टिकोण प्राय समान ही प्रतीत होते हैं। कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद का स्पष्ट विरोध न केवल जैन एव बौद्ध धर्मो मे अपितु उपनिषदो मे भी दृष्टिगत होता है। वस्तुत ई० पूर्व छठी शताब्दी मे यह विरोध आलोचनात्मक भावना के रूप मे समग्र भारतीय चिन्तन मे प्रकट हुआ है। भारत मे यह युग दार्शनिक चिन्तन के जागरण का युग था। वेदो और उपनिषदो की विचारधाराओ के साथ उस समय स्वतन्त्र चिन्तन की अनेक विचारधाराएँ प्रचलित थी। मानव-कल्याण एव दुख मुक्ति की समस्याओ को लेकर विभिन्न विचारक अपने-अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर रहे थे। इसी क्रम मे जैन और बौद्ध तथा अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायो का जन्म हुआ। उपनिषद् एक ओर तो वैदिक धारा के समर्थक थे और दूसरी ओर वे ब्राह्मण-ग्रथो की भोगवादी और कर्मकाण्डीय विचारधारा के कट्टर विरोधी भी थे। कर्मकाण्ड और यज्ञयाग का आलोचक एव अध्यात्मवादी होने के कारण उपनिषदो का चिन्तन जैन-बौद्ध धर्मो के अधिक निकट प्रतीत होता है। यद्यपि उपनिषदो के ऋषि वेद-निन्दक नही हैं किन्तु वे वैदिक कर्मकाण्ड के पक्षपाती भी नही कहे जा सकते हैं। वेदो के समर्थन के साथ-साथ उन्होने वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध किया, अत वे आस्तिक माने जाते रहे, जबकि जैनो और बौद्धो ने खुलकर वेदो और वैदिक कर्मकाण्ड की आलोचना की अत वे नास्तिक कहलाये।

३. आस्तिक एव नास्तिक दर्शन

जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महावीर और बुद्ध ने चार्वाको के समान ही वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध तो किया, यद्यपि उन्होंने उनकी भोगवादी नीति का समर्थन नही किया। फिर भी उन्हे चार्वाको के साथ नास्तिक की कोटि मे ही रखा गया। औपनिषदिक धारा ने भी अध्यात्मवाद का समर्थन और भौतिकवाद का विरोध किया है किन्तु वह वेदो की

समर्थक बनी रही अत वह आस्तिक कहलाई। जैन दर्शन आस्तिक दर्शनो के कर्मकाण्डीय पक्ष का एव ईश्वरवाद का खण्डन करता है जबकि बौद्ध दर्शन आस्तिको के कर्मकाण्ड और ईश्वरवाद के साथ-साथ आत्मवाद का भी खण्डन करता है।

यद्यपि वैदिक परम्परा जैन और बौद्ध दोनो को नास्तिक कहती है, किन्तु वे अपने को नास्तिक नही मानते हैं। नास्तिकवाद के प्रवर्तक बृहस्पति ने कर्मकाण्ड और ईश्वरवाद के खण्डन के लिए जिन युक्तियो को प्रस्तुत किया है, ठीक उन्ही युक्तियो को जैन और बौद्ध दार्शनिको ने भी प्रस्तुत किया है। फिर भी कर्म सिद्धान्त और सदाचार के प्रति आस्थावान् होने के कारण वे अपने को नास्तिक नही मानते हैं। जैन और बौद्ध दार्शनिको ने नास्तिकवाद की व्याख्या परलोक, धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य के विरोधी सिद्धान्त के रूप मे की है। आस्तिक-दर्शनो मे परलोक, धर्म-आचरण और कर्तव्यो के सम्बन्ध मे जो मान्यतायें प्राप्त होती हैं, उन्ही मान्यताओ को प्रकारान्तर से जैन और बौद्ध दर्शनो ने भी अपनाया है।

जैन और बौद्ध दर्शनो को नास्तिक कहने का एकमात्र कारण उनका वेदनिन्दक होना ही प्रतीत होता है, क्योकि मनुस्मृति मे स्पष्ट कहा गया है—"नास्तिक्य वेदनिन्दा[1]।" आस्तिक दर्शन वेदवाक्यो को प्रमाण मानते हैं, जबकि जैन, बौद्ध और बृहस्पति—तीनो ही वेदो को अप्रमाण मानते हैं, इसी कारण वे नास्तिक कहे गये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन और बौद्ध दर्शन आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओ के बीच के दर्शन प्रतीत होते हैं।

४. जैन और बौद्ध धर्मों की समानता

जैन और बौद्ध दोनो दर्शन एक कूटस्थ-नित्य आत्मा के स्थान पर परिणामी चेतन्य को स्वीकार करते हैं, दोनो ही अहिंसा के पक्षपाती है और दोनो ही वेद वाक्यो को प्रमाण के रूप में स्वीकार नही करते हैं। आत्मा और अन्य द्रव्यो की सत्ता के प्रश्न को छोडकर दोनो मे बहुत कुछ समानता है। व्यवहार और नीति की दृष्टि से जैन दर्शन मे जहाँ सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र को मोक्ष का साधन कहा गया है, वही बौद्ध दर्शन में प्रज्ञा, शील और समाधि को निर्वाण का साधन बताया गया है। गीता मे भी ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग का

---

१ मनुस्मृति ४।१६३

प्रतिपादन हुआ। जैन भावना, बौद्ध भावना, और हिन्दू भावना एक दूसरे के काफी निकट हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा सम्बन्धी चार भावनाओं को जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन और योग दर्शन में समान रूप से स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार भावना पद्धति की दृष्टि से जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा में बाह्य विभिन्नताओं के होते हुए भी मूलतः समरूपता है। मानवीय ज्ञान, मानवीय श्रद्धा और मानवीय आचरण को सम्यक् दिशा में नियोजित करना तीनों का लक्ष्य है।

तीनों ही भावना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य मनुष्य के राग भाव, तृष्णा या आसक्ति को समाप्त करना है। जहाँ जैन धर्म ने वीतरागता को जीवन का चरम साध्य बताया वहीं बौद्ध धर्म में वीततृष्ण होना ही साधना का चरम लक्ष्य माना गया और हिन्दू धर्म में—विशेष रूप से गीता में सम्पूर्ण शिक्षा का सार आसक्ति के प्रहाण को माना गया। वीत-राग, वीततृष्ण या अनासक्त जीवनशैली का निर्माण ही तीनों परम्पराओं का मूलभूत लक्ष्य रहा है। जिस प्रकार जैन धर्म का अन्तिम आदर्श वीतराग अवस्था को प्राप्त करना है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म का अन्तिम आदर्श वीततृष्ण होना या अर्हत्-अवस्था को प्राप्त करना है, हिन्दू धर्म में भी स्थितप्रज्ञ होने को जीवन का चरम आदर्श कहा जा सकता है। किन्तु स्थितप्रज्ञ होने का अर्थ अनासक्त, वीतराग या वीततृष्ण होना ही है[1]। ऐसा व्यक्तित्व ही इन तीनों धर्मों में साधना का परम आदर्श रहा है और उसे ही धर्ममार्ग के प्रवर्तक रूप में स्वीकार किया गया है।

५. तीर्थङ्कर, बुद्ध या अवतार की अवधारणा का प्रयोजन

संसार के प्रत्येक धर्म या साधना पद्धति का कोई न कोई प्रवर्तक अवश्य होता है। कोई भी धर्म किसी धर्म प्रवर्तक के द्वारा ही अस्तित्व में आता है। धर्म प्रवर्तक प्रथम तो स्वयं सत्य की अनुभूति करता है और फिर उस अनुभूत-सत्य को उपदेशों के माध्यम से जन साधारण तक पहुँचाता है। प्रत्येक धर्म प्रवर्तक व्यक्ति, जीवन और जगत् के सम्बन्ध में अपना दर्शन प्रस्तुत करता है और वह यह बताता है कि जीवन क्या है, जगत् क्या है और जीवन का अन्तिम उद्देश्य क्या है तथा व्यक्ति को क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक धर्म में धर्म-प्रवर्तक अपना दर्शन, अपनी साधना पद्धति, अपनी समाज व्यवस्था और

1 जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ० ५०३।

आचार पद्धति प्रस्तुत करता है। वह धार्मिक और सामाजिक जीवन के नियमो और मर्यादाओ का सस्थापक भी होता है। प्रत्येक धर्म के अनुयायियो के लिए उनके धर्म-प्रवर्तक के वचन प्रमाण रूप होते हैं और वे यह मानते हैं कि धर्म-प्रवर्तक के उपदेश और आदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करने मे ही हमारा कल्याण है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म के लिए तीन वस्तुएं आवश्यक होती हैं—धर्म प्रवर्तक, धर्म पुस्तक और धर्म-सघ या समाज।

धर्मपुस्तक के उपदेशक या रचयिता के रूप मे तथा धर्मसघ के आदर्श या नियामक के रूप मे धर्मप्रवर्तक की आवश्यकता होती है। अत. धर्म-प्रवर्तक वह केन्द्र है जिस पर किसी भी धर्म का वृत्त स्थित होता है। बिना धर्मप्रवर्तक के कोई भी धर्म अस्तित्व मे ही नही आ सकता है। धर्मप्रवर्तक धर्म को अस्तित्व मे लाने वाला, उसे जीवन देने वाला और उसका नियामक होता है।

यही कारण है कि ससार के प्रत्येक धर्म मे किसी न किसी रूप मे धर्म प्रवर्तक को स्वीकार किया गया है। जैनो ने अपने धर्मप्रवर्तक के रूप मे तीर्थंकर को स्वीकार किया तो बौद्धो ने बुद्ध को। जहाँ हिन्दू धर्म मे अवतार को धर्मप्रवर्तक के रूप मे स्वीकार किया गया है, वहाँ ईसाई धर्म मे ईश्वर के पुत्र को और इस्लाम मे पैगम्बर को धर्मप्रवर्तक के रूप मे स्वीकार किया गया है।

इन धर्मप्रवर्तको के उपदेशो को धर्मग्रन्थो मे सकलित कर धार्मिक और सामाजिक जीवन का नियामक माना गया। जैनो ने तीर्थंकर के वचनो का सकलन आगमो के रूप मे किया, तो बौद्धो ने बुद्ध वचनो को त्रिपिटक में सकलित किया। इसी प्रकार हिन्दू धर्म मे ऋषियो और अवतारो के वचनो को वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता आदि अनेक ग्रन्थो मे सकलित किया गया। यद्यपि हिन्दू धर्म मे केवल मीमासक एक ऐसा सम्प्रदाय है जो वेदो को उपदिष्ट नही मानता, वह उन्हे नित्य मानता है और इस प्रकार उसमे धर्म-शास्त्र को ही सर्वोपरि माना गया है। जब कि विश्व के अन्य सभी धर्मों मे धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता के लिए धर्मोपदेष्टा या धर्मप्रवर्तको को ही प्राथमिकता दी गई। अत· हम यह कह सकते हैं कि धर्मप्रवर्तक के रूप मे तीर्थंकर, बुद्ध या अवतार की अवधारणायें आवश्यक रही हैं।

तीर्थंकर, बुद्ध या ईश्वर धार्मिक जीवन की साधना के चरम आदर्श हैं। प्रत्येक धर्म मे धार्मिक जीवन का एक साध्य होता है, जिसकी

उपलब्धि के लिए उस धर्म के अनुयायी जीवन भर प्रयत्नशील रहते हैं। साथ ही व्यक्ति का धार्मिक जीवन कैसा हो, इसका एक मानदण्ड या आदर्श होना भी आवश्यक है। सभी धर्मों मे अपने धर्मप्रवर्तक के जीवन को धार्मिक साधना के आदर्श के रूप मे स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार जैनधर्म मे व्यक्ति के जीवन का चरम साध्य जिनत्व को प्राप्त करना है। उसी प्रकार बौद्ध धर्म मे जीवन का चरम साध्य बुद्धत्व की प्राप्ति या बोधिसत्त्व होना माना गया है। हिन्दू धर्म मे यद्यपि साधना के लक्ष्य के रूप मे ईश्वर का सान्निध्य या ईश्वर की प्राप्ति ही मुख्य है किन्तु उस ईश्वर का जगत् मे यथार्थ प्रतिनिधि तो अवतारी पुरुष के जीवन का आदर्श ही होता है। इसी प्रकार ईसाई और इस्लाम धर्मो मे भी ईश्वर की प्राप्ति को ही साधना का आदर्श माना गया है किन्तु ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करने के लिए दोनो धर्म क्रमश ईश्वरपुत्र या पैगम्बर के समान जीवन शैली को अपनाना आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर, बुद्ध, अवतार, ईश्वरपुत्र या पैगम्बर का जीवन उन-उन धर्मों के अनुयायियो के लिए आदर्श एव अनुकरणीय जीवन होता है। जीवन के इस आदर्श की यथार्थ प्रस्तुति के लिए प्रत्येक धर्म मे किसी न किसी मार्गप्रवतक को स्वीकार किया गया है। जहाँ तक ईश्वरवादी धर्मों का सम्बन्ध है उन्होने जीवन का चरम साध्य ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करना स्वीकार किया है उनमे अवतारी पुरुषो के जीवन को एक आदर्श जीवन के रूप मे स्वीकार किया गया और यह माना गया कि उन अवतारी पुरुषो के अनुरूप जीवन जीकर या उनके उपदेशो का पालन करके ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त किया जा सकता है।

जहाँ तक अनीश्वरवादी धर्मों का प्रश्न है वे तो स्पष्ट रूप से अपने धर्म प्रवर्तक को ही अपनी साधना के उच्चतम आदर्श के रूप मे स्वीकार करते हैं, इन धर्मों मे उस आदर्श या ऊँचाई तक पहुँचने के लिए धर्म साधना को आवश्यक माना गया है। तीर्थंकर और बुद्ध न केवल धर्म-प्रवतक हैं अपितु धार्मिक साधना के चरम आदर्श या साध्य हैं, उन्हे साध्य इस अर्थ मे कहा जाता है कि इन धर्मो मे प्रत्येक व्यक्ति को जिन-बीज या बुद्ध-बीज माना जाता है और व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि साधना के द्वारा अपने प्रसुप्त बुद्धत्व या जिनत्व को उपलब्ध करे। इन धर्मो मे तीर्थंकर या बुद्ध की उपासना उनके सान्निध्य लाभ के लिए नही अपितु उनके जैसा बनने के लिए की जाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रत्येक धर्म के लिए तीर्थंकर, बुद्ध,

अवतार या पैगम्बर की अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि बिना किसी धर्मप्रवर्तक और धार्मिक जीवन के आदर्श को स्वीकार किए बिना कोई भी धर्म अपना अस्तित्व नहीं रख सकता।

६ जैनधर्म और तीर्थङ्कर की अवधारणा

जैनधर्म श्रमण परम्परा का धर्म है। यह निवृत्ति प्रधान है। इस धर्म में संसार को दुःखमय माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जन्म दुःख है, वृद्धावस्था दुःख है, रोगोत्पत्ति और मृत्यु भी दुःख है, अधिक क्या यह सम्पूर्ण संसार ही दुःख रूप है, जिसमें प्रत्येक प्राणी पीड़ित हो रहा है।[1] संसार की दुःखमयता को स्वीकार करने के साथ-साथ जैनधर्म यह भी मानता है कि व्यक्ति अपनी साधना के बल पर इस दुःखमय संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। सांसारिक दुःखों और जन्म, जरा, मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना ही मुक्ति है किन्तु जैनधर्म में मुक्ति का केवल यह निषेधात्मक रूप ही मान्य नहीं है। जैनों ने मुक्ति को एक आध्यात्मिक पूर्णता के रूप में ही देखा है, यह आध्यात्मिक पूर्णता तब प्राप्त होती है जब आत्मा कर्मों के आवरण को समाप्त कर अपने अनन्तचतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तसुख को प्राप्त कर लेता है।[2] कर्मों के आवरण को नष्ट करने के लिए तथा आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने के लिए जैनधर्म में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का मोक्ष मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] जैनधर्म यह मानता है कि प्रत्येक भव्य आत्मा सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की साधना के द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। दार्शनिक दृष्टि से जैनधर्म प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि प्रत्येक जीवात्मा

---

१ "जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १९।१६

२ विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं, च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं॥—नियमसार–१८१

३ नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥

—उत्तराध्ययनसूत्र २८।३

मे परमात्मा बनने की सामर्थ्य है। जैनधर्म मे आत्मा की निम्न स्थितियाँ मानी गई हैं—[1]

१—बहिरात्मा
२—अन्तरात्मा
३—परमात्मा

ससार के विषय वासनाओ की ओर उन्मुख हुआ व्यक्ति बहिरात्मा है। किन्तु भोगवादी जीवन दृष्टि से विरक्त होकर जो साधक आत्म सयम और आत्मानुभूति की दिशा मे अग्रसर होता है, वह अन्तरात्मा है। जब यह अन्तरात्मा अपनी साधना के उच्चतम आदर्श वीतराग दशा को प्राप्त कर लेता है, तो वह परमात्मा बन जाता है।[2] इस परमात्म-दशा को प्राप्त कर लेना ही जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का सारतत्व है। जैनधर्म आत्मा को परमात्मा के रूप मे विकसित करने की एक कला है, परमात्म-दशा की प्राप्ति ही जैन साधना का एक मात्र लक्ष्य है। जैनधर्म मे इस परमात्मदशा या आत्मा की पूर्णता की स्थिति को मुख्यतया दो भागो मे बाटा गया है, जो साधक आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर अपने शरीर का त्याग कर चुके हैं वे सिद्ध कहलाते हैं, यद्यपि सिद्धावस्था की प्राप्ति ही जैनधर्म का लक्ष्य है, फिर भी इसके पूर्व व्यक्ति को अर्हतावस्था को प्राप्त करना होता है। जैनो की यह अर्हतावस्था जीवन-मुक्ति की अवस्था है। जैनधर्म मे इस अर्हतावस्था को भी तीन रूपो मे विभक्त किया गया है—तीर्थंकर, प्रत्येकबुद्ध और सामान्य केवली। हम इन सबकी चर्चा अगले अध्याय मे विस्तार के साथ करेंगे। यहाँ केवल इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि सामान्य-केवली और प्रत्येकबुद्ध की अपेक्षा जैनधर्म मे तीर्थंकर न केवल अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करता है अपितु, वह धर्ममार्ग के उपदेष्टा और धर्मसघ के नियामक के रूप मे जन-जन को उस आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। इसके साथ-साथ जैनधर्म मे तीर्थंकर मे विशिष्ट शक्तियाँ भी मानी गई हैं जो कि प्रत्येक-बुद्ध और सामान्यकेवली मे नही होती है, इस प्रकार तीर्थंकर जैनधर्म और जैनसाधना का प्राण है।

---

१ जीवा हवति तिविहा, बहिरप्पा तह य अतरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहता तह य सिद्धा य ॥—कार्तिकेयअनुप्रेक्षा—१९२

२ अक्खाणि बहिरप्पा, अतरप्पा हु अप्पसकप्पो।
कम्मकलक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ॥—मोक्खपाहुड-५

जैनधर्म का यह सामान्य विश्वास है कि प्रत्येक कालचक्र मे और प्रत्येक क्षेत्र में एक निश्चित सख्या मे क्रमश तीर्थंकरो का आविर्भाव होता है और वे धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं। सामान्यतया यह भी माना जाता है कि प्रत्येक तीर्थंकर का धर्मोपदेश समान होता है, यद्यपि जैनाचार्यो ने प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के धर्मोपदेश और धर्मव्यवस्था मे मध्य के २२ तीर्थंकरो की अपेक्षा कुछ अन्तर भी स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पच महाव्रतो का उपदेश देते हैं, जबकि मध्य के २२ तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का उपदेश देते है। इसी प्रकार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर छेदोपस्थापनीय चारित्र और सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश करते हैं जबकि मध्यवर्ती तीर्थंकर केवल सामायिकचारित्र का उपदेश करते हैं।[1] यद्यपि इन अन्तरो के बावजूद भी सभी तीर्थंकरो के धर्मचक्र प्रवर्तन का मूलभूत उद्देश्य व्यक्ति को उसकी आध्यात्मिक पूर्णता की ओर ले जाना है।

७. जैनधर्म मे तीर्थंकर की अवधारणा का ऐतिहासिक विकास-क्रम

यद्यपि जैनधर्म मे तीर्थंकर की यह अवधारणा पर्याप्त प्राचीन है, फिर भी प्राचीन जैन ग्रन्थो के अध्ययन से ऐसा लगता है कि इसका एक क्रमिक विकास हुआ है। आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध एव सूत्रकृताग जैसे जैनो के प्राचीनतम ग्रन्थो मे हमे तीर्थंकर शब्द ही नही मिलता है। यद्यपि उसमे अरहन्त (अर्हत्) शब्द उपस्थित है। एक स्थान पर उसमे कहा गया है कि जो भूतकाल मे अरहन्त हो चुके हैं, वतमान मे अरहन्त हैं और भविष्य मे अरहन्त होगे, वे सभी यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव या सत्व की हिंसा मत करो, उसे पीडा न पहुचाओ, यही

---

१ पढमस्स बारसग सेसाणिक्कारसग सुयलभो।
पच जमा पढमतिमजिणाण सेसाण चत्तारि॥
पच्चक्खाणमिण सजमो अ पढमतिमाण दुविगप्पो।
सेसाण सामइओ सत्तरसगो अ सव्वेसिं॥

—आवश्यकनियुंक्ति २३६-२३७

२ जे अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहता भगवतो ते सव्वे एवमाइ-क्खति' सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हतव्वा—एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए सामिच्च लाय खेयण्णेहि पवेइए॥

—आचाराग, १।४।१।१-२

एकमात्र शुद्ध और शाश्वत धर्म है।[1] इस प्रकार हम देखते है कि भूत, वर्तमान और भविष्य काल के अरहन्तो की अवधारणा जैनो मे अति प्राचीन काल से उपस्थित रही है। यह भी सत्य है कि अरहन्त की अवधारणा से ही तीर्थंकर की अवधारणा का विकास हुआ है।

यद्यपि पटना जिले के लोहानीपुर से तीर्थंकर की मौर्यकालीन प्रतिमा उपलब्ध हुई है, किन्तु वह तीर्थंकर की अवधारणा के विकसित स्वरूप का प्रमाण नही मानी जा सकती है। क्योकि मथुरा के अभिलेखो (ई० पू० प्रथम शती से ईसा की दूसरी शती तक) मे भी तीर्थंकर के स्थान पर अर्हत् शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। प्राचीन स्तर के जैन ग्रन्थो मे सबसे पहले उत्तराध्ययन सूत्र के २३वे अध्याय मे महावीर और पार्श्व के विशेषण के रूप मे 'धर्म तीर्थंकर जिन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। डा० सागरमल जैन की मान्यता है कि जैन परम्परा मे प्राचीन शब्द अर्हत् ही था, तीर्थंकर शब्द का प्रयोग परवर्ती काल का है। उत्तराध्ययन के पश्चात्-कालीन आगमो—आचाराग द्वितीयश्रुतस्कध, भगवती, स्थानाग, समवायाग एव कल्पसूत्र मे तीर्थंकर शब्द का प्रयोग हमे मिलता है। जैनो मे अर्हत्, जिन, सबुद्ध और धर्मतीर्थंकर शब्द पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। ज्ञातव्य है बौद्ध त्रिपिटक साहित्य मे 'निगण्ठनाटपुत्त' (निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र) अर्थात् महावीर, मखलिगोशाल, सजयवेलट्ठिपुत्र आदि को तीर्थंकर कहा गया है। भगवती मे गोशालक अपने को तीर्थंकर कहता है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे अर्हत्, बुद्ध, जिन, तीर्थंकर आदि श्रमण परम्परा के सर्वसामान्य शब्द थे। किन्तु आज तीर्थंकर शब्द जैन परम्परा का और बुद्ध बौद्ध परम्परा का विशिष्ट शब्द बन गया है।

जैनो मे तीर्थंकरो की एक निश्चित सख्या, उनका क्रम, उनके जीवन-वृत्त आदि का एक सुव्यवस्थित रूप मे प्रतिपादन ईसापूर्व की पहली शताब्दी से लेकर ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी के बीच ही हुआ है। क्योकि इस काल के रचित ग्रन्थ कल्पसूत्र एव समवायाग मे सबसे पहले हमे तीर्थंकरो से सम्बन्धित विवरण मिलते हैं। जैनो की तीर्थंकर की यह अवधारणा किस प्रकार विकसित हुई, तीर्थंकर के जीवन वृत्तो को किस प्रकार अलौकिक एव चमत्कारपूर्ण बनाया गया। इस सबकी चर्चा हमने अग्रिम अध्याय मे की है। यहाँ तो हमारा प्रयोजन मात्र इतना बता देना है कि तीर्थंकर की अवधारणा जैनधर्म का केन्द्रीय तत्त्व है। हम यह

---

१ उत्तराध्ययन २३।१, २३।५

भी मानते हैं कि जिस प्रकार जैनधर्म मे तीर्थंकर की अवधारणा का एक कालक्रम मे विकास हुआ है, उसी प्रकार बौद्धधर्म मे बुद्धो की अवधारणा और हिन्दू धर्म मे अवतारो की अवधारणा का कालक्रम मे विकास हुआ है।

८ बौद्धधर्म और बुद्ध

जैनधर्म के समान ही बौद्धधर्म भी श्रमण परम्परा का एक निवृत्तिमार्गी धर्म है। सामान्यतया इस धर्म के सस्थापक के रूप मे गौतम बुद्ध को माना जाता है। गौतम बुद्ध जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समकालीन हैं। गौतम बुद्ध ने भी ससार की दु खमयता का अनुभव किया और कहा कि यह ससार दु खमय है। संसार की दु खमयता की अनुभूति ही बौद्ध धर्म का प्राण है। गौतम बुद्ध ने स्वय जिन चार आर्यसत्यो का उपदेश दिया था, उनके मूल मे दु ख की अवधारणा है। उनके ये चार आर्यसत्य निम्न हैं—

१—दु ख।
२—दु ख समुदय या दुःख का कारण।
३—दु ख निरोध।
४—दु ख निरोध का मार्ग।[1]

यहाँ हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि बुद्ध और महावीर दोनो ससार की दु खमयता को चित्रित करते हैं, किन्तु वे दोनो निराशावादी नही है। दोनो यह मानते है कि ससार की इस दु खमयता से व्यक्ति का उद्धार सम्भव है। दु ख और दु ख के कारणो को जानकर उनका उच्छेद कर देने पर दु ख का अन्त किया जा सकता है। बौद्ध धर्म मे बुद्ध का मुख्य लक्ष्य संसार के प्राणियो को दु ख से मुक्त कराना ही है। ससार के प्राणियो को दु ख से मुक्त करने के लिए ही वे धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं तथा जन-जन के कल्याण के लिए न केवल स्वय प्रयत्नशील होते

---

१ [अ] इद दुक्ख ति खो, पोट्ठपाद, मया व्याकत, अय दुक्खसमुदयो ति खो पोट्ठपाद, मया व्याकत, अय दुक्खनिरोधो ति खो पोट्ठपाद, मया व्याकत, अय दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा ति खो, पोट्ठपाद, मया व्याकत' ति।

—दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त १ ९ ३, पृ० १५७।

[ब] बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, उपाध्याय भरतसिंह, पृ० १५६-५७

हैं, अपितु अपने भिक्षु संघ को इस महान् कार्य के लिए प्रेरित करते हैं।[1] बौद्धधर्म के अनुसार यदि व्यक्ति बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अष्टांग आर्यमार्ग का सम्यक् प्रकार से पालन करता है तो वह जन्म, जरा और मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर निर्वाण का लाभ कर सकता है।

यद्यपि सामान्यतया बौद्ध धर्म को गौतम बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट और प्रचारित माना जाता है किन्तु जैनों के समान बौद्धों में भी यह अवधारणा पाई जाती है कि गौतम बुद्ध के पूर्व भी अनेक बुद्ध हो चुके हैं और उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है। बौद्धधर्म में बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और अर्हत् की अवधारणायें उपस्थित हैं। जो व्यक्ति बुद्ध द्वारा उपदिष्ट होकर निर्वाण का लाभ करते हैं वे अर्हत् और जो स्वयं बोधि को प्राप्त करते हैं, वे प्रत्येकबुद्ध कहे जाते हैं किन्तु अर्हत् और प्रत्येक बुद्ध के इन आदर्शों की अपेक्षा बुद्धत्व का आदर्श उच्च माना गया है क्योंकि बुद्ध न केवल अपनी दुःख विमुक्ति की चिन्ता करते हैं अपितु वे संसार के सभी प्राणियों की दुःख विमुक्ति की चिन्ता करते हैं। महायान सम्प्रदाय तो यहाँ तक मानता है कि दूसरों को दुःख-विमुक्ति के लिए वे अपने परिनिर्वाण की भी चिन्ता नहीं करते।[2] इस प्रकार बुद्ध न केवल आध्यात्मिक पूर्णता के प्रतीक हैं अपितु वे जन-जन के कल्याण करने वाले भी हैं। अपनी इसी विशेषता के कारण वे बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ हैं।

---

१ 'चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं'

—(अ) महावग्ग (१ १० ३२) पृ० ३२

—(ब) दीघनिकाय भाग—२ महापदानसुत्त (१ ६ ६५) पृ० ३७

तुलनीय

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरे व संजए।
सन्तिमग्गं च बूहए, समयं गोयम। मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १०।३६

२ [अ] किं मे एकेन तिण्णेन पुरिसेन थामदस्सिना सब्बञ्ञुतं पापुणित्वा सन्तारेस्सं सदेवकं।—जातकट्ठकथा—निदानकथा

बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, पृ० ६१० से उद्धृत।

[ब] मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥
—बोधिचर्यावतार ८/१०८,

[स] भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः।—बोधिचर्यावतार १/२०-२१।

वे धर्ममार्ग के उपदेष्टा धर्मसघ के नियामक तथा अन्य साधको के लिए आदर्श रूप हैं ।

९ बुद्धत्व की अवधारणा का विकास

जिस प्रकार जैनधर्म मे ऐतिहासिक दृष्टि मे तीर्थकर की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ उसी प्रकार बौद्धधर्म मे भी बुद्धत्व की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ है । सर्वप्रथम शाक्यपुत्र गौतम को बुद्ध मानने के साथ-साथ अतीत और अनागत बुद्धो को कल्पना विकसित हुई, फिर क्रमश अतीत और अनागत बुद्धो की सख्या उनके जीवनवृत्त आदि का भी विकास हुआ । इन सब की चर्चा हमने बुद्धत्व की अवधारणा नामक अगले अध्याय में की है, वहाँ हमने यह भी बताने का प्रयत्न किया है कि जिस प्रकार जैनो में तीर्थंकर के जीवनवृत्त के साथ अलौकिकत्व और चमत्कारपूर्ण बातें जुडती गई वैसा ही बौद्धधर्म मे बुद्ध के साथ भी हुआ है । यहाँ तो हमारा उद्देश्य केवल यह सूचित करना है कि बुद्धत्व एव बोधिसत्त्व की अवधारणाएँ बौद्धधर्म का प्राण है, क्योकि उसी के आधार पर इस धर्म की मूल्यवत्ता एव सामाजिक उपयोगिता को सिद्ध किया जा सकता है ।

१० हिन्दू धर्म और अवतार

जिस प्रकार जैनधर्म के प्रवर्तक के रूप मे महावीर और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक के रूप मे बुद्ध को स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म के प्रवर्तक के रूप मे किसी व्यक्ति विशेष को स्वीकार नही किया जाता है । यद्यपि यहाँ हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि बौद्धो ने और जैनो ने भी परम्परागत रूप मे महावीर अथवा बुद्ध को अपने धर्मसघ का एक मात्र प्रवर्तक नही माना है । धार्मिक दृष्टि से उनकी यह मान्यता है कि इस ससार चक्र मे अनादि काल से समय-समय पर तीर्थंकर और बुद्ध होते हैं और वे धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं । फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध और महावीर को क्रमश बौद्ध और जैन धर्म का प्रवर्तक माना जाता है किन्तु हिन्दू धर्म में ऐसे किसी धर्म प्रवर्तक को खोज लेना कठिन है । वस्तुत हिन्दूधर्म एक धर्म न होकर धर्म-समूह है । अत न तो इसका कोई एक धर्म प्रवर्तक माना जा सकता है और न कोई एक निश्चित दर्शन या धर्मशास्त्र ही है । हिन्दू धर्म मे आज भी प्रकृति पूजा से लेकर वेदान्त की आध्यात्मिक ऊँचाई को स्पर्श करने वाले अनेक स्तर या रूप हैं ।

अतः उसमें किसी एक सामान्य तत्त्व को खोज पाना कठिन है। वह अनेक ऋषि-महर्षियों के द्वारा अनेक रूपों में प्रवर्तित होता रहा है उसमें यदि सामान्य तत्त्व है तो मात्र यही कि उसमें एक ईश्वर की विविध रूपों में अभिव्यक्ति को स्वीकार किया गया है। एक ईश्वर की विविध रूपों में यह अभिव्यक्ति ही अवतारवाद की अवधारणा का प्राण है[1] और विभिन्न अवतारों की कल्पना के माध्यम से हिन्दू धर्म के इन विविध रूपों को एक साथ जोड़ा जा सकता है। हमारी दृष्टि में अवतार की अवधारणा ही एक ऐसा सामान्य तत्त्व है जो हिन्दू धर्म की विविधता में अनुस्यूत एकता को प्रतिबिम्बित करता है।

हिन्दू धर्म मूलतः एक बहुदेववादी धर्म है, उसने अनेक देवताओं की कल्पना है। इन अनेक देवताओं को एक देव के अधीन करने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उनमे एकेश्वरवाद की अवधारणा विकसित हुई और एकेश्वरवाद और बहुदेववाद के बीच संगति बैठाने के लिए ही अवतार की कल्पना विकसित हुई। सर्वप्रथम यह माना गया कि विभिन्न देवता उसी एक परम देव की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनका इस संसार में अपना प्रयोजन और कार्य है। यद्यपि हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक शताब्दियों तक यह विवाद चलता रहा कि इन विविध देवों में प्रधान देव कौन है ? कभी विष्णु को, तो कभी शिव को प्रधान देव माना गया। यद्यपि आगे चलकर शिव की अपेक्षा विष्णु का प्रभाव बढ़ा और अन्य समस्त देवों को उनकी ही अभिव्यक्ति माना गया और इस प्रकार अवतारवाद की अवधारणा अस्तित्व में आई।

तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार के समरूप ही कुछ अवधारणाएँ पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में भी मिलती हैं जिनकी चर्चा आगे करेंगे।

११. पारसी धर्म और देवदूत जरथुस्त्र

ईसा से कई शताब्दी पूर्व जरथुस्त्र का आविर्भाव माना जाता है। यद्यपि इनके जन्म-समय और स्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद है।

---

१. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता ॥ —गीता १०।८
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ —वही २०

ग्रीक लोग इन्हे "नाजरित" कहते थे। "नाजरित" शब्द "नाजार" या "नाजिर" शब्द से आविर्भूत हुआ है। ईसा से पूर्व पश्चिमी एशिया मे "नाजार" नामक एक प्राचीन जाति थी जो रहस्यमय एवं चमत्कार-पूर्ण ढग से रोगियो का उपचार करती थी।[1] पौराणिक कथाओ मे जरथुस्त्र का आविर्भाव दैवी योग से माना है। कहा जाता है कि उनके गर्भ मे आने पर माता के चारो ओर आध्यात्मिक ज्योति का प्रकाश हो गया था और जन्मोपरान्त समस्त लोक आलोकित हो उठा था। अनुश्रुतियो के अनुसार बुद्ध और महावीर के जन्म के समय भी यह चमत्कार घटित हुआ था। जन्म के बाद शिशु जरथुस्त्र ने जो हास्य किया उससे समस्त शुभ सृष्टि प्रसन्न हो उठी[2], परन्तु अशुभ अपने विनाश की चिन्ता से चिन्तित हो गया।[3] प्लिनी का कहना है कि जरथुस्त्र के जन्म के पश्चात् उनके मस्तिष्क के कम्पन इतने तीव्र थे कि उसे स्थिर करने के लिए उनके सिर पर हाथ रखना पडा था।[4]

कुछ विद्वानो के अनुसार जरथुस्त्र का जन्म मिडिया के 'राद्या' नामक स्थान में हुआ था इनके पिता का नाम 'पौरुषाष्पा' और माता का नाम 'दुधदेवा' था। जरथुस्त्र को 'स्पितमा' कहा जाता है जो उनकी वंश परम्परा का नाम था। ग्रीक और लेटिन में इन्हे 'जोरोआस्टर' और इनके द्वारा प्रवर्तित धर्म को 'जोरोआस्ट्रियानिज्म' कहते हैं। जरथा शब्द का अर्थ 'पीला' और 'उश्त्र' शब्द का अर्थ 'ऊँट' होता है अर्थात् पीला ऊँट रखने

---

1 Olcott, H S , Adyar Pamphlets No 23, p 8 (Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1913
द्रष्टव्य पारसी धर्म एव सेमिटिक धर्मों में मोक्ष की धारणा, पृ० २४

2 "Hail born for us is the priest, Spitama Zarathushtra". Yt 13, 93, 94 : Dr. Dhalla's Translation
द्रष्टव्य वही

3 "He alone who forces me to quit who is Spitama Zarathushtra." Yt 17, 19, 20 Dr Dhalla's Translation
द्रष्टव्य . वही

4 "Pliny adds the vibrations of the childs brain were so fierce as to repel the hand laid upon it" Dastur and Nanavutty ; Songs of Zarathushtra, p 18,
द्रष्टव्य . वही

इस परीक्षा के बाद अशुभ निराश होकर चला जाता है। ज्ञान का पूर्ण प्रकाश प्राप्त कर जरथुस्त्र ने नवीन धर्म का प्रवर्तन किया। जरथुस्त्र को अपने जन्मस्थान के निकट दराग़ा नदी के समीप स्थित "युशीदारिना पर्वत" पर 'अवेस्ता' का ईश्वरीय प्रकाश प्राप्त हुआ था।

१२ यहूदी धर्म और पैगम्बर मोजेज

यहूदी धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व हिब्रू जाति के लोग अनेकेश्वरवाद में विश्वास किया करते थे, प्राचीन हिन्दुओं के समान ही वे पहाड़, नदी, झरना, आकाश आदि को अपनी आवश्यकता के अनुसार ईश्वर मानते थे।

कहा जाता है कि जलप्लावन के पश्चात् यहूदी मिस्र में जा बसे, बहुत दिनों तक इनका सम्बन्ध खाल्डी सभ्यता से रहा। कालान्तर में मिस्र का राजा फराओ यहूदियों से असन्तुष्ट हो गया और यहूदियों पर अत्याचार करने लगा। इस अन्याय को सहन न कर सकने के कारण यहूदियों ने मुक्ति के लिए ईश्वर को पुकारा। उनका विश्वास है कि परमेश्वर ने उनकी पुकार सुनकर कहा कि मैं अपने दूत को भेजता हूँ जो तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा।[१]

इस प्रकार परमेश्वर याहवेह् ने मोजेज को अपने प्रतिनिधि के रूप में इज़रायल के लोगों को उचित मार्गदर्शन के लिए भेजा। कहते हैं कि परमेश्वर ने होरेब नाम पर्वत के पास जलती हुई कटीली झाड़ी के बीच मोजेज को दर्शन दिया था।[२] ईश्वर ने उसके समक्ष अपना नाम प्रकाशित किया[३] तथा उपदेश दिया एवं उसे चमत्कारिक शक्ति दी।[४] इस प्रकार मोजेज ने यहूदी धर्म का प्रवर्तन ईश्वरीय आदेश के आधार पर किया और एकमात्र ईश्वर यहोवा के प्रति आस्थावान् होने को कहा। मोजेज यहूदियों को मिस्र से निकालकर लाल सागर के पूर्व की ओर ले गए। वहाँ सिनाई पर्वत पर मोजेज को याहवेह् द्वारा न्याय और कर्तव्य सम्बन्धी १० आज्ञायें प्राप्त हुई।[५] तदनुसार मोजेज ने उन आज्ञाओं का प्रचार

---

१ देखें—पारसी धर्म एवं सेमेटिक धर्मों में मोक्ष की धारणा, पृ० २५।

२ एक्सोडस ३ २६ उद्धृत–पारसी धर्म एवं सेमिटिक धर्मों में मोक्ष की धारणा, पृ० ११५

३. वही ३ १३-१४ उद्धृत–वही

४ वही ४ २-४ उद्धृत–वही

५. Ten Commandments उद्धृत–वही, पृ० ११६

किया एवं उनकी उपासना के लिए मन्दिर की निर्माण विधि को प्रस्तुत किया। मोजेज ने यह भी कहा कि मुझे ईश्वर ने धर्मस्थापना के हेतु आज्ञा दी है। अत जो ईश्वर की वाणी को मानने मे इनकार करेगा, वह दोषी ठहराया जावेगा। इस प्रकार यहूदी धर्म मे मोजेज ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप मे धर्मसस्थापना करते है। धर्मसस्थापना के रूप में ईश्वरीय प्रतिनिधि की यह अवधारणा अवतार से किञ्चित् भिन्न होकर भी बहुत कुछ समानता रखती है।

१३ ईसाई धर्म और प्रभु ईसामसीह

ईसामसीह को ईसाई धर्म का धर्मप्रवर्तक माना जाता है। ईसा का जन्म आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यहूदियो के बैतलहम नामक नगर मे हुआ था, इनकी माता का नाम मरियम था। यूसुफ ने जब मरियम से विवाह किया तो स्वर्गदूत ने उनसे स्वप्न में कहा कि "मरियम पुत्र को जन्म देगी, तू उसका नाम ईसा रखना, क्योकि वह अपने लोगो का उनके पापो से उद्धार करेगा।"[१] ईसा के जन्म के तत्काल बाद पूर्व से कई ज्योतिषी बैतलहम पहुँचे और उन्होने राजा हेरोदेस से पूछा, "यहूदियो का राजा, जिसका जन्म हुआ है, कहां है ? क्योकि हमने पूर्व में उसका तारा देखा है और हम उसको प्रणाम करने आये हैं।"[२] यह सुनकर स्वार्थी और क्रूर हेरोदेस बहुत घबरा गया और उसने सभी बच्चो को मार डालने का आदेश दिया ताकि उसका शत्रु बडा होने से पहले ही समाप्त हो जाये। यूसुफ अपने पुत्र ईसा को लेकर मिस्र चले गये।[३] हेरोदेस की मृत्यु के बाद ईसा नासरत मे बस गये। ईसाइयो का विश्वास है कि ईसा को यूहन्ना ने यरदन नदी मे बपतिस्मा दिया, बपतिस्मा के बाद ईसा ने परमेश्वर की आत्मा को कबूतर की भाँति अपने ऊपर आते

---

१ ईसामसीह की वाणी, पृ० १

२ वही, पृ० १

३ ईसा की जन्म कथा की बहुत कुछ साम्यता कृष्ण की जन्म कथा में खोजी जा सकती है—जिस प्रकार क्रूर हेरोदेस बच्चो के विनाश का आदेश देता है उसी प्रकार कस भी देवकी के सभी पुत्रो को मार देना चाहता है। जिस प्रकार यूसुफ अपने पुत्र को लेकर मिस्र चले जाते हैं वैसे ही कृष्ण को गोकुल भेज दिया जाता है।

देखा और तभी यह आकाशवाणी हुई, "यह मेरा पुत्र है, जिससे मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ।"[1] उसी समय से ईसा "ईश्वर-पुत्र" कहे जाने लगे।

ईसाई धर्म में ईसा के साधनाकालीन जीवन के सम्बन्ध मे कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नही है, किन्तु यह माना गया है कि वे बपतिस्मा देने के बाद ४० दिनो तक अदृश्य रहे और उन्हे इब्लिस (शैतान) ने अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए, किन्तु वे निर जागरुक और सतर्क थे। अत इब्लिस या शैतान उनका कुछ भी नहीं बिगाड सका। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं—तीर्थंकर महावीर और गौतम बुद्ध के साधनाकालीन जीवन के सम्बन्ध मे भी क्रमश संगमदेव और मार के द्वारा दिए गये प्रलोभनो और कष्टो का उल्लेख है। वस्तुत ऐसा लगता है कि जब मानवीय जीवन आध्यात्मिक विकास की ओर आगे बढना चाहता है तो पाशविक शक्तियाँ उसे दबोचना चाहती हैं। महावीर, बुद्ध और ईसा के जीवन के यह सघर्ष वस्तुत आध्यात्मिक सद्गुणो और पाशविक वृत्तियों के बीच के सघर्ष हैं। शैतान, संगमदेव या मार वस्तुत. मनुष्य की दुर्वासनाओ के ही प्रतीक हैं।

हमारे सामाजिक एव आध्यात्मिक जगत् मे उत्थान-पतन का क्रम चलता रहता है। अत विश्व के प्राणियो के कल्याण के लिए आदर्श पुरुष समय-समय पर जन्म लेते हैं। ईसा का जन्म भी ऐसे ही युग मे हुआ था जिस समय यहूदी जाति पतन की ओर जा रही थी। इस प्रकार सभी महापुरुष अपने युग की माग हैं, उनकी जाति का अतीत ही उनका निर्माण करता है। ईसा भी इसी के प्रतीक हैं।

महापुरुष ईसा ने कहा था कि "यह जीवन (सब)कुछ नही है, इससे भी उच्च कुछ और है।"[2] ईसा धर्म के क्षेत्र मे अत्यन्त व्यावहारिक थे। उन्हे इस नश्वर एव क्षणभगुर जगत् के ऐश्वर्य मे विश्वास नही था। वे कहते थे कि यदि हम आदर्श का अनुगमन नही कर सकते, तो कम से कम हमे अपनी दुर्बलता को अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए[3]।"

एक श्रेष्ठ धर्माचार्य के जीवन और उपदेशो की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या उसका स्वय का जीवन ही होता है। ईसा ने स्वय अपने विषय मे कहा है[4]—"लोमडियो और शृगालो के एक-एक माद होती है, नभचारी खग-

---

१ ईसामसीह की वाणी, पृ० २

२ ईशदूत ईसा, पृ० ११

३. वही, पृ० १३

कुल अपने नीड मे निवास करते है, पर मानव पुंज (ईसा) के पास अपना सिर टिकाने तक के लिए कोई स्थान नही है" । इससे हम देखते हैं कि ईसा स्वय त्यागी और वैराग्यवान् थे, इसलिए उन्होने यही शिक्षा दी कि वैराग्य और त्याग ही मुक्ति का एकमेव मार्ग है । इसके अतिरिक्त मुक्ति का कोई और पथ नही है ।

ईसा ने अपनी अद्भुत दिव्य दृष्टि से जान लिया था कि सभी नर-नारी, चाहे वे यहूदी हो या किसी अन्य जाति के हो, दरिद्र हो या धनवान्, साधु हो या पापात्मा, सभी मे उनके ही समान अविनाशी आत्मा विद्यमान है । उनके जीवन का उद्देश्य सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण है । वे कहते हैं[1]—"यह कुसस्कारमय मिथ्या भावना छोड दो कि हम दीन हैं । यह न सोचो कि तुम पर गुलामो के समान अत्याचार किया जा रहा है, तुम पैरो तले रौंदे जा रहे हो, क्योकि तुम मे एक ऐसा तत्त्व विद्यमान है, जिसे पद-दलित या पीडित नही किया जा सकता, जिसका विनाश नही हो सकता ।" तुम सब ईश्वर के पुत्र हो, अमर और अनादि हो । इस प्रकार ईसा ने अपनी वाणी से घोषणा की[2]—"दुनिया के लोगो, इस बात को भलीभाँति जान लो कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अभ्यन्तर मे अवस्थित है" । "मैं और मेरे पिता अभिन्न हैं ।"

ईसा का एक मात्र उद्देश्य समग्र जगत् को परम ज्योतिर्मय परमेश्वर के निकट पहुँचने तक अग्रसर करते रहना था । ईश्वरीय पुत्र के रूप मे ईसा ईश्वर के अंशावतार तो कहे ही जा सकते हैं ।

१४ इस्लाम धर्म और पैगम्बर

इस्लाम का शाब्दिक अर्थ "ईश्वर के प्रति प्रणति (Submission to God)" है । यह धर्म मुख्य रूप से आत्मसमर्पण की शिक्षा देता है इस्लाम धर्म अनेकेश्वरवाद एव मूर्ति पूजा का कट्टर विरोधी है । यह एकेश्वर-वाद को मानता है । इस्लाम धर्म के सस्थापक हजरत मुहम्मद साहब थे ।[3]

मुहम्मद साहब जिस समय पैदा हुये थे उस समय अरब मे नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श प्राय नष्ट हो चुके थे तथा चारो ओर पापाचार का बोलबाला था ।

यह जन विश्वास है कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म

---

१ ईशदूत ईसा, पृ० १४

२. वही, पृ० १५

३ मुहम्मद पैगम्बर की वाणी, पृ० ३

का बोलबाला होता है, तो परमात्मा की ओर से धर्म की स्थापना के लिए दैवीयशक्ति से युक्त महापुरुष का जन्म होता है।

इस अर्थ में मुहम्मद साहब को भी दैवीय शक्ति सम्पन्न पुरुष या ईश्वरीय दूत कहा जा सकता है। इस्लाम में मुहम्मद साहब को खुदा का पैगम्बर अर्थात् ईश्वर का सन्देश सुनाने वाला कहा जाता है। मुहम्मद साहब के उपदेश ही इस्लामधर्म के आधार स्तम्भ हैं।

मुहम्मद साहब का जन्म मक्का में सन् ५७० ई० में हुआ था। इनके जन्म के पूर्व ही इनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था और इनकी माता भी इन्हें ६ वर्ष का छोडकर चल बसी। इनका पालन पोषण इनके चाचा अबूतालिब ने किया था। मुहम्मद साहब के जन्म के समय अरब में धार्मिक अशान्ति की स्थिति थी। वहाँ की खानाबदोश मूल जातियाँ प्रायः मूर्तिपूजक थी, वे तारो, पत्थरों और भूत-प्रेतों की पूजा किया करती थी।[1]

मुहम्मद को अपने चाचा अबूतालिब के प्रयासों से एक धनी विधवा महिला खदीजा के यहाँ ऊँटवान की नौकरी मिल गई। व्यापार के सिलसिले में वे सीरिया भी गए। उनकी कार्य कुशलता से प्रसन्न होकर खदीजा ने उनसे विवाह कर लिया।

चालीस वर्ष की अवस्था में मुहम्मद को मक्का की पहाडी गुफा में पहली बार ईश्वरानुभूति हुई और उन्होंने महसूस किया कि मेरे जन्म का उद्देश्य लोगो को नैतिक पतन से ऊपर उठाना एव अन्धविश्वास से मुक्त कराना है।[2] उन्होंने घोषणा की कि 'अल्लाह ने मानव जाति के कल्याण के लिए मुझे रसूल (दूत) बनाकर भेजा है।'[3] उन्होंने अपने सम्बन्धियो एव एक ईमानदार दोस्त अबूबक्र को अपनी ईश्वरानुभूति के बारे में बताया। वे बहुत दिनो तक अपनी नुबूवत (दिव्यानुभूति) में निमग्न रहे। उनके मित्रों एव उनकी पत्नी ने उनका हौसला बढाया कि उन्हें इस महान् कार्य को सम्पन्न करना है। उन्होंने मूर्तिपूजा की कडी आलोचना की, इस पर उन्हें मक्कावासियों के आरोपो एव अपमान को सहना पडा। फिर भी उन्होने अपना प्रचार कार्य बन्द नही किया। उनके चाचा ने जब उन्हे मना किया, तो मुहम्मद ने कहा—'भले ही लोग मेरे दाहिने हाथ में सूरज और बाएँ हाथ में चाँद को रख दे ताकि मैं अपना काम

---

१ मुहम्मद पैगम्बर की वाणी, पृ० २

२ वही, पृ० ३

३ वही, पृ० ४

छोड दूँ, फिर भी मैं तव तक नही रुकूँगा, जव तक मैं ऐसा करते हुए मर नही जाता हूँ।'[1]

धीरे-धीरे लोगो ने इस्लाम को ग्रहण किया। मक्का मे विरोध के कारण उन्होने मदीने की यात्रा (हिजरत) की और वहाँ अनेक लोगो को इस्लाम मे दीक्षित किया। इसी घटना से मुसलमानी सन् या हिजरी सन् की शुरुआत हुई।

धीरे-धीरे मुहम्मद के अनुयायियो की सख्या वढने लगी। अन्त में उन्होने मक्का पर विजय प्राप्त की। खैवर मे एक यहूदी स्त्री द्वारा विष दिये जाने से उनकी मृत्यु हो गई। उनके अन्तिम शब्द थे[2]—"प्रत्येक मनुष्य को अपनी मुक्ति के लिए साधना करनी चाहिये।" इस प्रकार हजरत मुहम्मद साहव ने अल्लाह के द्वारा प्राप्त उपदेशो को मानव मात्र के कल्याण के लिए कहा। इस्लाम मे सयम, आज्ञापालन एव प्रार्थना पर जोर दिया गया है।

इस्लाम धर्म की एक पुस्तक 'हदीस', जिसमे पैगम्वर मुहम्मद साहव के वचन हैं, कहा गया है कि विश्व मे मानव कल्याण को लेकर अव तक लगभग १ लाख २४ हजार पैगम्वर हो चुके हैं। किन्तु इनका विस्तृत विवरण कही भी उपलव्ध नही है। इस्लाम धर्म के धर्मग्रन्थ 'कुर्आन शरीफ' के विभिन्न पारो मे मुहम्मद साहव के पूर्व २२ पैगम्वरो के नाम मिलते हैं। जिन्हे एक तालिका द्वारा परिशिष्ट मे दर्शाया गया है।[3]

वस्तुत हिन्दू, जैन, वौद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लाम सभी धर्मों मे यह माना गया है कि मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए और परमात्मा से जुडने के लिए, मार्गदर्शक के रूप मे एक महान् व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। राम, कृष्ण, वुद्ध, महावीर, ईसा और मुहम्मद सभी ऐसे महान् व्यक्तित्व हैं जो जन कल्याण के लिए समय समय पर प्रकट होते है। जैन और वौद्ध धर्म ईश्वर की अवधारणा मे विश्वास नही करते है, परन्तु वे भी इतना तो अवश्य मानते हैं कि मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए समय समय पर कुछ महान् व्यक्तित्वो का जन्म होता रहता है। जैन, वौद्ध आदि श्रमण परम्पराए यह मानती हैं कि कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते है, जो अपनी आध्यात्मिक विशुद्धि और नैतिक साधना के माध्यम से

---

१. मुहम्मद पैगम्वर की वाणी पृ० ४

२ वही, पृ० ५

३. देखें—परिशिष्ट—'क'

वह योग्यता अर्जित कर लेते हैं, जिसके द्वारा वे संसार के प्राणियो का मार्गदर्शन कर सकें। जबकि ईश्वरवादी धर्म यह मानकर चलते हैं कि दैवीशक्ति मानवीय कल्याण के लिए अपने आपको प्रकट करती है और मनुष्य का मार्गदर्शन करती है। चाहे कोई ईश्वरवादी धर्म हो या अनीश्वरवादी, किन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि मानव समाज को अध्यात्म और नैतिकता के क्षेत्र में मार्गदर्शन के लिए समय समय पर महान् व्यक्तित्वो की अपेक्षा होती है और वे महान व्यक्तित्व जन साधारण की इस अपेक्षा की पूर्ति करके ससार मे धर्म मार्ग की सस्थापना करते हैं।

•

द्वितीय अध्याय

तीर्थंकर की अवधारणा

१ जैनधर्म मे तीर्थंकर का स्थान

जैनधर्म मे तीर्थंकर को धर्मतीर्थ का सस्थापक कहा गया है। "नमोन्थुण" नामक प्राचीन प्राकृत स्तोत्र मे तीर्थंकर को धर्म की आदि करने वाला, धर्मतोथ की स्थापना करने वाला, धर्म का प्रदाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता, धर्म मार्ग का सारथी और धर्म चक्रवर्ती कहा गया है।[1] जैनाचार्यो ने एकमत से यह माना है कि समय-समय पर धर्मचक्र प्रवर्तन हेतु तोर्थकरो का जन्म होता रहता है। जैन धर्म का तीर्थंकर गीता के अवतार के समान धर्म का सस्थापक तो है किन्तु दुष्टो का दमन एव सज्जनो की रक्षा करने वाला नही है। जैन धर्म मे तीर्थंकर लोककल्याण के लिए मात्र धर्ममार्ग का प्रवर्तन करत है, किन्तु अपनी वीतरागता, कर्म सिद्धान्त का सर्वोपरिता एव अहिंसक साधना को प्रमुखता के कारण हिन्दू धर्म के अवतार को भाँति वे अपने भक्तो के कष्टो को दूर करने हेतु दुष्टो का दमन नही करते है।

जैनधर्म मे तीर्थङ्कर का कार्य है—स्वयं सत्य का साक्षात्कार करना और लोकमंगल के लिए उस सत्यमार्ग या सम्यक् मार्ग का प्रवर्तन करना है। वे धर्म-मार्ग के उपदेष्टा और धर्म-मार्ग पर चलने वालो के मार्गदशक है। उनके जीवन का लक्ष्य होता है स्वय को ससार चक्र से मुक्त करना, आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करना और दूसरे प्राणियो को भी इस मुक्ति और आध्यात्मिक पूर्णता के लिए प्रेरित करना और उनकी साधना मे सहयोग प्रदान करना। तीर्थंकर को ससार समुद्र से पार होने वाला और दूसरो को पार कराने वाला कहा गया है।[1] वे पुरुषोत्तम हैं। उन्हे सिंह के समान शूरवीर, पुण्डरोक कमल के समान वरेण्य और गन्धहस्ती के समान श्रेष्ठ माना गया है। वे लोक मे उत्तम, लोक के नाथ,

---

१ नमोत्थुण अरिहताण भगवताण आइगराण, तित्थगराण, मय सबुद्धाण धम्मदयाण, धम्मदेसयाण, धम्मनायगाण, धम्मसारहीण, धम्मवर-चाउरत-चक्कवट्टीण जिणाण जावयाण, तिन्नाण तारयाण, बुद्धाण बोहयाण मुत्ताण मोयगाण। —कल्पसूत्र १६ (प्राकृत भारती जयपुर)

लोक के हितकर्ता, दीपक के समान लोक को प्रकाशित करने वाले कहे गये हैं।[1]

२. तीर्थंकर शब्द का अर्थ और इतिहास

धर्म प्रवर्तक के लिए जैन परम्परा मे सामान्यतया अरहत, जिन तीर्थंकर—इन शब्दो का प्रयोग होता रहा है। जैन परम्परा मे तीर्थंकर शब्द कब अस्तित्व मे आया यह कहना तो कठिन है, किन्तु नि सन्देह यह ऐतिहासिक काल मे प्रचलित था। बौद्ध साहित्य मे अनेक स्थानो पर "तीर्थंकर" शब्द प्रयुक्त हुआ है, दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त मे छ अन्य तीर्थंकरो का उल्लेख मिलता है।[2] जैनागमो मे उत्तराध्ययन, आचाराग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, स्थानाग, समवायाग और भगवती मे तीर्थंकर शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

सस्कृत मे तीर्थ शब्द घाट या नदी के तीर का सूचक है। वस्तुत जो किनारे से लगाये वह तीर्थ है। धार्मिक जगत् मे भवसागर से किनारे लगाने वाला या पार कराने वाला तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ शब्द का एक अर्थ धर्मशासन है। इसी आधार पर ससार समुद्र से पार कराने वाले एव धर्मतीर्थ (धर्मशासन) की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं।

भगवतीसूत्र एव स्थानाग मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह धर्मों के पालन करने वाले साधको के चार प्रकार बताये गए हैं

---

१ पुरिसुत्तमाण, पुरिससीहाण पुरिसवरपुडरीयाण पुरिसवर-गधहत्थीण। लोगुत्तमाण, लोगनाहाण, लोगहियाण, लोक-पईवाण, लोग-पज्जोयगराण। —कल्पसूत्र १६

२ दीघनिकाय, पृ० १७-१८ (हिन्दी अनुवाद) में छ तीर्थंकरो का उल्लेख मिलता है—१. पूर्ण काश्यप, २ मक्खलि गोशाल, ३ अजितकेश कम्बल, ४ प्रवुद्ध कात्यायन, ५ सजयबेलट्ठिपुत्त, ६ निगण्ठ नातपुत्त।

३ (अ) उत्तराध्ययन २३/१,२३/४
(ब) आचाराग द्वितीयश्रुतस्कन्ध—१५/११,१५/२६/६
(स) स्थानाग—९/६२/१, १/२४९—५०, २/४३८-४४५ ३/५३५, ५/२३४,
(द) समवायाग—१/२, १९/५, २३/३—४, २५।१, ३४/४, ५४।१
(इ) भगवती—९।१४५

—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। इन चतुर्विध सघ को भी तीर्थ कहा जाता है तथा इस चतुर्विध सघ के सस्थापक को तीर्थंकर कहते हैं।[1] वैसे जैन साहित्य मे तीर्थंकर का पर्यायवाची प्राचीन शब्द "अरहत" (अर्हत्) है। प्राचीनतम जैनागम आचाराग मे इसी शब्द का प्रयोग हुआ है।

विशेषावश्यकभाष्य मे तीर्थ की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि "जिसके द्वारा पार हुआ जाता है, उसको तीर्थ कहते हैं।" इस आधार पर जिन-प्रवचन को तथा ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न सघ को भी तीर्थ कहा गया है। पुन तीर्थ के ४ विभाग किये गये हैं—

१ नाम तीर्थ
२ स्थापना तीर्थ
३ द्रव्य तीर्थ
४ भाव तीर्थ।

तीर्थ नाम से सम्बोधित किये जाने वाले स्थान आदि नाम तीर्थ कहे जाते हैं। जिन स्थानो पर भव्य आत्माओ का जन्म, मुक्ति आदि होती है और उनकी स्मृति मे मन्दिर, प्रतिमा आदि स्थापित किये जाते हैं वे स्थापना तीर्थ कहलाते हैं। जल मे डूबते हुए व्यक्ति को पार कराने वाले, मनुष्य की पिपासा को शान्त करने वाले और मनुष्य शरीर के मल को दूर करने वाले द्रव्य तीर्थ कहलाते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य के क्रोध आदि मानसिक विकार दूर होते है तथा व्यक्ति भवसागर से पार होता है, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन भावतीर्थ कहा जाता है। भावतीर्थ पूर्व सचित कर्मो को दूर कर तप, सयम आदि के द्वारा आत्मा की शुद्धि करने वाला होता है। तीर्थंकरो के द्वारा स्थापित चतुर्विध सघ भी ससाररूपी समुद्र से पार कराने वाला होने से भावतीर्थ कहा जाता है। इस भावतीर्थ के सस्थापक ही तीर्थंकर कहे जाते हैं।[2]

तीर्थंकर शब्द का उल्लेख स्थानाग, समवायाग, भगवती, ज्ञाताधर्म-

---

१ "तित्थ पुण चाउवन्ने समणसघे—
समणा, समणीओ, सावया सावियाओ।"
—भगवतीसूत्र, शतक २० उ० ८ सूत्र ७४

२ "तित्थति पुव्वभणिय सघो जो नाणचरणसघाओ।
इह पवयण पि तित्थ, तत्तोऽणत्थतर जेण॥
—विशेषावश्यकभाष्य, । ११८०

कथा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र मे उपलब्ध होता है, किन्तु कालक्रम की दृष्टि से ये सभी आगम परवर्ती माने गये हैं। प्राचीन स्तर के आगमो मे आचाराग I, सूत्रकृताग I, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और ऋषिभाषित आते हैं किन्तु इन आगम ग्रन्थो मे केवल उत्तराध्ययन मे ही 'तित्थयर' शब्द मिलता है। अन्य किसी भी प्राचीन स्तर के ग्रन्थ मे यह शब्द उपलब्ध नही है। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध, सूत्रकृताग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन मे अरहन्त शब्द का प्रयोग ही अधिक हुआ है। तीर्थंकर की अवधारणा का विकास मुख्य रूप मे अरहन्त की अवधारणा से हुआ है। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे भूतकाल और भविष्यकाल के अर्हन्तो की अवधारणा मिलती है[1]। किन्तु इससे यह स्पष्ट नही होता है कि भूतकाल मे कौन अर्हन्त हो चुके हैं और वर्तमान मे कौन अर्हन्त हैं और भविष्यकाल के कौन अर्हन्त होगे। फिर भी इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि उस युग मे यह विचार दृढ हो गया था कि भूतकाल मे कुछ अर्हत् हो चुके हैं, वर्तमान मे कुछ अर्हत् हैं और भविष्यकाल मे कुछ अर्हत् होगे। सम्भवतः यही वर्तमान, भूत और भावी तीर्थंकरो की अवधारणा के विकास का आधार रहा होगा। सूत्रकृताग मे भी हमे 'अरह' शब्द मिलता है। तीर्थंकर शब्द नही मिलता। प्राचीन ग्रथो मे सबसे पहले हमें उत्तराध्ययन मे 'तित्थयर' शब्द मिलता है। इसके २३ वें अध्याय में अर्हत् पार्श्व और भगवान् वर्धमान को धर्म तीर्थंकर (धम्म तित्थयरे[1]) यह विशेषण दिया गया है। उत्तराध्ययन के इसी २३ वें अध्याय की २६वी एव २७वी गाथा में कहा गया है कि पहले (तीर्थंकर) के साधु ऋजु जड अर्थात् सरल चित्त और मूर्ख (जड) होते हैं और अन्तिम (तीर्थंकर) के वक्र जड होते हैं जबकि मध्यम के ऋजु और प्राज्ञ होते है[2]। इस गाथा से ऐसा लगता है कि उत्तराध्ययन के २३वें अध्याय के रचना काल तक तीर्थंकर की अवधारणा बन चुकी होगी। इस गाथा से इतना अवश्य फलित होता है कि उस युग तक महावीर को अन्तिम तथा पार्श्व को उनका पूर्ववर्ती तीर्थंकर और ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर माना जाने लगा होगा। वैसे तीर्थंकर की विकसित अवधारणा हमे मात्र समवायाग और भगवती मे ही मिलती है। समवायाग मे भी यह सारी चर्चा उसके अन्त में जोडी गई है। इसने

---

१ आचाराग १।४।१।१

२ पुरिमा उज्जुजडा उ, वकजडा या पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना य, तेण धम्मे दुहा कए॥ —उत्तराध्ययन २३।२६

इसकी परिवर्तिता निश्चित रूप से सिद्ध होती है। नन्दी मे समवायाग की विषयवस्तु की चर्चा मे प्रकीर्णक समवाय का उल्लेख ही नही है। सम्भवत: आचाराग के प्रथम श्रुतस्कध की रचनाकाल तक न तो तीर्थंकरो की २४ की सख्या निश्चित हुई और न यह निश्चित हुआ था कि ये तीर्थंकर कौन-कौन हैं। स्थानाग मे ऋषभ, पार्श्व और वर्धमान के अतिरिक्त वारिषेण का उल्लेख हुआ है[1] किन्तु वर्तमान मे २४ तीर्थंकरो की अवधारणा मे वारिसेन का उल्लेख नही मिलता है। सम्भावना है कि आगे वारिषेण के स्थान पर अरिष्टनेमि को समाहित किया गया होगा। क्योकि मथुरा मे जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमे ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर का उल्लेख है। पार्श्व और महावीर की ऐतिहासिकता तो सुनिश्चित ही है। अरिष्टनेमि और ऋषभ की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी कुछ आधार मिल सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र मे अरिष्टनेमि को भगवान, लोकनाथ और दमीश्वर की उपाधि दी गई है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा के साहित्य मे जिन आगमिक ग्रन्थो को द्वितीय स्तर का माना गया है, उनमे ही तीर्थंकर की अवधारणा का विकसित रूप देखा जाता है। साहित्यिक एव पुरातात्त्विक आधारो से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी मे २४ तीर्थंकरो की अवधारणा सुनिश्चित हो गई थी।

३ तीर्थंकर की अवधारणा

पूर्वकाल में तीर्थंकर का जीव भी हमारी तरह ही क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय-सुख आदि जागतिक प्रलोभनो मे फँसा हुआ था। पूर्व जन्मो में महापुरुषो के सत्सग से उसके ज्ञान-नेत्र खुलते हैं वह साधना के क्षेत्र मे प्रगति करता है और तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन कर तीर्थंकर बनने की योग्यता प्राप्त कर लेता है[3]। अन्तिम जीवन (भव) मे स्वय सत्य का अनावरण कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। जैन धर्म में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई भी भव्य जीव तप और साधना के द्वारा तीर्थंकर

---

१ स्थानाग ४।३३९

२ भगव अरिट्ठनेमि ति लोगनाहे दमीसरे।

—उत्तराध्ययन २२।४

३ 'इमेहि य' ण वीसाए ण कारणेहि आसेविय—बहुलीकएहि तित्थयरनामगोयं कम्म निव्वत्तिसु, त जहा—।

—ज्ञाताधर्मकथा ८।१८

नामकर्म का उपार्जन कर सकता है और जिस भव (जन्म) मे तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करता है उसके तृतीय भव मे वह नियमत तीर्थंकर बनता है[1]। जैन मान्यता के अनुसार पूर्व भव मे तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने वाली आत्मा जब वर्तमान भव मे साधना के माध्यम से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अतराय कर्म नष्ट करके केवल-ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करती है और साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप धर्मतीर्थ की स्थापना करती है, तब वह वस्तुत तीर्थंकर कहलाती है।

तीर्थंकर की अवधारणा वैदिक अवतारवाद की अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है। हिन्दू धर्म मे ईश्वर मानव के रूप मे अवतरित होता है या जन्म लेता है। हिन्दू धर्म के दृष्टिकोण मे ईश्वर मानव रूप ग्रहण कर सकता है किन्तु मानव ईश्वर नही बन सकता, क्योकि वह तो उसका अश या सेवक माना गया है। जबकि जैनधर्म के अनुसार कोई भी आत्मा अपनी आध्यात्मिक ऊँचाई पर चढते हुए तीर्थंकर पद को प्राप्त कर सकती है। एक आत्मा एक ही बार तीर्थंकर पदको प्राप्त करती है और फिर मुक्त हो जाती है। तीर्थंकर बन जाने के पश्चात् वह दूसरा जन्म ग्रहण नही करती। जैनो के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर एक स्वतन्त्र आत्मा होता है। जीवात्मा तीर्थंकर बनता है, किन्तु तीर्थंकर पुन जीवात्मा नही बनता। वह सिद्धावस्था प्राप्त करने पर पुन संसार मे नही लौटता है।

तीर्थंकर की अवधारणा उत्तरण की अवधारणा है। उत्तरण मे मानव तप एव साधना के द्वारा अपनी राग-द्वेष एव मिथ्यात्व अवस्था से ऊपर उठकर वीतराग अवस्था को प्राप्त करता है और अन्त मे कर्मों से पूर्णतया मुक्त होकर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है। सिद्ध अवस्था प्राप्ति के बाद जीव पुन ससार मे नही आता। इस प्रकार उत्तारवाद मे मानव अपने विकारी जीवन से ऊपर उठकर परमात्मतत्त्व को प्राप्त करता है।

अत जैनो मे तीर्थंकर की जो अवधारणा है वह उत्तारवाद की अवधारणा है, अवतारवाद की अवधारणा नही है। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति एक विकास-प्रक्रिया का परिणाम है, वह अवतरण नही है।

४ तीर्थंकर और अरिहंत

यद्यपि प्राचीन आगमो मे अरिहत और तीर्थंकर पर्यायवाची रहे हैं,

---

१ पारद्धतित्थयरनामबधभवाओ तदियभवये तित्थयरसतकम्मियजीवाण मोक्खगमणणियमादो।

धवला ८।३, ३८।७५।१

परन्तु परवर्ती जैन विद्वानो ने उनमे अन्तर किया है। उन्होंने शरीर सहित मुक्त अवस्था के दो भेद किये हैं। "वे अरिहृत जिनके विशेष पुण्य के कारण कल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं, तीर्थंकर कहलाते हैं। शेष सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व से युक्त होने के कारण इन्हें केवली भी कहते हैं।"[1]

उपाध्याय अमरमुनिजी तीर्थंकर और अर्हत् का भेद स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'अनेक लोकोपकारी सिद्धियो के स्वामी तीर्थंकर होते हैं, जबकि दूसरे मुक्त होने वाले आत्मा ऐसे नहीं होते अर्थात् न तो वे तीर्थंकर जैसे महान् धर्म प्रचारक ही होते हैं और न इतनी अलौकिक योग-सिद्धियो के स्वामी ही। साधारण मुक्त जीव अपना आत्मिक विकास का लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एव अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभुत्व नहीं जमा पाते। यही एक विशेषता है जो तीर्थंकर और अन्य मुक्त-आत्माओ में भेद करती है।'[2]

अस्तु अर्हत् (सामान्य केवली) और तीर्थंकरो में अन्तर केवल इतना ही है कि अर्हत् स्वय अपनी मुक्ति की कामना करते हैं और तीर्थंकर ससार-सागर से स्वय पार होने के साथ-साथ दूसरो को भी पार कराते हैं। इसी विशेष गुण के कारण वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

५. तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली का अन्तर

तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों के इस द्विविध वर्गीकरण के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ योगबिन्दु में स्वहित और लोक-हित के आदर्शों के आधार पर एक त्रिविध वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—

तीर्थंकर—जो करुणा से युक्त है और सदैव परार्थ को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है, सत्त्वो के कल्याण की कामना ही जिसका एकमात्र कर्तव्य है, जो अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने के पश्चात् ही सत्त्वहित के लिए धर्म-तीर्थ की स्थापना करता है, तीर्थंकर कहलाता है।[3]

---

१ जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग १, पृ० १४०, भाग २, पृ० १५७

२ जैनत्व की झाकी, (उपाध्याय अमरमुनिजी) पृ० ५२

३ करुणादिगुणोपेत', परार्थव्यसनी सदा।
तथैव चेष्टते धीमान्, वर्धमान् महोदयः।
तत्तत्कल्याणयोगेन, कुर्वन्सत्त्वार्थमेव स.।
तीर्थकृत्वमवाप्नोति, पर सत्त्वार्थसाधनम्॥
—योगबिन्दु २८७-२८८

गणधर—वे साधक जो सहवर्गीय हित के संकल्प को लेकर साधना के क्षेत्र मे कार्य करते हैं और अपने सहवर्गीय-हित और कल्याण के लिए प्रयत्नशील होते हैं गणधर कहे जाते हैं। समूहहित या गणकल्याण ही उनके (गणधर के) जीवन का आदर्श होता है।[1]

सामान्य केवली—जो साधक आत्म-कल्याण को ही अपना लक्ष्य बनाता है और इसी आधार पर साधना करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करता है, वह सामान्य केवली कहा जाता है। जैनो की पारिभाषिक शब्दावली मे उसे मुण्डकेवली भी कहते हैं।[2]

यद्यपि आध्यात्मिक पूर्णता और सर्वज्ञता की दृष्टि से तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली समान ही होते हैं, किन्तु लोकहित के उद्देश्य को लेकर इन तीनों में भिन्नता होता है। तीर्थंकर लोकहित के महान् उद्देश्य मे प्रेरित होता है जबकि गणधर का परहित क्षेत्र सीमित होता है और सामान्य केवली का उद्देश्य तो मात्र आत्मकल्याण होता है।

६ सामान्य-केवली और प्रत्येकबुद्ध

कैवल्य को प्राप्त करने की विधि की भिन्नता के आधार पर सामान्य-केवली वर्ग के भी दो विभाग किये गये हैं—

१ प्रत्येकबुद्ध
२ बुद्धबोधित

प्रत्येकबुद्ध—जैनागमो मे समवायाग[3] मे प्रत्येकबुद्ध शब्द का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययन मे वर्णित करकण्डू, दुर्मुख, नमि और नग्गति

---

१ चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगत तु य ।
तथानुष्ठानव सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ॥

—योगबिन्दु, २८९

२ संविग्नो भव निर्वेदादात्मनि सरण तु य ।
आत्मार्थं सम्प्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥

—वही, २९०

३ पण्हावागरणदसासु णं ससमय परसमय पण्णवय-पत्तेयबुद्ध ।
—समवायांग, (स० मधुकरमुनि) ५४७

को प्रत्येकबुद्ध कहा गया है।[1] इसी प्रकार इसिभासियाइ के निम्न ४५ ऋषियो को भी प्रत्येकबुद्ध कहा गया है[2]—

१–देवनारद, २–वज्जियपुत्त, ३–असित देवल, ४–अगिरस भारद्वाज, ५–पुप्फसालपुत्त, ६–वागलचीरी, ७–कुम्मापुत्त, ८–केतलीपुत्त, ९–महाकासव, १०–तेत्तलिपुत्त, ११–मखलीपुत्त, १२–जण्णवक्क, (याज्ञवल्क्य) १३–भयाली मेतेज्ज, १४–बाहुक, १५–मधुरायण, १६–सोरियायण, १७–विदुर, १८–वरिसव कण्हृ (वारिषेणकृष्ण), १९–आरियायण, २०–उक्कल, २१–गाहावतिपुत्त तरुण, २२–दगभाल, २३–रामपुत्त, २४–हरिगिरि, २५–अबड, २६–मातग, २७–वारत्तए, २८–अद्दएण, २९–वद्धमाण, ३०–वायु, ३१–पास, ३२–पिग, ३३–महासालपुत्तअरुण, ३४–इसिगिरिमाहण, ३५–अद्दालअ, ३६–तारायण, ३७–सिरिगिरिमाहणपरिव्वाय, ३८–सातिपुत्तबुद्ध, ३९–सजए, ४०–दीवायण, ४१–इदनाग, ४२–सोम, ४३–जम, ४४–वरुण, ४५–वेसमण।

जैन परम्परा के अनुसार वे साधक जो कैवल्य या वीतराग दशा की उपलब्धि के लिए न तो अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा रखते है और न सघीय जीवन मे रहकर साधना करते है वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते है। प्रत्येकबुद्ध किसी निमित्त को पाकर स्वय ही बोध को प्राप्त होता है तथा अकेला ही प्रव्रजित होकर साधना करता है। वीतराग अवस्था और

---

१ उत्तराध्ययन चूर्णी १८।६

२ पत्तेय बुद्धमिसिणो वीस तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्य य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स॥ १॥
णारद–वज्जिय–पुत्ते असिते अगरिसि–पुप्फसाले य।
वक्कलकुम्मा केवलि कासव तह तेतलिसुत्ते य॥ २॥
मखली जण्णभयालि वाहुय महु सोरियाण विदूविपू।
वरिसकण्हे आरिय उक्कलवादी य तरुणे य॥ ३॥
गद्दभ रामे य तहा हरिगिरि अम्बड मयग वारत्ता।
तसो य अद्द य वद्धमाणे वा तीस तीमे॥ ४॥
पासे पिंगे अरुणे इसिगिरि अद्दालए य वित्तेय।
सिरिगिरि सातियपुत्ते सजय दीवायणे चेव॥ ५॥
तत्तो य इदणागे सोम यमे चेव होइ वरुणे य।
वेसमणे य महप्पा चत्ता पचेव अक्खाए॥ ६॥
—इसिभासियाइ सगहिणी गाथा परिशिष्ट १, पृ० २९७

कैवल्य प्राप्त करके भी एकाकी ही रहता है। ऐसा एकाकी आत्मनिष्ठ साधक प्रत्येकबुद्ध कहा जाता है। प्रत्येकबुद्ध और तीर्थंकर दोनो को ही अपने अन्तिम भव मे किसी अन्य से बोध प्राप्त करने की आवश्यकता नही होती, वे स्वय ही सम्बुद्ध होते हैं। यद्यपि जैनाचार्यों के अनुसार जहाँ तीर्थंकर को बोध हेतु किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नही होती है वहाँ प्रत्येकबुद्ध को बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। यद्यपि जैन कथा साहित्य मे ऐसे भी उल्लेख हैं जहाँ तीर्थङ्करो को भी बाह्य निमित्त से प्रेरित होकर विरक्त होते दिखाया गया है, यथा—ऋषभ का नीलाञ्जना नामक नृतकी की मृत्यु से विरक्त होना। प्रत्येकबुद्ध किसी भी सामान्य घटना से बोध को प्राप्त कर प्रव्रजित हो जाता है। जैन परम्परा मे उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित मे प्रत्येकबुद्धो के उपदेश सकलित हैं, किन्तु इन ग्रन्थो मे प्रत्येकबुद्ध शब्द नही मिलता है। प्रत्येकबुद्ध शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख स्थानाग, समवायाग और भगवती मे मिलता है। यद्यपि यह तीनो ही आगम ग्रन्थ परवर्ती काल के ही माने जाते हैं। ऐसा लगता है कि जैन और बौद्ध परम्पराओ मे प्रत्येकबुद्धो की अवधारणा का विकास परवर्ती काल मे ही हुआ है। वस्तुत उन विचारको और आध्यात्मिक साधको को जो इन परम्पराओ से सीधे रूप से जुडे हुए नही थे किन्तु उन्हें स्वीकार कर लिया गया था, प्रत्येकबुद्ध कहा गया।

बुद्धबोधित—बुद्धबोधित वे साधक हैं, जो अपने अन्तिम जन्म मे भी किसी अन्य से उपदेश या बोध को प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं और साधना करते हैं, बुद्धबोधित कहे जाते हैं। सामान्य साधक बुद्धबोधित होते हैं।

जैनधर्म मे तीर्थंकर को गणधर, प्रत्येकबुद्ध और सामान्यकेवली से पृथक् करके एक अलौकिक पुरुष के रूप मे ही स्वीकार किया गया है और उसकी अनेक विशेषताओ का उल्लेख किया गया है। तीर्थङ्कर की इन अलौकिकताओ मे पचकल्याणक, चौंतीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय आदि महत्त्वपूर्ण हैं, हम अगले पृष्ठो मे क्रमश इनकी चर्चा करेंगे।

७ तीर्थंकर की अलौकिकता

जैनपरम्परा मे यद्यपि तीर्थंकर को एक मानवीय व्यक्तित्व के रूप मे ही स्वीकार किया गया, फिर भी उनके जीवन के साथ क्रमश. अलौकिकताओ को जोडा जाता रहा है। जैनपरम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे तीर्थंकर महावीर के जीवनवृत्त के

सम्बन्ध मे कुछ उल्लेख मिलता है, किन्तु उसमें उन्हे एक उग्र तपस्वी के रूप मे प्रस्तुत किया गया है और उनके जीवन के साथ किसी अलौकिकता को नही जोडा गया, किन्तु उसी ग्रन्थ के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे और कल्पसूत्र मे महावीर के जीवन के साथ अनेक अलौकिकताएँ जोडी गई हैं। तीर्थंकर की माता उनकी गर्भविक्रान्ति के समय श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार १४ और दिगम्बर परम्परा के अनुसार १६ शुभ स्वप्न देखती है। आचाराग मे तीर्थंकर के गर्भ-कल्याणक का उल्लेख मिलता है, फिर भी वह किस प्रकार मनाया जाता है इसका विशेष विवरण तो टीकाग्रन्थो एव परवर्तीसाहित्य मे ही उपलब्ध होता है। यह भी मान्यता है कि तीर्थंकर माता को जिस योनि मे विकसित होते हैं वह योनि अशुभ पदार्थों से रहित होती है। वे अशुचि से रहित निर्मल रूप से ही जन्म लेते हैं तथा देवता उनका जन्मोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय परिवेश शान्त रहता है, सुगन्धित वायु बहने लगती है, पक्षीगण कलरव करते हैं, उनके जन्म के साथ ही समस्त लोक मे एक प्रकाश व्याप्त हो जाता है आदि। यह भी मान्यता है कि तीर्थंकरो के दीक्षा महोत्सव और कैवल्य महोत्सव का सम्पादन भी देवता करते हैं। उनके दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व देवता अपार धनराशि उनके कोषागार मे डाल देते हैं और वे प्रतिदिन एक करोड बावन लाख स्वर्ण मुद्राओ का दान करते हैं। सर्वज्ञता की प्राप्ति के पश्चात् देवता उनके लिए एक विशिष्ट समवसरण (धर्मसभा-स्थल) बनाते हैं, जिसमे बैठकर वे लोक-कल्याण हेतु धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अति प्राचीन जैन ग्रन्थो यथा—आचाराग के प्रथम श्रुत स्कन्ध मे महावीर के जीवन के सम्बध मे किन्ही अलौकिकताओ की चर्चा नही है। सूत्रकृताग की वीर-स्तुति मे भी मात्र उनकी कुछ विशेषताओ का चित्रण है[1] किन्तु उन्हे अलौकिक नही बनाया गया है। किन्तु आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध[2] मे और कल्पसूत्र[3] मे महावीर एव कुछ अन्य तीर्थंकरो के जन्मकल्याणक आदि की कुछ अलौकिकताओ के सम्बन्ध मे सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। फिर परवर्ती आगम साहित्य तथा कथा साहित्य मे तो तीर्थंकर को पूर्णतया लोकोत्तर व्यक्ति बना दिया गया है, जिसको हम क्रमश चर्चा करेंगे।

---

१ सूत्रकृताग १।६

२. देखें—आचाराग द्वितीय श्रुत स्कन्ध अध्ययन १५ में वर्णित महावीर चरित्र

३. देखें—कल्पसूत्र में वर्णित महावीर चरित्र

(अ) तीर्थंकरो के पंचकल्याणक

तीर्थंकर और सामान्यकेवली मे जैनपरम्परा जिस आधार पर अन्तर करती है, वह पंचकल्याणक की अवधारणा है। जहाँ तीर्थंकर के पच-कल्याणक महोत्सव होते है वहाँ सामान्यकेवली के पचकल्याणक महोत्सव नही होते[1]। तीर्थंकरो के पचकल्याणक निम्न हैं—

१ गर्भकल्याणक—तीर्थंकर जब भी माता के गर्भ मे अवतरित होते हैं तब श्वेताम्बर परपरा के अनुसार माता १४ और दिगम्बर परंपरा के अनुसार १६ स्वप्न देखती है तथा देवता और मनुष्य मिलकर उनके गर्भा-वतरण का महोत्सव मनाते है।[2]

२ जन्मकल्याणक—जैन मान्यतानुसार जब तीर्थंकर का जन्म होता है, तब स्वर्ग के देव और इन्द्र पृथ्वी पर आकर तीर्थंकर का जन्म-कल्याणक महोत्सव मनाते हैं और मेरु पर्वत पर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक करते हैं।[3]

३ दीक्षाकल्याणक—तीर्थंकर के दीक्षाकाल के उपस्थित होने के पूर्व लोकान्तिक देव उनसे प्रव्रज्या लेने की प्रार्थना करते है। वे एक वर्ष तक करोडो स्वर्ण मुद्राओ का दान करते हैं। दीक्षा तिथि के दिन देवेन्द्र अपने देवमंडल के साथ आकर उनका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाते हैं। वे विशेष पालकी मे आरूढ़ होकर वनखण्ड की ओर जाते हैं जहाँ अपने वस्त्राभूषण का त्यागकर तथा पचमुष्ठिलोच कर दीक्षित हो जाते हैं। नियम यह है कि तीर्थंकर स्वय ही दीक्षित होता है किसी गुरु के समीप नही।[4]

४ कैवल्यकल्याणक—तीर्थंकर जब अपनी साधना द्वारा कैवल्य ज्ञान प्राप्त करते हैं उस समय भी स्वर्ग से इन्द्र और देवमडल आकर

---

१ (अ) पच महाकल्लाणा सव्वेसिं जिणाण हवति नियमेण।
—पचासक (हरिभद्र) ४२४

(ब) "जस्स कम्ममुदएण जीवो पचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थ दुवालसग कुणदि त तित्थयरणाम। —धवला १३।५, १०१।३६६।७
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, टीका ३८।१६

२ कल्पसूत्र १५–७१

३ वही ९६, आचाराग २।१५।११, २।१५।२६-२९

४ वही ११०–११४, आचाराग २।१५।१-६

कैवल्य महोत्सव मनाते है। उस समय देवता तीर्थंकर की धर्म सभा के लिए समवसरण की रचना करते हैं।[1]

५ **निर्वाणकल्याणक**—तीर्थंकर के परिनिर्वाण प्राप्त होने पर भी देवो द्वारा उनका दाह सस्कार कर परिनिर्वाणोत्सव मनाया जाता है।[2]

इस प्रकार जैनपरम्परा मे तीर्थंकरो के उपर्युक्त पचकल्याणक माने गये हैं।

(ब) अतिशय

सामान्यतया जैनाचार्यों ने तीर्थंकरो के चार अतिशयो का उल्लेख किया है।[3]

१–ज्ञानातिशय
२–वचनातिशय
३–अपायापगमातिशय
४–पूजातिशय

१ **ज्ञानातिशय**–केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता की उपलब्धि ही तीर्थंकर का ज्ञानातिशय माना गया है। दूसरे शब्दो मे तीर्थंकर सर्वज्ञ होता है वह सभी द्रव्यो की भूतकालिक, वर्तमानकालिक तथा भावी पर्यायो का ज्ञाता होता है। दूसरे शब्दो मे वह त्रिकालज्ञ होता है। तीर्थंकर का अनन्तज्ञान से युक्त होना ही ज्ञानातिशय है।

२ **वचनातिशय**—अबाधित और अखण्डनीय सिद्धान्त का प्रतिपादन तीर्थङ्कर का वचनातिशय कहा गया है। प्रकारान्तर से इन वचनातिशय के ३५ उपविभाग किये गये हैं।

३ **अपायापगमातिशय**—समस्त मलो एव दोषो से रहित होना अपायापगमातिशय है। तीर्थङ्कर को रागद्वेषादि १८ दोषो से रहित माना गया है।

४ **पूजातिशय**—देव और मनुष्यो द्वारा पूजित होना तीर्थंकर का पूजातिशय है। जैनपरम्परा के अनुसार तीर्थंकर को देवो एव इन्द्रो द्वारा पूजनीय माना गया है।

---

१ देखे–आचाराग २।१५।१४०-४२, कल्पसूत्र २११

२ कल्पसूत्र १२४

३ "अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ॥"

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका १ (हेमचन्द्र)।

तीर्थंकरो के अतिशयो को जैनाचार्यों ने निम्न तीन भागो मे भी विभाजित किया है—

क–सहज अतिशय

ख–कर्मक्षयज अतिशय

ग–देवकृत अतिशय

उक्त तीन अतिशयो के चौंतीस उत्तरभेद किये गये है। श्वेताम्बर-परम्परा मे सहज अतिशय के चार, कर्मक्षयज अतिशय के ग्यारह और देवकृत अतिशय के उन्नीस भेद स्वीकार किये गये हैं।

(क) सहज अतिशय

१–सुन्दर रूप, सुगन्धित, निरोग, पसीना एव मलरहित शरीर।
२–कमल के समान सुगन्धित श्वासोछ्वास।
३–गौ के दुग्ध के समान स्वच्छ, दुर्गन्ध रहित मास और रुधिर।
४–चर्मचक्षुओ से आहार और नीहार का न दिखना।

(ख) कर्मक्षयज अतिशय

१ योजन मात्र समवसरण मे क्रोडाक्रोडी मनुष्य, देव और तिर्यंचो का समा जाना।
२ एक योजन तक फैलने वाली भगवान् की अर्धमागधी वाणी को मनुष्य, तिर्यंच और देवताओ द्वारा अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेना।
३ सूर्य प्रभा से भी तेज सिर के पीछे प्रभामडल का होना।
४ सौ योजन तक रोग का न रहना।
५ वैर का न रहना।
६ ईति अर्थात् धान्य आदि को नाश करने वाले चूहों आदि का अभाव।
७ महामारी आदि का न होना।
८ अतिवृष्टि न होना।
९ अनावृष्टि न होना।
१० दुर्भिक्ष न पडना।
११ स्वचक्र और परचक्र का भय न होना।

(ग) देवकृत अतिशय

१ आकाश में धर्मचक्र का होना।
२ आकाश मे चमरो का होना।
३ आकाश में पादपीठ सहित उज्ज्वल सिंहासन।
४ आकाश मे तीन छत्र।

५ आकाश मे रत्नमय धर्मध्वज ।
६ सुवर्ण कमलो पर चलना ।
७ समवसरण मे रत्न, सुवर्ण और चाँदी के तीन परकोटे ।
८ चतुर्मुख उपदेश ।
९ चैत्य वृक्ष ।
१० कण्टको का अधोमुख होना ।
११ वृक्षो का झुकना ।
१२ दुन्दुभि वजना ।
१३ अनुकूल वायु ।
१४ पक्षियो का प्रदक्षिणा देना ।
१५ गन्धोदक की वृष्टि ।
१६ पाँच वर्णो के पुष्पो की वृष्टि ।
१७ नख और केशो का नही वढना ।
१८ कम से कम एक कोटि देवो का पास मे रहना ।
१९ ऋतुओ का अनुकूल होना ।

दिगम्वर परम्परानुसार १० सहज अतिशय, १० कर्मक्षयज अतिशय और १४ देवकृत अतिशय माने गये हैं ।

समवायागसूत्र मे वुद्ध (तीर्थंकर) के निम्न चौंतीस अतिशय या विशिष्ट गुण माने गये हैं[1] । समवायाग के टीकाकार अभयदेव सूरि ने वुद्ध

---

१ चोत्तीस वुद्धाइसेसा पण्णत्ता । त जहा—अवट्ठिए केस-मसु-रोम-नहे १, निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी २, गोक्खीरपडुरे मससोणिए ३, पउमुप्पलगधिए उस्सासनिस्सासे ४, पच्छन्ने आहार-नीहारे अदिस्से मसचक्खुणा ५, आगासगय चक्क ६, आगासगय छत्त ७, आगासगयाओ सेयवरचामराओ ८, आगासफालिआमय सपायपीढ सीहासण ९, आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमडिआभिरामो इदज्झओ पुरओ गच्छइ १०, जत्थ जत्थ वि य ण अरहता भगवतो चिट्ठति वा निसीयति वा तत्थ तत्थ वि य ण जक्खा देवा सच्छन्नपत्त-पुप्फ-पल्लवसमाउलो सच्छत्तो सज्झओ सघटो सपडागो असोगवरपायवो अभिसजायइ ११, ईसिं पिट्ठओ मउडठाणमि तेयमडल अभिसजाइ, अघकारे वि य ण दस दिसाओ पभासेइ १२, वहुसमरमणिज्जे भूमिभागे १३, अहोसिरा कटया भवति १४, उउविवरीया सुहफासा भवति १५, सीयलेण सुहफासेण सुरभिणा मारुएण जोयणपरिमडल सव्वओ समवासपमज्जिज्जइ १६, जुत्तफुसिएण मेहेण य निहयरयरेणूय किज्जइ·१७, जल-थलयभासुरपभूतेण विंटट्ठाइणा

शब्द का अर्थ तीर्थंकर किया है।[1] समवायाग की इस सूची मे पूर्वोक्त विविध वर्गीकरणो के उप-प्रकार समाहित है।

१ तीर्थंकरो के सिर के बाल, दाढी तथा मूँछ एव रोम और नख बढते नही हैं, हमेशा एक ही स्थिति मे रहते है।
२ उनका शरीर हमेशा रोग तथा मल से रहित होता है।
३ उनका मास तथा खून गाय के दूध के समान श्वेत वर्ण का होता है।
४ उनका श्वासोच्छ्वास कमल के समान सुगन्धित होता है।
५ उनका आहार और नोहार (मूत्रपुरीषोत्सर्ग) दृष्टिगोचर नही होता।
६. वे धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते है।
७ उनके ऊपर तीन छत्र लटकते रहते है।
८ उनके दोनो ओर चामर लटकते हैं।

दसद्धवण्णेण कुसुमेण जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ १८, अमणुण्णाण सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाण अवकरिसो भवइ १९, मणुण्णाण सद्द-फरिस-रस-रूव-गधाण पाउब्भावो भवइ २०, पच्चाहरओ वि य ण हिययगमणीओ जोयणनीहारी सरो २१, भगवं च ण अद्धमागहीए भामाए धम्ममाइक्खइ २२, सा वि य ण अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाण दुप्पय-चउप्पअ-मिय-पसु-पक्खि-सरीसिवाण अप्पणो हिय-सिव-सुहय-भासत्ताए परिणमइ २३, पुव्वबद्धवेरा वि य ण देवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किनर-किंपुरिस-गरुल-गधव्व-महोरगा अरहओ पायमूले पसतचित्तमाणसा धम्मं निसामंति २४, अण्णउत्थियपावयणिया वि य ण आगया वदंति २५, आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पलिवयणा हवंति २६, जओ जओ वि य ण अरहतो भगवतो विहरति तओ तओ वि य ण जोयणपणवीसाएण ईती न भवइ २७, मारी न भवइ २८, सचक्क न भवइ २९, परचक्क न भवइ ३०, अइवुट्ठी न भवइ ३१, अणावुट्ठी न भवइ ३२, दुब्भिक्ख न भवइ ३३, पुव्वुप्पण्णा वि य ण उप्पाइया वाहीओ खिप्पमेव उवसमति ३४।

—समवायाग सूत्र (स मधुकर मुनि) समवाय ३४

१ समवायाग टीका अभयदेव सूरि, पृ० ३५

९ स्फटिकमणि के बने हुए पादपीठ सहित उनका स्वच्छ सिंहासन होता है।
१० उनके आगे हमेशा अनेक लघुपताकाओ से वेष्ठित एक इन्द्रध्वज पताका चलती है।
११ जहाँ-जहाँ अरिहन्त भगवान् ठहरते हैं अथवा बैठते हैं वहाँ-वहाँ यक्ष-देव सछत्र, सघट, सपताक तथा पत्र-पुष्पो से व्याप्त अशोक वृक्ष का निर्माण करते हैं।
१२ उनके मस्तक के पीछे दशो दिशाओ को प्रकाशित करने वाला तेज-प्रभामण्डल होता है।

साथ ही जहाँ भगवान् का गमन होता है, वहाँ निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं—

१३ भूमिभाग समान तथा सुन्दर हो जाता है।
१४ कण्टक अधोमुख हो जाते हैं।
१५ ऋतुएँ सुखस्पर्श वाली हो जाती हैं।
१६ समवर्तक वायु के द्वारा एक योजन तक के क्षेत्र की शुद्धि हो जाती है।
१७ मेघ द्वारा उपन्चित बिन्दुपात से रज और रेणु का नाश हो जाता है।
१८ पचवर्णवाला सुन्दर पुष्प-समुदाय प्रकट हो जाता है।
१९ (अ) भगवान् के आसपास का परिवेश अनेक प्रकार की धूप के धुँए से सुगन्धित हो जाता है।
(ब) अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का अभाव हो जाता है।
२० (अ) भगवान् के दोनो ओर आभूषणो से सुसज्जित यक्ष चमर डुलाते हैं।
(ब) मनोज्ञ शब्दादि का प्रादुर्भाव हो जाता है।
२१ उपदेश करने के लिए अरिहन्त भगवान् के मुख से एक योजन को उल्लघन करने वाला हृदयगम स्वर निकलता है।
२२ भगवान् का भाषण अर्द्धमागधी भाषा मे होता है।
२३ भगवान् द्वारा प्रयुक्त भाषा, आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद आदि समस्त प्राणिवर्ग की भाषा के रूप मे परिवर्तित हो जाती है।
२४ बद्ध-वैर वाले देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, गधर्व आदि भगवान् के पादमूल मे प्रशान्तचित्त होकर धर्म-श्रवण करते हैं।
२५ अन्य तीर्थ वाले प्रावचनिक (विद्वान्) भी भगवान् को नमस्कार करते हैं।

२६ अन्य तीर्थवाले विद्वान् भगवान् के पादमूल मे आकर निरुत्तर हो जाते हैं।

साथ ही जहाँ भगवान् का विहार होता है, वहाँ पच्चीस योजन तक निम्न बातें नही होती—

२७. ईति अर्थात् धान्य को नष्ट करने वाले चूहे आदि प्राणियो की उत्पत्ति नही होती।
२८ महामारी (संक्रामक बीमारी) नही होती।
२९ अपनी सेना उपद्रव नही करती।
३० दूसरे राजा की सेना उपद्रव नही करती।
३१ अतिवृष्टि नहीं होती।
३२ अनावृष्टि नही होती।
३३ दुर्भिक्ष नही होता।
३४ भगवान् के विहार से पूर्व उत्पन्न हुई व्याधियाँ भी शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं और रुधिर वृष्टि तथा ज्वरादि का प्रकोप नही होता।

(स) वचनातिशय

जैन आगमो मे पैंतीस वचनातिशयो के उल्लेख मिलते है[1]। सस्कृत टीकाकारो ने प्रकारान्तर से ग्रन्थो मे प्रतिपादित वचन के पैंतीस गुणो का उल्लेख किया है। यही पैंतीस वचनातिशय कहलाते है जो निम्न है—

१. सस्कारत्व -वचनो का व्याकरण-सम्मत होना।
२ उदात्तत्व -उच्च स्वर से परिपूर्ण होना।
३ उपचारोपेतत्व -ग्रामीणता से रहित होना।
४ गम्भीरशब्दत्व -मेघ के समान गम्भीर शब्दो से युक्त होना।
५ अनुनादित्व -प्रत्येक शब्द का यथार्थ उच्चारण से युक्त होना।
६ दक्षिणत्व .-वचनो का सरलता से युक्त होना।
७ उपनीतरागत्व -यथोचित् राग-रागिणी से युक्त होना।

उपरोक्त अतिशय शब्द-सौन्दर्य की अपेक्षा से जाने जाते हैं एव शेष अतिशय अर्थ-गौरव की अपेक्षा से जाने जाते हैं।

८ महार्थत्व -वचनो का महान् अर्थ होना।
९. अव्याहतपौर्वापर्यत्व .-पूर्वापर अविरोधी वाक्य वाला होना।
१० शिष्टत्व -वक्ता की शिष्टता का सूचक होना।

---

१. पणीतीस सच्चवयणाइसेसा पण्णत्ता -समवायाग सूत्र, समवाय ३५।

८ तीर्थङ्कर—निर्दोष व्यक्तित्व

जैन परम्परा मे तीर्थङ्कर को निम्न १८ दोषो से रहित माना गया है[1]—१-दानान्तराय, २-लाभान्तराय, ३-वीर्यान्तराय, ४-भोगान्तराय, ५-उपभोगान्तराय, ६-मिथ्यात्व, ७-अज्ञान, ८-अविरति, ९-कामेच्छा, १०-हास्य, ११-रति, १२-अरति, १३-शोक, १४-भय, १५-जुगुप्सा, १५-राग, १७-द्वेष और १८-निद्रा।

श्वेताम्बर परम्परा मे प्रकारान्तर से उन्हे निम्न १८ दोषो से भी रहित कहा गया है।[2]—

१ हिंसा, २ मृषावाद, ३ चोरी, ४ कामक्रीडा, ५ हास्य, ६ रति, ७ अरति, ८ शोक, ९ भय, १० क्रोध, ११ मान, १२ माया, १३ लोभ, १४ मद, १५ मत्सर, १६ अज्ञान, १७ निद्रा और १८ प्रेम।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ नियमसार मे तीर्थंकर को निम्न १८ दोषो से रहित कहा गया है।[3]

१ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४ रोष (क्रोध), ५ राग, ६ मोह, ७ चिन्ता, ८ जरा, ९ रोग १० मृत्यु, ११ स्वेद, १२ खेद, १३ मद, १४ रति, १५ विस्मय, १६. निद्रा, १७ जन्म, १८ उद्वेग (अरति)।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परामपराओ मे तीर्थंकरो को जिन दोषो से रहित माना गया है उसमे मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ दिगम्बर परम्परा तीर्थंकर मे क्षुधा और तृषा का अभाव मानती है वहाँ श्वेताम्बर परम्परा तीर्थंकर मे इनका अभाव नही मानती है। क्योकि श्वेताम्बर परम्परा मे केवली का कवलाहार (भोजन-ग्रहण) माना गया है जबकि

---

१ पचेव अतराया, मिच्छत्तमनाणमविरई कामो।
हासछग रागदोसा, निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा ॥ १९२ ॥
—राजेन्द्र अभिधानकोश, पृ० २२४८

२ "हिंसाऽऽइतिग कीला, हासाऽऽइपचग च चउकसाया।
मयमच्छर अन्नाणा, निद्दा पिम्म इअ व दोसा ॥ १९३ ॥
—राजेन्द्र अभिधानकोश, पृ० २२४८

३ "छुहतण्हभीररोसो रागो, मोहो चिंताजरा रुजामिच्चू।
स्वेद खेद मदो रइ विण्हियाणिद्दाजणुव्वेगो।"
—नियमसार, ६

दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नही करती, उनके अनुसार केवली भोजन ग्रहण नही करता है। शेष बातो मे दोनो मे समानता है।

९ तीर्थंकर बनने की योग्यता

तीर्थंकर पद की प्राप्ति के लिए जीव को पूर्व जन्मो मे विशिष्ट साधना करनी होती है। जैनधर्म मे इस हेतु जिन विशिष्ट साधनाओ को आवश्यक माना गया है उनकी सख्या को लेकर जैनधर्म के सम्प्रदायो मे मतभेद है। तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के आधार दिगम्बर सम्प्रदाय तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन हेतु निम्न सोलह बातो की साधना को आवश्यक मानता है[1]—

१ दर्शन विशुद्धि —वीतराग कथित तत्वो मे निर्मल और दृढ रुचि।

२. विनयसम्पन्नता —मोक्षमार्ग और उसके साधको के प्रति समुचित आदरभाव।

३ शीलव्रतानतिचार :—अहिंसा, सत्यादि मूलव्रत तथा उनके पालन मे उपयोगी अभिग्रह आदि दूसरे नियमो का प्रमाद रहित होकर पालन करना।

४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग :—तत्वविषयक ज्ञान प्राप्ति से सदैव प्रयत्नशील रहना।

५ अभीक्ष्ण सवेग —सासारिक भोगो से जो वास्तव मे सुख के स्थान पर दु:ख के ही साधन बनते हैं, डरते रहना।

६ यथाशक्ति का त्याग —अपनी शक्त्यानुरूप आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान आदि विवेकपूर्वक करते रहना।

७ यथाशक्ति तप —शक्त्यानुरूप विवेकपूर्वक तप साधना करना।

८ सघ साधु समाधिकरण —चतुर्विधसघ और विशेषकर साधुओ को समाधि—सुख पहुँचाना अर्थात् ऐसा व्यवहार करना, जिससे उन्हे मानसिक एव शारीरिक पीडा न पहुँचे।

९ वैयावृत्यकरण —गुणीजनो अथवा ऐसे लोगो, जिन्हे सहायता की अपेक्षा है, की सेवा करना।

१०-१३ चतु भक्ति :—अरिहत, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र इन चारो मे शुद्ध निष्ठापूर्वक अनुराग रखना।

१४ आवश्यकापरिहाण —सामायिक आदि षडावश्यको के अनुष्ठान सदैव करते रहना।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, ६-२३, पृ० १६२

१५. मोक्षमार्ग प्रभावना —अभिमान को त्यागकर मोक्षमार्ग की साधना करना तथा दूसरो को उस मार्ग का उपदेश देना।

१६ प्रवचनवात्सल्य —जैसे गाय बछडे पर स्नेह रखती है, वैसे ही सहधर्मियो पर निष्काम स्नेह रखना।

श्वेताम्बर परम्परा मे ज्ञाताधर्मकथा के आधार पर तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन हेतु निम्न (२०) बीस साधनाओ को आवश्यक माना गया है[1]—

१-७ अरिहत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत एव तपस्वी इन सातो के प्रति वात्सल्य-भाव रखना।

८ अनवरत ज्ञानाभ्यास करना।

९ जीवादि पदार्थों के प्रति यथार्थ श्रद्धारूप शुद्ध सम्यक्त्व का होना।

१० गुरुजनो का आदर करना।

११ प्रायश्चित्त एव प्रतिक्रमण द्वारा अपने अपराधो की क्षमायाचना करना।

१२ अहिंसादि व्रतो का अतिचार रहित योग्य रीति से पालन करना।

१३ पापो की उपेक्षा करते हुए वैराग्यभाव धारण करना।

१४ बाह्य एव आभ्यन्तर तप करना।

१५ यथाशक्ति त्यागवृत्ति को अपनाना।

१६ साधुजनो की सेवा करना।

१७ समता भाव रखना।

१८ ज्ञान-शक्ति को निरन्तर बढाते रहना।

१९ आगमो में श्रद्धा करना।

२० जिन प्रवचन का प्रकाश रखना।

१० तीर्थङ्करो से सम्बन्धित विवरण का विकास

तीर्थंकरो की सख्या एव उनके जीवनवृत्त आदि को लेकर सामान्यतया जैनसाहित्य मे बहुत कुछ लिखा गया किन्तु यदि हम ग्रन्थो पर कालक्रम की दृष्टि से विचार करें तो प्राचीनतम जैन आगम आचाराग मे महावीर के संक्षिप्त जीवनवृत्त को छोडकर हमे अन्य तीर्थंकरो के सदर्भ में कोई जानकारी नही मिलती। यद्यपि आचाराग सामान्यरूप से भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यकालिक अरहतो का बिना किसी नाम के निर्देश अवश्य करता है। रचनाकाल की दृष्टि से इसके पश्चात् कल्पसूत्र का क्रम आता है उसमे महावीर के जीवनवृत्त के साथ-साथ पार्श्व, अरिष्ट-

1 ज्ञाताधर्मकथा, १।८।१८

नेमि और ऋषभदेव के सम्बन्ध मे भी किंचित् विवरण मिलता है, शेष तीर्थंकरो का केवल नामनिर्देश ही है। इसके पश्चात् तीर्थंकरो के सम्बन्ध में जानकारी देने वाले ग्रन्थो मे समवायाग और आवश्यकनिर्युक्ति का काल आता है। समवायाग और आवश्यकनिर्युक्ति संक्षिप्त शैली में ही सही, किन्तु वर्तमान, भूतकालिक और भविष्यकालिक तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। दिगम्बरपरम्परा में ऐसा ही विवरण यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में मिलता है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ऋषभ के सम्बन्ध में और ज्ञाताधर्मकथा मल्लि के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। तिलोयपण्णत्तिके बाद दिगम्बर परम्परा में पुराणो का क्रम आता है। पुराणो में तीर्थंकरो के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विपुल सामग्री उपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानाग, समवायाग, कल्पसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यकचूर्णि, चउपन्नमहापुरिसचरियं एव त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र और कल्पसूत्र पर लिखी गई परवर्ती टीकाएँ तीर्थंकरो का विवरण देने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

समवायांग मे उपलब्ध विवरण

ऐसा लगता है कि तीर्थङ्कर सम्बन्धी विवरणो में समय-समय पर वृद्धि होती रही है। हमारी जानकारी में २४ तीर्थङ्करो की अवधारणा और तत्सम्बन्धी विवरण सर्वप्रथम श्वेताम्बर परम्परा में समवायाग और विमलसूरि के पउमचरिय में प्राप्त होता है। यद्यपि स्थानांग एव समवायांग की गणना अंग आगमो में की जाती है, किन्तु समवायांग में २४ तीर्थङ्करो सम्बन्धी जो विवरण है वह उसके परिशिष्ट के रूप में है और ऐसा लगता है कि बाद में जोड़ा गया है। इस प्रकीर्णक समवाय में तीर्थङ्करो के पिता, उनकी माता, उनके पूर्वभव, उनकी शिविकाओ के नाम, उनके जन्म एवं दीक्षा नगर का उल्लेख मिलता है। मान्यता यह है कि ऋषभ और अरिष्टनेमि को छोडकर सभी तीर्थङ्करो ने अपनी जन्मभूमि में दीक्षा ग्रहण की थी। सभी तीर्थङ्कर एक देवदुष्य वस्त्र लेकर दीक्षित हुए। इनके साथ-साथ प्रत्येक तीर्थङ्कर ने कितने व्यक्तियो को साथ लेकर दीक्षा ली, इसका भी उल्लेख इसमे मिलता है। इसी क्रम में समवायाग में दीक्षा लेते समय के तप, प्रथम भिक्षादाता, प्रथम भिक्षा कब मिली इसका भी उल्लेख है। इसमें तीर्थङ्करो के प्रथम शिष्य और शिष्याओ का भी उल्लेख है। समवायाग में सर्वप्रथम २४ तीर्थङ्करो के चैत्यवृक्षो का भी उल्लेख हुआ है।

भगवती

अग आगमो के क्रम की दृष्टि से समवायाग के पश्चात् भगवतीसूत्र का क्रम आता है, यद्यपि स्मरण रखना होगा कि विद्वानो द्वारा रचनाकाल की दृष्टि से भगवती को समवायाग की अपेक्षा पूर्ववर्ती माना गया है। भगवतीसूत्र भगवान् महावीर के सम्बन्ध मे समवायाग की अपेक्षा अधिक जानकारी प्रस्तुत करता है। इसमे देवानन्दा को महावीर की माता कहा गया है। महावीर और गोशालक के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर इसमे विस्तार के साथ चर्चा हुई है तथापि विद्वानो ने इस अश को परवर्ती और प्रक्षिप्त माना है। भगवती मे महावीर और जामालि के विवाद को भी स्पष्ट किया गया है, फिर भी इसमे महावीर के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे नामो के उल्लेख के अतिरिक्त हमे विस्तार से कोई जानकारी उपलब्ध नही होती है। महावीर से पार्श्वापत्यो (पार्श्व के अनुयायियो) के मिलने एव चर्चा करने का उल्लेख तो इसमे है किन्तु पार्श्व के जीवनवृत्त का भी अभाव ही है। इससे निश्चित ही ऐसा लगता है कि समवायाग के तीर्थंकर सम्बन्धी विवरण भगवती की अपेक्षा परवर्ती काल के हैं।

ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञाताधर्मकथा यद्यपि अन्य तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे तो विशेष सूचनाएँ नही देता है, किन्तु १९वें तीर्थंकर मल्लि के सम्बन्ध मे इसमे विस्तार से विवरण उपलब्ध है। सम्भवत इतना विस्तृत विवरण अन्य किसी तीर्थंकर के सम्बन्ध मे अग आगमो मे उपलब्ध नही है। विद्वानो ने ज्ञाताधर्मकथा के इस मल्लि नामक अध्याय को अपेक्षाकृत परवर्ती काल का माना है। इसमे मल्लि को स्त्री-तीर्थंकर मानकर श्वेताम्बर परम्परा की स्त्री-मुक्ति की अवधारणा को पुष्ट किया गया है। इसी आधार पर कुछ दिगम्बर विद्वान् इसे श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के विभाजन के पश्चात् का मानते है। इसके मल्लि नामक अध्याय मे ही तीर्थंकर-नाम गोत्र-कर्म उपार्जन की साधना विधि का उल्लेख है। मल्लि सम्बन्धी यह विवरण निश्चित ही समवायाग के समकालीन या अपेक्षाकृत कुछ परवर्ती है।

अन्य अंग आगम

जहा तक उपासकदशा का प्रश्न है इसमे महावीर के काल के १० श्रावको का विवरण है, इसी प्रसग मे महावीर के कुछ उपदेश भी इसमे उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु इसमे २४ तीर्थंकरो की अवधारणा का स्पष्ट

रूप से कोई सकेत नही है। इसी प्रकार अन्तकृद्दशा मे यद्यपि महावीर और अरिष्टनेमि के काल के कुछ साधको के विवरण मिलते हैं। किन्तु इसमे अरिष्टनेमि और कृष्ण सम्बन्धी जो विवरण दिए गये हैं, वे लगभग ५वी शताब्दी के पश्चात् के ही है, क्योंकि अतकृद्दशा की प्राचीन विषय-वस्तु, जिसका विवरण स्थानाग मे है, कृष्ण से सम्बन्धित किसी विवरण का कोई सकेत नही देती है। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान विषयवस्तु लगभग ७वी शताब्दी के आसपास की है। यद्यपि इसमे तीर्थंकरो के प्रवचन आदि का उल्लेख है, किन्तु स्पष्ट रूप से तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे कोई भी विवरण प्रस्तुत नही करता है। यही स्थिति औपपातिक और विपाकसूत्र की भी है।

उपाग आगम साहित्य

उपाग साहित्य मे राजप्रश्नीयसूत्र मे पार्श्वापत्य केशी का उल्लेख है, किन्तु इसमे २४ तीर्थंकरो की अवधारणा को लेकर विशेष जानकारी उपलब्ध नही होती है। तीर्थंकरो के जीवनवृत्त की दृष्टि से उपाग साहित्य के जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है, क्योंकि इसमे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कालचक्र का विवेचन करते हुए, उसमे होने वाले तीर्थंकरो का उल्लेख किया गया है। इसमे द्वितीय और तृतीय वक्षस्कार अर्थात् अध्याय मे क्रमश ऋषभदेव एव भरत के जीवनवृत्त का भी विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसमे ऋषभ के एक वर्ष तक चीवरधारी और बाद मे नग्न होने की बात कही गई है।

उपाग साहित्य के 'वृष्णीदशा' मे कृष्ण के परिजनो से सम्बन्धित उल्लेख है। किन्तु तीर्थंकर की अवधारणा और तीर्थंकरो के जीवनवृत्तो का इसमे भी अभाव है।

मूल आगम ग्रन्थ

मूलसूत्रो मे उत्तराध्ययन अपेक्षाकृत प्राचीन माना जाता है, इसमे केवल पार्श्व, महावीर, अरिष्टनेमि और नमि के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलते है। यद्यपि इन उल्लेखो मे उनके जीवनवृत्तो की अपेक्षा उनके उपदेशो और मान्यताओ पर ही अधिक बल दिया गया है, तथापि इतना निश्चित है कि उत्तराध्ययन के ये उल्लेख समवायाग की अपेक्षा प्राचीन है। उत्तराध्ययन के २२ वें और २३ वें अध्याय मे क्रमश अरिष्टनेमि और पार्श्व के सम्बन्ध मे जानकारी उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन का २२वा रथनेमि नामक अध्याय यद्यपि मूलत रथनेमि और राजीमती (राजुल) के

घटना-प्रसग को लेकर लिखा गया है। किन्तु इस अध्याय मे अरिष्टनेमि के विवाह-प्रसंग का भी उल्लेख है। २३वें अध्याय में मुख्य रूप से तीर्थंकर पार्श्व और महावीर की आचार सम्बन्धी विभिन्नताओ के उल्लेख मिलते हैं। किंतु उत्तराध्ययन मे किसी तीर्थंकर का जीवनवृत्त नही दिया गया है। दशवैकालिक, अनुयोगद्वार और नन्दी मे भी तीर्थंकरो के जीवनवृत्त नही हैं।

कल्पसूत्र

तीर्थंकरो के जीवनवृत्त को सूचित करने वाले आगमिक ग्रन्थो मे कल्पसूत्र महत्त्वपूर्ण है। कल्पसूत्र अपने आप मे कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है। यह दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र का अष्टम अध्याय ही है। किन्तु इसके जिनचरित्र नामक खड मे महावीर के साथ-साथ पार्श्व, अरिष्टनेमि और ऋषभ के जीवनवृत्तो का भी सक्षिप्त विवरण मिलता है। अरिष्टनेमि से लेकर ऋषभ तक के बीच के तीर्थंकरो के नाम एव उनके बीच की कालावधि का भी इसमे उल्लेख है।

निर्युक्ति एवं भाष्य

श्वेताम्बर परम्परा के इन आगमिक ग्रन्थो के अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति एव विशेषावश्यकभाष्य मे भी तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे और उनके माता, पिता आदि के बारे मे सूचनाएँ मिलती हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति मे तीर्थंकरो के पूर्वभव का भी साकेतिक उल्लेख हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति तीर्थंकरो की जन्म तिथि का भी निर्देश करती है। इसमे तीर्थंकरो के वर्षीदान का उल्लेख है साथ ही यह भी बताया गया है कि किस तीर्थंकर ने कौमार्य अवस्था में दीक्षा ली और किसने बाद मे। इसमे तीर्थंकरो के निर्वाण तप तथा निर्वाण तिथियो का भी उल्लेख मिलता है। तीर्थंकरो के शरीर की ऊँचाई आदि का उल्लेख स्थानाग एव समवायाग मे भी उपलब्ध है, किन्तु वह एकीकृत रूप मे न होकर बिखरा हुआ है जब कि आवश्यकनिर्युक्ति मे उसे एकीकृत रूप से प्रस्तुत किया गया है। यथा—आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार सभी तीर्थंकर स्वय ही बोध प्राप्त करते हैं, लोकान्तिक देव तो उन्हे व्यवहार के कारण प्रतिबोधित करते हैं, सभी तीर्थंकर एक वर्ष तक दान देकर प्रव्रजित होते हैं। महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य को छोड अन्य सभी तीर्थंकरो ने राज्यलक्ष्मी का भोग करने के पश्चात् ही दीक्षा ली थी, जबकि अवशिष्ट पाच कौमार्य अवस्था मे दीक्षित हुए थे। शान्ति, कुथु और अर ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती थे शेष सामान्य राजा। महावीर अकेले,

पार्श्व और मल्लि ३०० व्यक्तियों, वासुपूज्य-६०० व्यक्तियों, ऋषभ-४००० व्यक्तियों एवं शेष सभी १००० व्यक्तियों के साथ दीक्षित हुए थे। सुमति ने बिना किसी व्रत के साथ दीक्षा ग्रहण की, वासुपूज्य ने उपवास के साथ दीक्षा ग्रहण की, पार्श्व और मल्लि ने ३ उपवास के साथ दीक्षा ली और शेष सभी ने २ दिन के उपवास के साथ दीक्षा ली। ऋषभ वनिता से, अरिष्टनेमि द्वारका से और अन्य अपनी-अपनी जन्मभूमि में दीक्षित हुए थे। ऋषभ ने सिद्धार्थवन में, वासुपूज्य ने विहारगृह (वन) में, धर्मनाथ ने वप्पग्राम में, मुनि सुमति ने नीलगुफा में, पार्श्व ने आम्रवन में, महावीर ने ज्ञातृवन में तथा शेष सभी तीर्थंकरों ने सहस्रआम्रवन में दीक्षा ग्रहण की। पार्श्व, अरिष्टनेमि, श्रेयांस, सुमति और मल्लि पूर्वाह्न मे दीक्षित हुए। ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य भूमि में भी विहार किया, शेष सभी ने मगध, राजगृह आदि आर्य-भूमि में ही विहार किया।

प्रथम तीर्थंकर को १२ अंग और शेष को ११ अंग का श्रुतलाभ रहा। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने पंचयाम का और शेष ने चातुर्याम का उपदेश दिया। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर में सामायिक और छेदोस्थापनीय ऐसे दो चारित्रों का विकल्प होता है जबकि शेष में सामायिक चारित्र ही होता है। इसमें २४ तीर्थंकरों के केवलज्ञान की तिथियों, नक्षत्रों एव स्थलों को भी दिया गया है। २३ तीर्थंकरों को पूर्वाह्न में और महावीर को अपराह्न में ज्ञान प्राप्त हुआ। ऋषभ को पुरिमताल में, महावीर को ऋजुपालिका नदी के किनारे और शेष ने जिस उद्यान में दीक्षा ली, उसी में केवल ज्ञान प्राप्त किया। पार्श्व, मल्लि और अरिष्टनेमि को तीन उपवास की तपस्या में, वासुपूज्य को एक उपवास में और शेष तीर्थंकरों को दो उपवास में ज्ञान प्राप्त हुआ। महावीर ने दूसरे समवसरण मे तीर्थ की स्थापना की, जबकि शेष तीर्थंकरों ने प्रथम समवसरण में तीर्थ की स्थापना की। २४ तीर्थंकरों में से २३ तीर्थंकरों के, जितने गण थे उतने ही गणधर भी थे, परन्तु महावीर के गणों की संख्या ९ एव गणधरों की संख्या ११ थी। इसके अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति में २४ तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम, जन्मभूमि, वर्ण, प्रथम शिक्षा दाता, प्रथम भिक्षा स्थल, छद्मस्थ काल, श्रावक संख्या, कुमार काल, शरीर की ऊँचाई, एवं आयु प्रमाण आदि का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। आवश्यकचूर्णि में निर्युक्ति विवरणों के अतिरिक्त महावीर और ऋषभ का जीवनवृत्त भी विस्तार से वर्णित है।

आगमेतर कथा साहित्य

श्वेताम्बर परम्परा में २४ तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी

प्रदान करने वाले आगमेतर ग्रन्थो मे वसुदेवहिण्डी, विमलसूरि का पउमचरिय, शीलाक का चउप्पन्नमहापुरिसचरिय और हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र उल्लेखनीय है। इनमे वसुदेवहिण्डी और पउमचरिय का मुख्य विषय तीर्थंकर चरित्र नही है।

श्वेताम्बर परम्परा मे तीर्थंकरो के जीवनवृत्त का विस्तृत विवेचन करने वाले ग्रन्थो मे चउपन्नमहापुरिसचरिय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शीलाक की यह कृति लगभग ईसा की नवी शताब्दी मे लिखी गई है। सम्भवत श्वे० जैन परम्परा मे तीर्थंकरो का विस्तृत विवरण देने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। यद्यपि इसमे भी मुख्य रूप से तो ऋषभ, शान्ति, मल्लि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर के कथानक विस्तार से वर्णित हैं, शेष तीर्थंकरो के जीवनवृत्त तो सामान्यतया एक दो पृष्ठो मे ही समाप्त हो जाते है। इसके पश्चात् तीर्थंकरो के जीवनवृत्त का विवरण देने वाले ग्रन्थो मे हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। चउप्पन्नमहापुरिसचरिय एव त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के पश्चात् तीर्थंकरो के जीवनवृत्त पर स्वतन्त्र रूप से अनेक चरित काव्य लिखे गए हैं जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नही है।

दिगम्बर आगम ग्रन्थ

दिगम्बर परम्परा के आगम साहित्य में षट्खडागम, कषायपाहुड, मूलाचार, भगवतीआराधना, तिलोयपण्णत्ति एव आचार्य कुंदकुद के ग्रन्थ समाहित है। इनमे मुख्य रूप से मूलाचार और भगवतीआराधना यथा-प्रसग तीर्थंकरो के सम्बन्ध में कुछ सूचनाए देते है, किन्तु इनमे सुव्यवस्थित रूप से तीर्थंकरो से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध नही हैं। सर्वप्रथम हमे तिलोयपण्णत्ति में तीर्थंकरो की अवधारणा एव जीवन सम्बन्धी सूचनाएं मिलती हैं। तिलोयपण्णत्ति मे तीर्थंकरो के नाम, च्यवन स्थल, पूर्वभव, माता-पिता का नाम, जन्मतिथि और नक्षत्र, कुल नाम (धर्मनाथ, अरहनाथ और कुथुनाथ—कुरुवश मे, पार्श्वनाथ—उग्रवश मे, महावीर—ज्ञातृ वश मे, मुनिसुमति, एवं नेमिनाथ—यादववश मे और शेष इक्ष्वाकु वश मे हुए हैं) जन्म-काल, आयु, कुमार काल, शरीर की ऊँचाई, वर्ण, राज्य काल, चिह्न, वैराग्य के कारण, दीक्षास्थल, (नेमिनाथ द्वारका और शेष अपने जन्म स्थान), दीक्षा तिथि, दीक्षा काल, दीक्षा तप, प्रथम भिक्षा मे मिले पदार्थ, छद्मस्थ काल, केवल ज्ञान (तिथि, नक्षत्र और स्थल), समवसरण का रचना विन्यास, किसी वृक्ष के नीचे हुआ केवल ज्ञान, उत्पन्न यक्ष-यक्षिणी, कैवल्य काल, गणधरो की

सख्या, साधु-साध्वियो की सख्या अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी और वैक्रिय ऋद्धिधारक, एव वादियो की सख्या, प्रमुख आर्यिकाएँ, निर्वाणतिथि, नक्षत्र, स्थल, तीर्थंकरो का शासनकाल, तीर्थंकरो का अन्तराल आदि का विवरण सुव्यवस्थित रूप से उपलब्ध है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर तिलोयपण्णत्ति की विवरणशैली आवश्यकनिर्युक्ति के समान है। इसमे आवश्यकनिर्युक्ति के समान ही तीर्थंकरो के माता-पिता आदि का विवरण मिलता है। यद्यपि यह आवश्यकनिर्युक्ति की अपेक्षा परवर्ती है।

पुराण साहित्य

यद्यपि दिगम्बर परम्परा मे तीर्थंकरो के जीवनवृत्त को बताने वाले आगमिक साहित्य का अभाव है, किन्तु उनमें पुराणो के रूप मे अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमें तीर्थंकरो के जीवनवृत्त विस्तार से वर्णित हैं। इन पुराणो मे जिनसेन और गुणभद्र की कृति महापुराण प्रसिद्ध है। इसका पूर्व भाग आदिपुराण और शेष भाग उत्तरपुराण के नाम से भी जाना जाता है। आदिपुराण मे ऋषभ का और उत्तरपुराण में शेष सभी तीर्थंकरो का वर्णन है। दिगम्बर आचार्यो द्वारा रचित पुराण ग्रन्थ अनेक हैं यहाँ किन्तु उन सब की चर्चा करना सम्भव नहीं है।

जैनसाहित्य मे उपलब्ध तीर्थंकर की अवधारणा का सर्वेक्षण

तीर्थंकर की अवधारणा के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि लगभग ईसा की चौथी शताब्दी तक ऐसा कोई भी साहित्य हमें उपलब्ध नही होता है कि जिसमें २४ तीर्थंकरो की अवधारणा का विकसित रूप उपलब्ध होता हो। सम्भवत सर्वप्रथम ईसा पूर्व तीसरी, दूसरी शताब्दी से हमें तीर्थंकरो की अवधारणा में अलौकिकता सम्बन्धी कुछ विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु व्यवस्थित रूप से २४ तीर्थंकरो की कल्पना का कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण हमे उपलब्ध नहीं होता है। हमें ऐसा लगता है कि जैन परम्परा में २४ तीर्थंकरो की सुव्यवस्थित अवधारणा और उनका नामकरण ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास ही हुआ होगा, यद्यपि २४ तीर्थंकरो के नामोल्लेख करने वाले विवरण भगवती, समवायाग आदि मे उपलब्ध हैं, किन्तु विद्वान् इन्हे ईसा की प्रथम शताब्दी या इनके परवर्ती काल का ही मानते हैं। यदि हम अन्य तीर्थंकरो के जीवनवृत्तो को एक ओर रख दें तो भी स्वय महावीर के जीवनवृत्त में एक विकास देखा जा सकता है। आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उपधान नामक ९वें अध्याय में वर्णित महावीर का

चरित्र, सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के वीरस्तव नामक षष्ठम् अध्याय मे कुछ विकसित हुआ है। फिर वह कल्पसूत्र मे हमे अधिक विकसित रूप में मिलता है। कल्पसूत्र की अपेक्षा भी आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५वें अध्याय मे वर्णित महावीरचरित्र अधिक विकसित है, ऐसी डॉ० सागरमल जैन की मान्यता है। उनकी मान्यता का आधार कल्पसूत्र की अपेक्षा आचाराग के महावीरचरित्र मे अधिक अलौकिक तत्त्वो का समावेश है। भगवतीसूत्र मे महावीर के जीवनवृत्त से सम्बन्धित कुछ घटनाएँ, उल्लिखित हैं यथा—देवानन्दा, जामालि तथा गोशालक सम्बन्धी घटनाएँ उसमे गोशालक सम्बन्धी विवरण को जैन विद्वानो ने प्रक्षिप्त एव परवर्ती माना है। आवश्यकनिर्युक्ति यद्यपि कल्पसूत्र की अपेक्षा महावीर का जीवनवृत्त विस्तार से उल्लिखित नही करती है, फिर भी २४ तीर्थंकरो सम्बन्धो सुव्यवस्थित जो वर्णन उसमे मिलता है, उससे ऐसा लगता है कि इसकी रचना कल्पसूत्र की अपेक्षा परवर्ती काल की है। इतना निश्चित है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से २४ तीर्थंकरो की सुव्यवस्थित अवधारणा उपलब्ध होने लगती है। यद्यपि तीर्थंकरो के जीवनवृत्तो का विकास बाद मे भी हुआ। सम्भवत ईसा की ७वी शताब्दी मे सर्वप्रथम तीर्थंकरो के सुव्यवस्थित जीवनवृत्त लिखने के प्रयत्न किए गए, सभव है तत्सम्बन्धित कुछ अवधारणाएँ पूर्व में भी प्रचलित रही हो। आवश्यकचूर्णि (७वी शती) महावीर और ऋषभ का विस्तृत विवरण देती है।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ मे लगभग ईसा की ९वी शताब्दी से ही हमे २४ तीर्थंकरो के सुव्यवस्थित जीवनवृत्त मिलने लगते हैं। यद्यपि इस काल के लेखको के सामने कुछ पूर्व परम्पराएँ अवश्य रही होगी, जिस आधार पर उन्होंने इन चरित्रो का विकास किया। वस्तुत. ईसा की दूसरी शताब्दी से ९ वी शताब्दी के बीच का काल ही ऐसा है जिसमे २४ तीर्थंकरो सम्बन्धी अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ। आश्चर्यजनक यह है कि बौद्ध परम्परा मे २४ बुद्धो और हिन्दू परम्परा मे २४ अवतारो और उनके जीवनवृत्तो को भी सुव्यवस्थित रूप इसी काल मे दिया गया है जो तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू परम्परा मे अवतार की सुव्यवस्थित अवधारणा हमे भागवतपुराण मे मिलती है। इतिहासविदो ने भागवतपुराण का काल लगभग ९ वी शताब्दी माना है, यही काल शीलाक के चउपन्नमहापुरिसचरिय एव दिगम्बर परम्परा के महापुराण आदि का है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि २४ तीर्थंकरो, २४ बुद्धो और २४ अवतारो की अवधारणा कालक्रम में

विकसित होकर सुनिश्चित हुई है। इसी प्रसग मे अतीत एव अनागत तीर्थंकरो और बुद्धो की कल्पना विकसित हुई जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

अव हम गन्थ की सीमा को देखते हुए भूतकालीन और आगामी तीर्थंकरो के नाम निर्देश के साथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीर्थंकरो के जीवनवृत्त के सम्वन्ध मे सक्षिप्त रूप से प्रकाश डालेंगे।

तीर्थङ्करो की सख्या—वर्तमान, अतीत और अनागत काल के तीर्थङ्कर

यद्यपि भागवत मे विष्णु के अनन्त अवतार बताये गये हैं[1] फिर भी वैष्णवो मे चौवीस अवतार की अवधारणा प्रसिद्ध है। उसी प्रकार जैन ग्रन्थ महापुराण मे यद्यपि भूत और भविष्य की अनन्त चौवीसियो के आधार पर अनन्त जिनो की कल्पना की गई है।[2] फिर भी जैनो मे चौवीस तीर्थंकरो की अवधारणा ही अधिक प्रचलित रही है तथा विविध क्षेत्रो और कालो की अपेक्षा से अनन्त चौवीसियो की कल्पना की गई।

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष मे वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकर इस प्रकार हैं[3]—

१ ऋषभ, २ अजित, ३ सभव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि-पुष्पदन्त, १० शीतल, ११ श्रेयास, १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्त, १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थु, १८ अर, १९ मल्ली, २० मुनिसुव्रत, २१ नमि, २२ नेमि, २३ पार्श्व और २४ वर्धमान।

---

१ भागवत १।२।५, २।६।४१-४५

२ णाइ णन्तु भाविणिहि णिरुतउ, एहउ वीरजिणिदेवुतउ।
पढतु समासमि कालु अणाइउ, सो अणन्तु जिणणाणि जाइउ॥
—महापुराण २।४

३ जबुद्दीवे ण दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउवीस तित्थगरा होत्था। त जहा-उसभे १, अजिये २, सभवे ३, अभिणदणे ४, सुमई ५, पउमप्पहे ६, सुपासे ७, चदप्पभे ८, सुविहि-पुप्फदते ९, सीयले १०, सिज्जसे ११, वासुपुज्जे १२, विमले १३, अणते १४, धम्मे १५, सती १६, कुथू १७, अरे १८, मल्ली १९, मणिसुव्वए २०, णमी २१, णेमी २२, पासे २३, वड्ढमाणो २४।—समवायाग, श्री मधुकर मुनि, प्रकीर्णक समवाय ६३५।

जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र के वर्तमान अवसर्पिणी काल मे निम्न चौबीस तीर्थंकर[1] हुए हैं—

१ सुचन्द्र, २ अग्निसेन, ३ नन्दिसेन, ४ ऋषिदत्त, ५ सोमचन्द्र, ६. युक्तिसेन, ७ अजितसेन, ८ शिवसेन, ९ बुद्ध, १० देवशर्म, ११ निक्षिप्तशस्त्र (श्रेयास), १२ असज्वल, १३ जिनवृषभ, १४ अमितज्ञानी अनन्त, १५ उपशान्त, १६ गुप्तिसेन, १७ अतिपार्श्व, १८ सुपार्श्व, १९ मरुदेव, २० धर, २१ श्यामकोष्ठ, २२ अग्निसेन, २३ अग्निपुत्र, २४ वारिषेण।

समवायाग मे तो जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे उत्सर्पिणी काल के अतीत तीर्थंकरो का विवरण उपलब्ध नही है परन्तु प्रवचनसारोद्धार मे निम्न २४ तीर्थंकरो का विवरण उपलब्ध होता है[2]—

१. केवलज्ञानी, २ निर्वाणी, ३ सागरजिन, ४ महायश, ५ विमल, ६. नाथसुतेज (सर्वानुभूति), ७ श्रीधर, ८ दत्त, ९ दामोदर, १० सुतेज, ११ स्वामिजिन, १२ शिवाशी (मुनिसुव्रत), १३ सुमति, १४ शिवगति, १५ अवाध (अस्ताग), १६ नाथनेमीश्वर, १७ अनिल, १८ यशोधर १९ जिनकृतार्थ, २० धर्मीश्वर (जिनेश्वर), २१ शुद्धमति, २२ शिवकरजिन, २३ स्यन्दन, २४ सम्प्रतिजिन।

---

१ जबुद्दीवे [ण दीवे] एरवए वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीस तित्थयरा होत्था। त जहा—

चदाणण सुचद अग्गीसेण च नदिसेण च।
इसिदिण्ण वयहारिं वदिमो सोमचद च॥
वदामि जुत्तिसेण अजियसेण तहेव सिवसेण।
बुद्ध च देवसम्म सयय निक्खित्तसत्थ च॥
असजल जिणवसह वदे य अणतय अमियणाणि।
उवसत च धुयरय वंदे खलु गुत्तिसेण च॥
अतिपास च सुपास देवेसरवदिय च मरुदेव।
निव्वाणगय च धर खीणदुह सामकोट्ठ च॥
जियरागमग्गिसेण वंदे खीणरयमग्गिउत्त च।
वोक्कसियपिज्जदोस वारिसेण गय सिद्धि॥

—समवायाग (स श्री मधुकर मुनि) प्रकीर्णक समवाय ६६४

२. प्रवचनसारोद्धार ७ गा० २८८–२९०

दिगम्बर ग्रन्थ जयसेनप्रतिष्ठापाठ के नामो मे कुछ भिन्नता है उसमें निम्न २४ तीर्थकरो का उल्लेख मिलता है—[1]

१ निर्वाण, २ सागर, ३ महासाधु, ४ विमलप्रभ, ५ शुद्धाभदेव, ६ श्रीधर, ७ श्रीदत्त, ८ सिद्धाभदेव, ९ अमलप्रभ १० उद्धारदेव, ११ अग्निदेव, १२ सयम, १३ शिव, १४ पुष्पाजलि, १५ उत्साह, १६. परमेश्वर, १७ ज्ञानेश्वर, १८ विमलेश्वर, १९ यशोधर, २०. कृष्णमति, २१ ज्ञानमति, २२ शुद्धमति, २३ श्रीभद्र, २४ अनन्तवीर्य।

श्वेताम्बरग्रन्थ प्रवचनसारोद्धार और दिगम्बरग्रन्थ जयसेनप्रतिष्ठापाठ मे भरतक्षेत्र के उत्सर्पिणी काल के अतीत तीर्थंकरो—निर्वाण, सागर जिन, विमल, श्रीधर, दत्त, शिवगति, शुद्धमति के नामो मे समानता दिखायी देती है एव अन्य तीर्थंकरो के नामो मे दोनो ग्रन्थो मे भिन्नता है।

ऐरावत क्षेत्र के अवसर्पिणी काल के अतीत तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे हमे कोई जानकारी उपलब्ध नही हो सकी है।

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष मे आगामी उत्सर्पिणी काल मे होने वाले चौवीस तीर्थंकर[2] निम्न हैं—

१– महापद्म, २– सूरदेव, ३–सुपार्श्व, ४– स्वयप्रभ, ५– सर्वानुभूति, ६– देवश्रुत, ७– उदय, ८– पेढालपुत्र, ९– प्रोष्ठिल, १०– शतकीर्ति, ११–मुनिसुव्रत, १२–सर्वभाववित्, १३–अमम, १४–निष्कषाय, १५–

१ जयसेनप्रतिष्ठापाठ, ४७०-४९३

२ जबुद्दीवे ण दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउवीस तित्थगरा भविस्सति। त जहा—

महापउमे सूरदेवे सूपासे य सयपभे।
सव्वाणुभूई अरहा देवस्सुए य होक्खइ॥
उदए पेढालपुत्ते य पोट्टिले सत्तकित्ति य।
मुणिसुव्वए य अरहा सव्वभावविऊ जिणे॥
अममे णिक्कसाए य निप्पुलाए य निम्ममे।
चित्तउत्ते समाही य आगमिस्सेण होक्खइ॥
सवरे अणियट्टी य विजए विमले ति य।
देवोववाए अरहा अणतविजए इ य।
एए वुत्ता चउव्वीस भरहे वासम्मि केवली।
आगमिस्सेण होक्खति धम्मतित्थस्स देसगा॥

—समवायाग (स० श्री मधुकर मुनि) प्रकीर्णक समवाय ६६७।

निष्पुलाक, १६–निर्मम, १७–चित्रगुप्त, १८–समाधिगुप्त, १९–सवर, २०–अनिवृत्ति, २१–विजय, २२–विमल, २३–देवोपपात और २४–अनन्त विजय।

उपरोक्त तीर्थंकर आगामी उत्सर्पिणी काल मे भरत क्षेत्र मे धर्म तीर्थ की देशना करेंगे।

जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र मे आगामी उत्सर्पिणी काल मे चौबीस तीर्थंकर होगे[1]—

१–सुमगल, २–सिद्धार्थ, ३–निर्वाण, ४–महायश, ५–धर्मध्वज, ६–श्रीचन्द्र, ७–पुष्पकेतु, ८–महाचन्द्र केवली, ९–सुतसागर अर्हन्, १०–सिद्धार्थ, ११–पूर्णघोष, १२–महाघोष केवली, १३–सत्यसेन अर्हन्, १४–सूरसेन अर्हन्, १५–महासेन केवली, १६–सर्वानन्द, १७–देवपुत्र अर्हन्, १८–सुपार्श्व, १९–सुव्रत अर्हन्, २०–सुकोशल अर्हन्, २१–अनन्तविजय अर्हन्, २२–विमल अर्हन्, २३–महाबल अर्हन् और २४–देवानन्द अर्हन्।

उपरोक्त चौबीस तीर्थंकर ऐरावत क्षेत्र मे आगामी उत्सर्पिणी काल मे धर्मतीर्थ की देशना करने वाले होगे।

---

१ जबुद्दीवे [ण दीवे] एरवए वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउव्वीस तित्थकरा भविस्सति। त जहा—

सुमगले य सिद्धत्थे णिव्वाणे य महाजसे।
धम्मज्झए य अरहा आगमिस्साण होक्खई॥
सिरिचंदे पुप्फकेऊ महाचंदे य केवली।
सुयसागरे य अरहा आगमिस्साण होक्खई॥
सिद्धत्थे पुण्णघोसे य महाघोसे य केवली।
सच्चसेणे य अरहा आगमिस्साण होक्खई॥
सूरसेणे य अरहा महासेणे य केवली।
सव्वाणंदे य अरहा देवउत्ते य होक्खई॥
सुपासे सुव्वए अरहा अरहे य सुकोसले।
अरहा अणतविजए आगमिस्साण होक्खई॥
विमले उत्तरे अरहा अरहा य महाबले।
देवाणंदे य अरहा आगमिस्साण होक्खई॥
एए वुत्ता चउव्वीस एरवयम्मि केवली।
आगमिस्साण होक्खंति धम्मतित्थस्स देसगा॥

—समवायाग (स० श्री मधुकरमुनि) प्रकीर्णक समवाय ६७४।

जिस प्रकार बौद्धो मे सुखावतीव्यूह मे सदैव बुद्धो की उपस्थिति मानी गई है उसी प्रकार जैनो ने महाविदेह क्षेत्र मे सदैव बीस तीर्थंकरो की उपस्थिति मानी है। यद्यपि इनमे से प्रत्येक तीर्थंकर अपनी आयु मर्यादा पूर्ण होने पर सिद्ध हो जाता है अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर लेता है किन्तु जिस समय वह निर्वाण प्राप्त करता है, उसी समय उसी नाम का दूसरा तीर्थंकर कैवल्य प्राप्तकर तीर्थंकर पद प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार क्रम सदा चलता रहता है। महाविदेह क्षेत्र के बीस तीर्थंकर निम्न हैं।[1]

१ सीमन्धर, २ युगमन्धर, ३ बाहु, ४ सुबाहु, ५ सुजात, ६. स्वयप्रभ, ७ ऋषभानन, ८ अनन्तवीर्य, ९ सूरिप्रभ, १० विशालप्रभ, ११ वज्रधर, १२ चन्द्रानन, १३ चन्द्रबाहु, १४ भुजगम, १५ ईश्वर, १६ नेमिप्रभु, १७ वीरसेन, १८ महाभद्र, १९ देवयश, २० अजितवीर्य।

जैनो की कल्पना है कि समस्त मनुष्यलोक (अढाई द्वीप) के विभिन्न क्षेत्रो में एक साथ अधिकतम १७० और न्यूनतम २० तीर्थंकर सदैव वर्तमान रहते हैं[2]। इस न्यूनतम और अधिकतम सख्या का अतिक्रमण नही होता, फिर भी एक तीर्थंकर का दूसरे तीर्थंकर से कभी मिलाप नहीं होता।

१ ऋषभदेव

ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं।[3] इनके पिता नाभि और इनकी माता मरुदेवी थी।[4] ये इक्ष्वाकु कुल के काश्यप गोत्र मे उत्पन्न हुए थे। इनका जन्मस्थान कोशल जनपद के अयोध्या नगर मे माना जाता है। इनकी दो पत्नियाँ थी—सुनन्दा और सुमगला। भरत, बाहुबलि आदि उनके १०० पुत्र और ब्राह्मी-सुन्दरी दो पुत्रियाँ थीं[5]।

ऋषभदेव उस काल मे उत्पन्न हुए थे, जब मनुष्य प्राकृतिक जीवन से निकल कर ग्रामीण एव नगरीय जीवन मे प्रवेश कर रहा था। माना जाता है कि ऋषभदेव ने पुरुष को ७२ और स्त्रियो को ६४ कलाओ की

---

१ ज्ञयसेनप्रतिष्ठापाठ, ५४५-६४।

२ "वीस वि सयले खेत्ते सत्तरिसय वरदो।"—त्रिलोकसार—६८१।

३ कल्पसूत्र, २१०।

४ वही, २०५-८१, आवश्यकनिर्युक्ति १७०, ३८५, ३८७, समवायाग १५७।

५ कल्पसूत्रवृत्ति २३६, २३१ (विनय-विजय), आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ० १५२-३।

शिक्षा दी थी, उन्होने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिज्ञान तथा सुन्दरी को गणित विषय मे पारगत वनाया था। जैन मान्यता के अनुसार असि (सैन्य कर्म), मसि (वाणिज्य) और कृषि को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी ऋषभदेव को है। इस प्रकार इन्हे भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आदि पुरुष माना जाता है। यह भी मान्यता है कि इन्होने सामाजिक जीवन मे सर्वप्रथम यौगलिक परम्परा को समाप्त कर विवाह की परम्परा स्थापित की थी। परम्परागत मान्यता के अनुसार इनके शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष और आयु ८४ लाख पूर्व वर्ष मानी गई है। ये ८३ लाख पूर्व वर्ष सासारिक अवस्था में रहे और इन्होने १/२ लाख पूर्व वर्ष तक सयम का पालन किया। अपने जीवन की सध्यावेला मे इन्होंने चार हजार लोगो के साथ संन्यास लिया। इन्हे एक वर्ष के कठोर तप साधना के पश्चात् पुरिमताल उद्यान मे वोधि प्राप्त हुई थी। जैनो की ऐसी मान्यता है कि ऋषभदेव के साथ सन्यास धर्म को अगीकार करने वाले अधिकाश व्यक्ति उनके समान कठोर आचरण का पालन न कर पाये और परिणामस्वरूप अपनी-अपनी सुविधाओ के अनुसार विभिन्न श्रमण परम्पराओ को जन्म दिया। उनके पौत्र मारीचि द्वारा त्रिदडी सन्यासियो की परम्परा प्रारम्भ हुई। जैनो की मान्यता है कि ऋषभदेव के सघ मे ८४ गणो मे विभक्त ८४ गणधरो के अधीन ८४ हजार श्रमण थे, ब्राह्मी प्रमुख तीन लाख आर्यिकायें थी। तीन लाख पचास हजार श्रावक और पाच लाख चौवन हजार श्राविकाएँ थी।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे ऋषभदेव के १२ पूर्व भवो का उल्लेख है। इसके साथ ही साथ उसमे उनके जन्म-महोत्सव, नामकरण, रूप-यौवन, विवाह, गृहस्थजीवन, सन्तानोत्पत्ति, राज्याभिषेक, कलाओ की शिक्षा, वैराग्य, गृहत्याग और दीक्षा, साधनाकाल के उपसर्ग, इक्षुरस से पारण, केवलज्ञान, समवसरण, सघ स्थापना और उपदेश आदि का विस्तार से वणन है।

ऋषभदेव का उल्लेख अन्य परम्पराओ मे भी मिलता है। वैदिक परम्परा मे वेदो से लेकर पुराणो तक[1] इनके नाम का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद मे अनेक रूपो मे इनकी स्तुति की गई है। यद्यपि आज यह कहना कठिन है कि ऋग्वेद मे वर्णित ऋषभदेव वही है जो जैनो के प्रथम

---

१ "एवा वभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हसि।"

—ऋग्वेद २।३३।१५

तीर्थंकर हैं, क्योकि इनके पक्ष एव विपक्ष मे विद्वानो ने अपने तर्क दिये हैं। ताण्डय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण मे नाभि पुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भरत का उल्लेख है।[1] उत्तरकालीन हिन्दू परम्परा के ग्रन्थो श्रीमद्भागवत, मार्कण्डेयपुराण, कूर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, गरुड-पुराण, विष्णुपुराण और स्कन्धपुराण मे भी ऋषभदेव के उल्लेख मिलते हैं।[2] श्रीमद्भागवत और परवर्ती पुराणो मे से अधिकाश मे ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध है, जो जैन परम्परा से बहुत साम्य रखता है।

ऋग्वेद के १० वें मडल के सूत्र १३६/२ मे वातरशना शब्द का प्रयोग हुआ है,[3] व्युत्पत्ति की दृष्टि से वातरशन शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) वात + अशन अर्थात् वायु ही जिनका भोजन है, उन्हे वातरशन कहा जा सकता है (२) वात + रशन है, रशन वेष्ठन का परि-चायक वायु ही जिनका वस्त्र है अर्थात् इस दृष्टि से यह नग्न मुनि का परिचायक हो सकता है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार वातरशना का अर्थ नग्न होता है। जैनाचार्य जिनसेन ने वातरशना का अर्थ दिगम्बर किया है और उसे ऋषभदेव का विशेषण बताया है। सायण ने वातरशना का अर्थ वातरशन का पुत्र किया है, किन्तु उसका अर्थ वातरशन के अनुयायी करना अधिक उचित है क्योकि श्रीमद्भागवत मे भी यह कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमणो के धर्म का उपदेश दिया। जैन पुराण और श्रीमद्भागवत मे वातरशना को जो ऋषभदेव के साथ

---

१ (अ) "ऋषभो वा पशुनामधिपति"। —ताण्डय ब्राह्मण—१४।२।५।
(ब) ऋषभो वा पशूना प्रजापति" —शतपथ ब्राह्मण—५।२।५।१०।

२ अष्टमे मेरुदेव्या तु नाभेर्जात उरुक्रम।
दर्शयन् वर्त्म धीराणा सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥ —भागवत १।३।१३
नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनुर्यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहंस्यमृषय पदमामनन्ति स्वस्थ प्रशान्तकरण परिमुक्तसङ्ग ॥
—भागवत २।७।१०

देखे—मार्कण्डेयपुराण अध्याय ५० ३९-४२, कूर्मपुराण अध्याय ४१, ३७-३८, अग्निपुराण, १०, १०-११, वायुपुराण ३३।५०-५२ गरुडपुराण १, ब्रह्माण्डपुराण १४, ६१ विष्णुपुराण २।१।२७, स्कन्धपुराण कुमारखण्ड, ३७।५७।

३ मुनयो वातरशना- पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥

जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, समुचित तो प्रतीत होता है, साथ ही यह भी सूचित करता है कि ऋग्वैदिक काल मे ऋषभ की परम्परा प्रचलित थी।

ऋग्वेद मे 'शिश्नदेवा' शब्द आया है। 'शिश्नदेव' के ऋग्वेद मे दो उल्लेख हैं—प्रथम (७।२१।५) मे तो कहा गया है कि वे हमारे यज्ञ मे विघ्न न डालें और दूसरे (१०।९९।३) मे इन्द्र द्वारा शिश्नदेवो को मारकर शतद्वारो वाले दुर्ग की निधि पर कब्जा करने का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि शिश्नदेव (नग्न देव) के पूजक वैदिक परम्परा के विरोधी और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे। शिश्नदेवा के दो अर्थ हो सकते हैं। इसका एक अर्थ है शिश्न को देवता मानने वाले, दूसरा शिश्न युक्त अर्थात् नग्न देवता को पूजने वाले। इन दोनो अर्थों मे से यदि किसी भी अर्थ को ग्रहण करें, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के काल मे एक परम्परा थी जो नग्न देवताओ की पूजा करती थी और यह भी सत्य है ऋषभ की परम्परा नग्न श्रमणो की परम्परा थी।

ऋग्वेद मे केशी की स्तुति किये जाने का उल्लेख मिलता है। यह केशी साधनायुक्त कहे गए हैं और अग्नि, जल, पृथ्वी और स्वर्ग को धारण करते हैं। साथ ही सम्पूर्ण विश्व के तत्त्वो का दर्शन करते हैं और उनकी ज्ञानज्योति मात्र ज्ञानरूप ही है।[1] ऋग्वेद मे एक अन्य स्थल पर केशी और ऋषभ का एक साथ वर्णन हुआ है।[2] श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव के केशधारी अवधूत के रूप मे परिभ्रमण करने का उल्लेख मिलता है[3]। जैन-मूर्तिकला मे भी ऋषभदेव के वक्रकेशो की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से पायी जाती है। तीर्थंकरो मे मात्र ऋषभदेव की मूर्ति के सिर पर ही कुटिल (वक्र) केश देखने को मिलते हैं, जो कि उनका एक लक्षण माना जाता है। पद्मपुराण[4] एव हरिवशपुराण[5] मे भी उनकी लम्बी जटाओ के उल्लेख पाए जाते हैं। अत उपरोक्त साक्ष्यो के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋषभदेव का ही दूसरा नाम "केशी" रहा होगा।

---

१ ऋग्वेद १०।१३६।१।

२ ऋग्वेद १०।१०२।६।

३ श्रीमद्भागवव ५।५।२८-३१।

४ पद्मपुराण, ३।२८८।

५ हरिवशपुराण, ९।२०४।

पुरातात्त्विक स्रोतो से भी ऋषभदेव के बारे मे सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं। डॉ० राखलदास बनर्जी द्वारा सिन्धुघाटी की सभ्यता की खोज मे प्राप्त सील (मुहर) न० ४८९ पर चित्र लिपि मे कुछ लिखा हुआ है। इसे श्री प्राणनाथ विद्यालकार ने जिनेश्वर 'जिन-इ-इ-सर' पढा है। रामबहादुर चन्दा का कहना है कि सिन्धु घाटी से प्राप्त मुहरो मे एक मूर्ति मथुरा के ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति के समान त्याग और वैराग्य के भाव प्रदर्शित करती है। इस सील मे जो मूर्ति उत्कीर्ण है, उसमें वैराग्य भाव तो स्पष्ट है ही, साथ ही साथ उसके नीचे के भाग मे ऋषभदेव के प्रतीक बैल का सद्भाव भी है।[1]

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने सिन्धु-सभ्यता का अध्ययन करते हुए लिखा कि फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृत मोहन-जो-दडो) कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड्गासन मे खडे हुए देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन तीर्थंकरो की मूर्तियो से विशेष रूप से मिलती है। जैसे—मथुरा से प्राप्त तीर्थंकर ऋषभ की मूर्ति। मुहर सख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अकित देवमूर्ति मे एक बैल ही बना है। सम्भव है कि यह ऋषभ का प्रतीक रूप हो। यदि ऐसा हो, तो शैव-धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।[2]

डॉ० विसेन्ट ए० स्मिथ का कथन है कि मथुरा सम्बन्धी खोजो से यह फलित होता है कि जैन धर्म की तीर्थंकरो की अवधारणा ई० सन् के पूर्व मे विद्यमान थी। ऋषभादि २४ तीर्थंकरो की मान्यता सुदूर प्राचीन काल मे पूर्णतया प्रचलित थी।[3] इस प्रकार ऋषभदेव की प्राचीनता इतिहास के साहित्यिक एव पुरातात्त्विक दोनो साक्ष्यो से सिद्ध है। डॉ० एन० एन० वसु का मन्तव्य है कि ब्राह्मी लिपि का प्रथम आविष्कार सम्भवत. ऋषभदेव ने ही किया था। अपनी पुत्री के नाम पर इसका ब्राह्मी नाम रखा। भागवत मे वे विष्णु के अष्टम अवतार के रूप मे प्रख्यात हुए हैं।[4]

ऋषभ और शिव

सिन्धु घाटी मे मिली मूर्तियो और सीलो की देव मूर्ति का समीकरण

---

१ डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (सागर, १९७४), पृ० १४।

२ हिन्दू सभ्यता (नई दिल्ली, १९५८) पृ० २३।

३ द जैन स्तूप--मथुरा, प्रस्तावना, पृ० ६।

४ हिन्दूविश्वकोश, जिल्द १, पृ० ६४ तथा जिल्द ३, पृ० ४४४।

फिर भी इतना निश्चित है कि आजीवको की परम्परा महावीर और गोशालक के पूर्व भी प्रचलित थी, सम्भव है कि आजीवको की यह परम्परा ऋषभ की परम्परा रही हो। परवर्ती जैन ग्रन्थो मे यह उल्लेख मिलता है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के धर्म मे समानता होती है, वह आकस्मिक नही है। तार्किक आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि महावीर ने पार्श्व की परम्परा की अपेक्षा आजीवको के रूप में जीवित ऋषभ की नग्नतावादी परम्परा को ही प्राथमिकता दी और स्वीकार किया।

जैसा कि हम पूर्व मे सूचित कर चुके हैं, पं० कैलाशचन्द्र जी आदि कुछ जैन विद्वानो ने इन सब उल्लेखो के आधार पर ऋषभ को एक ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयास किया है और उनकी समरूपता शिव के साथ भी स्थापित की गई है। जिसके आधार निम्न हैं—

प्रथम तो ऋषभ और शिव दोनो ही दिगम्बर हैं। शिव का वाहन नन्दी (वृषभ) है तो ऋषभ का लाछन भी वृषभ है। दोनो ध्यान, साधना और योग के प्रवर्तक माने जाते हैं।[1] जहाँ शिव को कैलाशवासी माना गया है, वहाँ ऋषभ का निर्वाण भी कैलाश पर्वत (अष्टापद) पर बताया गया है। इसी प्रकार दोनो वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी, निवृत्ति-मार्गी और ध्यान एव योग के प्रस्तोता हैं। यद्यपि दोनो मे बहुत कुछ समानताएँ खोजी जा सकती हैं, फिर भी परवर्ती साहित्य मे वर्णित दोनो के जीवन-वृत्तो के आधार पर आज यह कहना कठिन ही है कि वे अभिन्न व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्ति हैं, परन्तु इस समग्र चर्चा से इतना निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि ऋषभ को भारतीय समाज और सस्कृति मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। यही कारण है कि हिन्दू परम्परा उन्हे भगवान् के चौबीस अवतारो मे प्रथम मानवीय अवतार के रूप मे स्वीकार करती है।

बौद्ध साहित्य मे धम्मपद मे "उसभ पवर वीर" (४२२) के रूप मे ऋषभ का उल्लेख है, यद्यपि यह शब्द ब्राह्मण का एक विशेषण है अथवा ऋषभ नामक तीर्थंकर को सूचित करता है, यह विवादास्पद ही है।

---

१ "भगवान ऋषभदेवो योगेश्वर ।"—भागवत ५।५।९।
"नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभ ।" —वही ५।५।३५
"योगिकल्पतरु नौमि देवदेव वृषध्वजम् ।" —ज्ञानार्णव १।२

मञ्जुश्री मूलकल्प मे भी नाभि पुत्र ऋषभ और उनके पुत्र भरत का उल्लेख उपलब्ध है।[1]

२ अजित

अजित जैन परम्परा के दूसरे तीर्थंकर माने जाते हैं।[2] इनके पिता का नाम जितशत्रु और माता का नाम विजया था तथा इनका जन्मस्थान अयोध्या माना गया है।[3] इनका शरीर ४०० धनुष ऊँचा और कांचन वर्ण बताया गया है।[4] इन्होने भी अपने जीवन के अन्तिम चरण मे सन्यास ग्रहण कर १२ वर्ष तक कठिन तपस्या की, तत्पश्चात् सर्वज्ञ बने।[5] अपनी ७२ लाख पूर्व वर्ष की सर्व आयु मे इन्होने ७१ लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ धर्म और १ लाख पूर्व वर्ष सन्यास धर्म का पालन किया।[6] इनके संघ मे १ लाख मुनि और ३ लाख ३० हजार साध्वियाँ थी।[7] त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र मे इनके पूर्वभवो का उल्लेख है और इन्हे सगर चक्रवर्ती का चचेरा भाई बताया गया है।

बौद्ध परम्परा मे अजित थेर का नाम मिलता है किन्तु इनकी तीर्थंकर अजित से कोई समानता परिलक्षित नही होती है। इसी प्रकार बुद्ध के समकालीन तीर्थंकर कहे जाने वाले ६ व्यक्तियो मे एक अजितकेशकम्बल भी हैं किन्तु ये महावीर के समकालीन हैं जबकि दूसरे तीर्थंकर अजित महावीर के बहुत पहले हो चुके हैं। डॉ० राधाकृष्णन् की सूचनानुसार ऋग्वेद मे भी अजित का नाम आता है—ये प्राचीन हैं अत इनकी तीर्थंकर अजित से एकरूपता की कल्पना की जा सकती है। किन्तु यहाँ भी मात्र नाम की एकरूपता के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नही है।

---

१ "प्रजापते· सुतोनाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभ पुत्रो वै सिद्ध कर्म दृढ़व्रत ॥"

—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, ३९०

२ नन्दीसूत्र १८

३ सम० १५७, आवश्यकनियुंक्ति ३२३, ३८५, ३८७।

४ समवायाग, गाथा १०७, आवश्यकनि० ३७८, ३७६।

५ आवश्यकवृत्ति २०५-७।

६ आवश्यकनियुंक्ति २७२, २७८, ३०३।

७ वही, २५६, २६०।

३ सभव

सभव वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे तीर्थंकर माने गये हैं।[१] इनके पिता का नाम जितारि एव माता का नाम सेनादेवी था तथा इनका जन्म-स्थान श्रावस्ती नगर माना गया है।[२] इनके शरीर की ऊँचाइ ४०० धनुप, वर्ण काचन और आयु ६० लाख वर्ष पूर्व मानी गई है।[३] इन्होने भी अपने जावन की सध्या वेला मे सन्यास ग्रहण किया और १४ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् साल वृक्ष के नीचे इन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ।[४] इन्होने सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[५] इनकी शिष्य-सम्पदा मे २ लाख भिक्षु और ३ लाख ३६ हजार भिक्षुणियाँ थी।[६] अन्य परम्पराओ मे इनका उल्लेख हमे कही नही मिलता है। त्रिपष्टि-शलाकापुरुपचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो का उल्लेख है।

४ अभिनन्दन

अभिनन्दन जैन परम्परा के चौथे तीर्थंकर माने जाते हैं। इनके पिता का नाम सवर एव माता का नाम सिद्धार्था था तथा इनका जन्म स्थान अयोध्या माना गया है।[७] इनके शरीर की ऊँचाई ३५० धनुष और वर्ण सुनहला बताया गया है।[८] इन्होने जीवन के अन्तिम चरण मे १००० मनुष्यो के साथ सन्यास ग्रहण किया और कठिन तपस्या के बाद सम्मेतपर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया।[९] इन्होने अपनी ५० लाख पूर्व वर्प की आयु मे साढे बारह लाख पूर्व वर्ष कुमार अवस्था मे, साढे छत्तीस लाख पूर्व वर्प गृहस्थ जीवन मे और एक लाख पूर्व वर्ष मे सन्यास धर्म पालन किया। इनको प्रिअक वृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ था।

इनके ३ लाख मुनि और ३० हजार साध्वियाँ थी।[१०] त्रिषष्टिशलाका-

१ समवायाग गा० १५७, नन्दीसूत्र, १८, विशेषावश्यकभाष्य, १७५८
२ वही, १५७, आवश्यकनिर्युक्ति ३८५।
३ वही, १०६, ५९, आवश्यकनिर्युक्ति ३७८, ३७६, २७८।
४ वही, १५७, आवश्यकनिर्युक्ति २५४, ३०२।
५. कल्पसूत्र, २०२, आवश्यकनिर्युक्ति ३०३, ३०७, ३११।
६ समवायाग गा० १५७, आवश्यकनिर्युक्ति, २५६, २६०।
७ वही, १५७, आवश्यकनिर्युक्ति, ३८२।
८ आवश्यकनिर्युक्ति, ३७६।
९ वही, २२५, २८०, ३०३।
१० वही, २५६, २६०।

पुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—महाबल राजा और अनुत्तर स्वर्ग के देव का उल्लेख हुआ है।

५ सुमति

सुमति वर्तमान अवसर्पिणो काल के पाँचवें तीर्थंकर माने गये है।[१] इनके पिता का नाम मेघ एव माता का नाम मगला तथा इनका जन्म स्थान विनय नगर माना गया है।[२] इनके शरीर की ऊँचाई ३०० धनुष और वर्ण काचन माना गया है।[३] इन्होने जीवन की अन्तिम सन्ध्या वेला में सन्यास ग्रहण किया था और १२ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् प्रियगु वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया था।[४] इन्होने अपनी ४० लाख पूर्व वर्ष की सर्व आयु मे १० लाख पूर्व वर्ष कुमारावस्था और २९ लाख पूव वर्ष गृहस्थ जोवन और १ लाख पूर्व वर्ष सन्यास धर्म का पालन किया।[५] इनकी शिष्यसम्पदा मे ३ लाख २० हजार भिक्षु और ५ लाख ३० हजार भिक्षुणियाँ थी। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवो—पुरुषसिंह राजकुमार और ऋद्धिशाली देव का उल्लेख हुआ है।

अन्य परम्पराओ मे हमे इनका कोई उल्लेख नही मिलता है।

६ पद्मप्रभ

जैन परम्परा मे पद्मप्रभ छठवें तीर्थंकर के रूप मे माने जाते है।[६] इनके पिता का नाम धर एवं माता का नाम सुसीमा था तथा इनका जन्म स्थान कौशाम्बी नगर माना गया है।[७] इनके शरीर की ऊँचाई २५० धनुष एव वर्ण लाल बताया गया है।[८] इन्होने कठिन तपश्चरण कर छत्राग वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त किया था।[९] इन्होंने अपनी ३० लाख पूर्व वर्ष

---

१ समवायाग गा० १५७, विशेषावश्यकभाष्य १६६४, १७५८।

२ वही, १०४, १५७, आवश्यकनियुंक्ति ३८३, ३८५, ३८७।

३ आवश्यकनियुंक्ति ३७६, ३७८।

४ समवायाग गा० १५७।

५ आवश्यकनियुंक्ति ३०३, ३०७, ३११, २७२-३०५।

६ कल्पसूत्र, १९९, आवश्यकनियुंक्ति, १०८९।

७ समवायाग गा० १५७, आवश्यकनियुंक्ति, ३८२-३८७

८ वही, १०३, आवश्यकनियुंक्ति, ३७६, ३७८।

९ वही, १५७।

था तथा इनका जन्मस्थान चन्द्रपुर था ।[1] इनके शरीर की ऊँचाई १५० धनुष मानी गई है ।[2] इनके शरोर का वर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत बताया गया है ।[3] इनको नागवृक्ष के नोचे बोधिज्ञान प्राप्त हुआ था ।[4] इनको शिष्य सम्पदा में ढाई लाख भिक्षु और ३ लाख ८० हजार भिक्षुणियाँ थी ।[5] त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—पद्म राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख मिलता है ।

अन्य परम्पराओ में इनका कही भी उल्लेख उपलब्ध नही है ।

९ सुविधि या पुष्पदन्त

सुविधिनाथ जैन परम्परा के नवें तीर्थंकर माने गये हैं ।[6] इनका जन्म काकन्दी नगरी के राजा सुग्रोव के यहाँ हुआ था और इनकी माता का नाम रामा था ।[7] इनके शरीर को ऊँचाई १०० धनुष बताई गयी है[8] । इनके शरीर का वर्ण चमकते हुये चन्द्रमा के समान बताया गया है ।[9] इनको काकन्दी नगरी के बाहर उद्यान मे मल्लिका वृक्ष के नोचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ था[10] तथा २ लाख पूर्व वर्ष आयु व्यतीत करने के पश्चात् निर्वाण लाभ हुआ था ।[11] इनके सघ मे २ लाख साधु एवं ३ लाख साध्वियाँ थी ।[12] अन्य परम्पराओ मे इनका भी उल्लेख नही मिलता है । त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—महापद्म राजा और अहमिन्द्र देव का वर्णन हुआ है ।

---

१ समवायाग गाथा १५७, आवश्यकनियुंक्ति, ३८२, ३८५, ३८७ ।
२ वही गा० १०१, आवश्यकनियुंक्ति, ३७८ ।
३. आवश्यकनियुंक्ति, ३७६ ।
४. समवायाग गा० १५७, स्थानाग, ७३५, आवश्यकनियुंक्ति, २७२-३०७ ।
५ वही, गा० ९३, आवश्यकनियुंक्ति २५७, २६६ ।
६ कल्पसूत्र, १९६, आवश्यकनियुंक्ति १०९१ ।
७ समवायाग गा० १५७, आवश्यकनियुंक्ति, ३८५, ३८८ ।
८ वही, गा० १००, आवश्यकनियुंक्ति, ३८५, ३८८ ।
९ आवश्यकनियुंक्ति, ३७६ ।
१० समवायाग गाथा १५७ ।
११ आवश्यकनियुंक्ति, ३०३, ३०७ ।
१२ वही, २५७, २६१ ।

१० शीतल

शीतल वर्तमान अवसर्पिणी काल के दसवे तीर्थंकर माने गये हैं।[१] इनके पिता का नाम दृढरथ और माता का नाम नन्दा था तथा इनका जन्मस्थान भद्दिलपुर माना गया है।[२] इनके शरीर की ऊँचाई ९० धनुष[३] और वर्ण स्वर्णिम[४] वताया गया है। इन्होने भी अपने जीवन के अन्तिम चरण मे सन्यास ग्रहण कर ३ माह की कठिन तपस्या के पश्चात् पीपल वृक्ष के नीचे वोधि-ज्ञान प्राप्त किया[५] तथा सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[६] इनकी शिष्य सम्पदा मे एक लाख साधु और एक लाख २० हजार साध्वियाँ थी।[७] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवा—पद्मोत्तर राजा और प्राणत स्वर्ग मे वीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप मे जन्म ग्रहण करने का उल्लेख है।

इनका भी उल्लेख अन्य परम्पराओ मे देखने को नही मिलता है।

११ श्रेयास

जैनपरम्परा मे श्रेयास को ग्यारहवें तीर्थंकर के रूप मे माना गया है।[८] इनका जन्म सिहपुर के राजा विष्णु के यहाँ हुआ बताया जाता है। इनकी माता विष्णु देवी थी।[९] इनके शरीर की ऊँचाई ८० धनुष तथा वर्ण स्वर्णिम वताया गया है।[१०] इन्होने २ माह की कठिन तपस्या के बाद तिन्दुक वृक्ष के नीचे वोधि-ज्ञान प्राप्त किया था।[११] इनको भी सम्मेत

---

१ समवायाग गा० १५७, विशेषावश्यकभाष्य, १७५८, १०९१, १११२, आवश्यकनियुक्ति, ३७० ।

२ समवायाग गा० १५७, आवश्यकनिर्युक्ति, ३८३, ३८५ ३८८ ।

३ वही, गा० ९०, आवश्यकनिर्युक्ति, ३७९ ।

४ आवश्यकनिर्युक्ति, ३७६ ।

५ समवायाग, गा० १५७ ।

६ आवश्यकनियुक्ति, ३०७ ।

२ वही, २५७, २६१ ।

८ समवायाग गा० १५७, विशेषावश्यकभाष्य, १७५१, १६६९, १७५८, आवश्यकनियुक्ति, ३७०, ४२०, १०९२ ।

९ समवायाग गा० १५७, आवश्यकनि०, ३८३, ३८५, ३८८ ।

१० वही, गा० ८०, आ० नि० ३७९, ३७६ ।

११ वही, गा० १५७ ।

शिखर पर निर्वाण प्राप्त हुआ था।[1] इनके सघ मे ८४ हजार भिक्षु और १ लाख ६ हजार भिक्षुणियाँ थी।[2] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—नलिनीगुल्म राजा और ऋद्धिमान देव का उल्लेख हुआ है।

अन्य परम्पराओ मे इनका भी उल्लेख उपलब्ध नही है।

१२ वासुपूज्य

वासुपूज्य वर्तमान अवसर्पिणी काल के बारहवे तीर्थंकर माने जाते हैं।[3] इनके पिता का नाम वसुपूज्य एव माता का नाम जया था तथा इनका जन्मस्थान चम्पा माना गया है।[4] इनके शरीर की ऊँचाई ७० धनुष बताई गई है।[5] इनके शरीर का वर्ण लाल बताया गया है।[6] इन्होने भी तपश्चरण कर पाटला वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया था।[7] इनकी शिष्य सम्पदा मे ७२ हजार भिक्षु और एक लाख ३ हजार भिक्षुणियाँ थी।[8] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—पद्मोत्तर राजा और ऋद्धिमान देव का उल्लेख मिलता है।

अन्य परम्पराओ मे इनका भी उल्लेख नही मिलता है।

१३ विमल

जैन परम्परा मे विमल को तेरहवाँ तीर्थंकर माना गया है।[9] इनके पिता का नाम कृतवर्मा एव माता का नाम श्यामा और जन्मस्थान काम्पिल्यपुर माना गया है।[10] इनके शरीर की ऊँचाई साठ धनुष और रग काचन बताया गया है।[11] इन्होने भी अपने जीवन के अन्तिम चरण

---

१ आवश्यकनियुंक्ति, ३०४, ३०७।

२ वही, २५७, २६१।

३ समवायाग, गा० १५७, विशेषावश्यकभाष्य १६५७, १७५८, आ० नि०, ३७०, १०९२।

४ वही, १५७, आवश्यकनि० ३८३, ३८५, ३८८।

५ वही, गा० ७०, आ० नि० ३७९।

६ आवश्यकनियुंक्ति, ३७७।

७ समावायाग, गा० १५७।

८ वही, १५७, आवश्यकनि० २५७, २६१।

९ समवायाग, गा० १५७, वि० आ० भा० १७५८, आ० नि० ३७१, १०९३।

१० वही, १५७, आ० नि० ३८२, ३८८।

११ वही, ६०, आ० नि० ३७९, ३७६।

मे कठिन तपस्या की और जम्बू वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया।[1] अपनी साठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर अन्त मे सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[2] इनके संघ मे ६८ हजार साधु एव एक लाख एक सौ आठ साध्वियो के होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—पद्मसेन राजा और ऋद्धिमान देव का उल्लेख हुआ है।

इनका भी उल्लेख अन्य परम्पराओ मे उपलब्ध नही है।

१४ अनन्त

अनन्त जैन परम्परा के चौदहवे तीर्थंकर माने गये हैं।[4] इनके पिता का नाम सिंहसेन एव माता का नाम सुयशा और जन्मस्थान अयोध्या माना गया है।[5] इनके शरीर की ऊँचाई ५० धनुष और वर्ण कांचन बताया गया है।[6] इनको अशोक वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।[7] इन्होने ३० लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण लाभ किया।[8] इनकी शिष्य सम्पदा मे ६६ हजार भिक्षु और एक लाख आठ सौ भिक्षुणियो के होने का उल्लेख है।[9] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—पद्मरथ राजा और पुष्पोत्तर विमान मे बीस सागरोपम की स्थिति वाले देव का उल्लेख है।

इनका उल्लेख हमे अन्य परम्पराओ मे नही मिलता है।

१५ धर्म

धर्म वर्तमान अवसर्पिणी काल के पन्द्रहवें तीर्थंकर माने गए हैं।[10] इनके पिता का नाम भानु एव माता का नाम सुव्रता और जन्मस्थान रत्नपुर माना गया है।[11] इनके शरीर की ऊँचाई ४५ धनुष और वर्ण

---

१ समवायाग, गा० १५७।

२ कल्पसूत्र, १९२, आ० नि० २७२-३२५, ३२६।

३ समवायाग, गा० १५७।

४ वही, १५७, विशेषावश्यकभा० १७५८।

५ वही, १५७, आ० नि० ३८६, ३८८।

६ वही ५०, आ० नि० ३७९, ३७७।

७ वही १५७।

८ आवश्यकनिर्युक्ति, ३०२-३०५।

९ वही, २५६।

१० समवायाग, गा० १५७, विशेषावश्यकभाष्य १७५९, आ० नि० १०९४।

११ वही, १५७, आ० नि० ३८३, ३८५ ३८८।

स्वर्णिम बताया गया है।[1] इन्होने जीवन की सान्ध्य वेला मे कठिन तपस्या कर दधिपर्ण वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया।[2] इन्होने एक लाख पूर्व वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया। जैन ग्रन्थो के अनुसार इनके सघ मे ६४ हजार साधु एव ६२ हजार ४ सौ साध्वियाँ थी ।[3] त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्व भवो—दृढरथ राजा और अहमिन्द्रदेव का वर्णन उपलब्ध है।

अन्य परम्पराओ में इनका कोई उल्लेख नही मिलता है।

१६ शान्ति

जैन परम्परा मे शान्तिनाथ को सोलहवाँ तीर्थंकर माना गया है।[4] इनके पिता का नाम विश्वसेन एव माता का नाम अचिरा और जन्मस्थान हस्तिनापुर माना गया है।[5] इनके शरीर की ऊँचाई ४० धनुष और वर्ण स्वर्णिम कहा गया है।[6] इन्होने एक वर्ष की कठिन तपस्या के बाद नन्दी वृक्ष के नीचे बोधिज्ञान या केवलज्ञान प्राप्त किया।[7] अपनी एक लाख वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् इन्होने सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[8] इनकी शिष्य सम्पदा मे ६२ हजार भिक्षु और ६१ हजार ६ सौ भिक्षुणियाँ थी, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[9] त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र मे इनके दो पूर्व भवों—मेघरथ राजा और सर्वार्थसिद्धि विमान मे देव बनने का उल्लेख हुआ है।

यद्यपि शान्तिनाथ का उल्लेख बौद्ध एव वैदिक परम्पराओ मे नही मिलता है, किन्तु "मेघरथ" के रूप मे इनके पूर्वभव की कथा हिन्दू पुराणो मे महाराजा शिवि के रूप मे मिलती है।

भगवान् शान्ति अपने पूर्वभव मे राजा मेघरथ थे। उस समय जब वे ध्यान चिन्तन मे लीन थे, एक भयातुर कपोत उनकी गोद मे गिरकर

---

१ वही, ४५, आ० नि० ३७७, ३७९।
२ वही, १५७।
३ आ० नि०, २५६।
४ समवायाग, गा० १५७, उत्तराध्ययन १८।३३, वि० भा० १७५९।
५ वही, १५८, आ० नि० ३८३, ३९८, ३९९।
६ वही, ४०, आ० नि० ३७७, ३९२, ३७९।
७ वही, १५७।
८ कल्पसूत्र, आ नि० २७२-३०४, ३०७, ३०९।
९ समवायाग, गा० १५७, आ० नि० २५८, २६०, २६२।

उनसे अपने प्राणो की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। जैसे ही राजा ने उसे अभयदान दिया, उसी समय एक बाज उपस्थित होता है और राजा से प्रार्थना करता है कि कपोत मेरा भोज्य है, इसे छोड देवें, क्योकि मैं बहुत भूखा हूँ।

राजा उस बाज से कहते हैं कि उदर पूर्ति के लिए हिंसा करना घोर पाप है, अत तुम्हे इस पाप से विरत रहना चाहिए। शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है, अत तुम्हे भी इस पाप से दूर रहना चाहिए, किन्तु बाज पर इस उपदेश का कोई असर न हुआ। अन्त मे बाज कबूतर के बराबर मास मिलने पर कबूतर को छोड देने पर राजी हो गया। राजा मेघरथ ने तराजू के एक पल्डे मे कबूतर को और दूसरे पलड़े मे अपने शरीर से मास के टुकडो को रखना शुरू कर दिया। परन्तु कबूतर वाला पलडा भारी पडता रहा, अन्त मे ज्यो ही राजा उस पलडे मे बैठने को तत्पर हुए उसी समय एक देव प्रकट हुआ और उनकी प्राणिरक्षा की वृत्ति की प्रशसा की। कबूतर एव बाज अदृश्य हो गए। राजा पहले की तरह स्वस्थ हो गए।

इसी तरह की कथा महाभारत के वनपर्व मे राजा शिवि की उल्लिखित है। राजा शिवि अपने दिव्य-सिंहासन पर बैठे हुए थे, एक कबूतर उनकी गोद मे गिरता है और अपने प्राणो की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है—महाराज, बाज मेरा पीछा कर रहा है, मैं आपकी शरण में आया हूँ। इतने मे बाज भी उपस्थित हो जाता है और कहता है कि महाराज, कपोत मेरा भोज्य है, इसे आप मुझे दे दें। राजा ने कपोत देने से मना कर दिया और बदले मे अपना मास देना स्वीकार किया। तराजू के एक पलडे में कपोत और दूसरे मे राजा शिवि अपने दायी जाघ से मास काट-काटकर रखने लगे, फिर भी कपोत वाला पलडा भारी ही पडता रहा। अत स्वयं राजा तराजू के पलडे पर चढ गए। ऐसा करने पर तनिक भी उन्हे क्लेश नही हुआ। यह देखकर बाज बोल उठा—'हो गयी कबूतर की रक्षा', और, वह अन्तर्धान हो गया।

अब राजा शिवि ने कबूतर से पूछा कि वह बाज कौन था, तो कबूतर ने कहा कि वह बाज साक्षात् इन्द्र थे और मैं अग्नि हूँ। राजन्! हम दोनो आपकी साधुता देखने के लिए यहाँ आये थे।

इन दोनो ही कथाओ का जब तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो दिखायी देता है कि दोनो मे ही जीव हिंसा को पाप बताया गया है और अहिंसा के पालन पर जोर दिया गया है। यद्यपि इन दोनो कथाओ मे कथा-

नायक राजा मेघरथ और राजा शिवि के नामो मे भिन्नता है। किन्तु कथा की विषयवस्तु और प्रयोजन अर्थात् प्राणी रक्षा दोनो मे समान है।

१७ कुन्थु

कुन्थुनाथ का जैन परम्परा मे सत्रहवाँ तीर्थंकर माना गया है।[1] इनके पिता का नाम सूर्य एव माता का नाम श्री और जन्मस्थान गजपुर अर्थात् हस्तिनापुर माना गया है।[2] इनके शरीर की ऊँचाई ३५ धनुष और वर्ण काचन वताया गया है।[3] इनको तिलक वृक्ष के नीचे कठिन तपस्या के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।[4] अपनी ९५ हजार वर्ष की आयु पूर्ण करने के वाद इन्होने भी सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[5] इनके सघ मे ६० हजार साधु एव ६० हजार ६ सौ साध्वियो के होने का उल्लेख है।[6] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—सिंहावह राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख है।

इनके विषय मे अन्य परम्पराओ मे कोई उल्लेख नही मिलता है।

१८ अरनाथ

अरनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के अट्ठारहवें तीर्थंकर माने गये हैं।[7] इनके पिता का नाम सुदर्शन एव माता का नाम श्रीदेवी और जन्म-स्थान हस्तिनापुर माना गया है।[8] इनके शरीर की ऊँचाई ३० धनुष और रंग स्वर्णिम वताया गया है।[9] इन्होने जीवन के अन्तिम चरण मे सन्यास ग्रहण कर तीन वर्ष तक कठोर तपस्या की, तत्पश्चात् सर्वज्ञ बने।[10] इनको

---

१ समवायाग गा० १५७, १५८, आ० नि० ३७१, ३७४, ३८४, ३९८, ३९९, ४१८, विशेषावश्यकभाष्य १७५९।

२ समवायाग, १५८।

३ वही, ३५, आ० नि० ३८०, ३७७।

४ वही, १५७।

५ वही, ९५, आ० नि० २७२-३०५, ३०७।

६ आ० नि० २५८।

७ समवायाग, १५७, स्थानाग, ४११, वि० भा० १७५९, आ० नि०, ३७१, ४१८, ४२१, १०९५।

८ समवायाग, गा० १५७-१५८, आ० नि० ३८३, ३९८-९९।

९ वही, ३०, आ०नि० ३८०, ३९३।

१० आवश्यकनिर्युक्ति २२४, २३८।

केवल ज्ञान आम्र के वृक्ष के नीचे प्राप्त हुआ।[1] अपनी ८४ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर इन्होंने भी सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[2] इनकी शिष्य सम्पदा मे ५० हजार साधु एव ६० हजार साध्वियाँ थी ऐसा उल्लेख है।[3] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—धनपति राजा और महर्द्धिक देव का उल्लेख हुआ है।

प० दल्सुख भाई मालवणिया ने 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' की भूमिका मे अर की बौद्धपरम्परा के अरक बुद्ध से समानता दिखाई है। बौद्ध परम्परा मे अरक नामक बुद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध ने पूर्वकाल मे होने वाले सात शास्ता वीतराग तीर्थंकरो की बात कही है। आश्चर्य यह है कि उसमे भी इन्हे तीर्थंकर (तित्थकर) कहा गया है।[4] इसी प्रसग मे भगवान् बुद्ध ने अरक का उपदेश कैसा था वर्णन किया है। उनका उपदेश था कि सूर्य के निकलने पर जैसे घास पर स्थित ओस बिन्दु तत्काल विनष्ट हो जाते हैं, वैसे ही मनुष्य का यह जीवन भी मरणशील होता है इस प्रकार ओस बिन्दु की उपमा देकर जीवन की क्षणिकता[5] बताई गई है। उत्तराध्ययन मे भी एक गाथा इसी तरह की उपलब्ध है—

"कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोव चिट्ठइ लवमाणए।
एव मणुयाण जीविय समय गोयम मा पमायए॥"[6]

इसमे भी जीवन की क्षणिकता के बारे मे कहा गया है। अत भगवान् बुद्ध द्वारा वर्णित अरक का हम जैन परम्परा के अट्ठारहवे तीर्थंकर अर के साथ कुछ मेल बैठा सकते हैं या नही यह विचारणीय है। जैनशास्त्रो के आधार मे अर की आयु ८४००० वर्ष मानी गई है और उनके

---

१ समवायाग, गा० १५७।

२ कल्पसूत्र १८७, आ० नि० २५८-२६३, ३०५, ३०७।

३ आवश्यकनिर्युक्ति, २५८।

४ "भूतपुब्ब भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसितित्थकरो कामेसु वीतरागो मुगपक्ख अरनेमि कुद्दालक हत्थिपाल जोतिपाल अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स खोपन, भिक्खवे सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेसु।"

—अगुत्तर निकाय भा० ३, पृ० २५६-२५७

५ अगुत्तर निकाय, भाग ३, अरकसुत्त, पृ० २५७-५८।

६ उत्तराध्ययन अ० १०।

बाद होने वाले मल्लि तीर्थंकर की आयु ५५ हजार वर्ष है। अतएव पौराणिक दृष्टि से विचार किया जाय तो अरक का समय अर और मल्लि के बीच ठहरता है। इस आयु के भेद को न माना जाय तो इतना कहा ही जा सकता है कि अर या अरक नामक कोई महान् व्यक्ति प्राचीन पुराणकाल मे हुआ था जिन्हे बौद्ध और जैन दोनो ने तीर्थंकर का पद दिया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अरक से भी पहले बुद्ध के मत से अरनेमि नामक एक तीर्थंकर हुए हैं। बौद्ध परम्परा मे बताये गये अरनेमि और जैन तीर्थंकर अर का भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह विचारणीय है नामसाम्य तो आशिक रूप से है ही और दोनों की पौराणिकता भी मान्य है। हमारी दृष्टि मे अरक का सम्बन्ध अर से और अरनेमि का सम्बन्ध अरिष्टनेमि मे जोडा जा सकता है। बौद्ध परम्परा मे अरक का जो उल्लेख हमे प्राप्त होता है उसे हम जैन परम्परा के अर-तीर्थङ्कर के काफी समीप पाते हैं।

१९ मल्लि

"मल्लि" को इस अवसर्पिणी काल का १९ वा तीर्थंकर माना गया है।[1] इनके पिता का नाम कुभ और माता का नाम प्रभावती था। मल्लि की जन्मभूमि विदेह की राजधानी मिथिला मानी गयी है।[2] इनके शरीर की ऊँचाई २५ धनुष और रग सावला माना गया है।[3] सम्भवत जैन परम्परा के अग साहित्य मे महावीर के बाद यदि किसी का विस्तृत उल्लेख मिलता है तो वह मल्लि का है। ज्ञाताधर्मकथा मे मल्लि के जीवनवृत्त का विस्तार से उल्लेख उपलब्ध है। जैनधर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराएँ मल्लि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे विशेष तौर से इस बात को लेकर कि वे पुरुष थे या स्त्री मतभेद रखती हैं। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि मल्लि पुरुष थे, जबकि श्वेताम्बर परम्परा उन्हें स्त्री मानती है। सामान्यतया जैन परम्परा में यह माना गया है कि पुरुष ही तीर्थंकर होता है किन्तु श्वेताम्बर आगम साहित्य मे यह भी उल्लेख है कि इस काल चक्र मे जो विशेष आश्चर्यजनक १० घटनाएँ हुई उनमे महावीर का गर्भापहरण और मल्लि का स्त्रीरूप मे तीर्थंकर होना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

श्वेताम्बर आगम ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार मल्लि के सौन्दर्य पर

---

१ समवायाग, १५७, विशेष० भा० १७५९।

२ समवायाग, १५७, आ० नि० ३८६।

३ समवायाग, गा० २५, ५५, आवश्यकनिर्युक्ति, ३७७, ३८०।

मोहित होकर साकेत के राजा प्रतिबुद्ध, चम्पा के राजा चन्द्रछाग, कुणाल के राजा रुक्मि, वाराणसी के राजा शख, हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु और कम्पिलपुर के राजा जितशत्रु इनसे विवाह करना चाहते थे, किन्तु इन्होने अपने युक्ति बल से छहो को समझाकर वैराग्य के मार्ग पर लगा दिया। इन सभी ने मल्लि के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। मल्लि ने जिस दिन सन्यास ग्रहण किया उसी दिन उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। मल्लि के ४० हजार श्रमण, ५० हजार श्रमणियाँ और १ लाख ८४ हजार गृहस्थ उपासक तथा ३ लाख ६५ हजार गृहस्थ उपासिकाय थी।[1]

जैन परम्परा के अनुसार इन्होने सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[2] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—महाबल राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख हुआ है।

२० मुनिसुव्रत

जैन परम्परा मे बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत माने गए हैं।[3] इनके पिता का नाम सुमित्र एव माता का नाम पद्मावती और जन्मस्थान राजगृह माना गया है।[4] इनके शरीर की ऊँचाई २० धनुष और वर्ण गहरा नीला माना गया है।[5] इन्होने जीवन की सध्यावेला मे चम्पक वृक्ष के नीचे कठोर तपस्या कर केवलज्ञान प्राप्त किया[6] और अपनी ३० हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त किया।[7] इनके सघ मे ३० हजार मुनियो एव ५० हजार साध्वियो के होने का उल्लेख है।[8] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो—सुरश्रेष्ठ राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख है।

इनके विषय मे अन्य परम्पराओ मे कोई उल्लेख उपलब्ध नही है।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, २५८।

२ वही, २७२-३०५, ३०७।

३ समवायाग, गा० १५७, स्थानाग ४११, वि० आ० भा० १७५९।

४ वही, १५७, आ० नि० ३८३।

५ वही, २०, आवश्यकनिर्युक्ति २७७, ३७९।

६ वही, १५७।

७ वही, ३०५, ३२५।

८. वही, २५९, २७८, समवायाग, गा० ५०।

२१. नमि-तीर्थंकर

नमिनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के इक्कीसवें तीर्थंकर माने गये हैं।[1] इनका जन्म मिथिला के राजा विजय की रानी वप्रा की कुक्षि से माना गया है।[2] इनके शरीर की ऊँचाई १५ धनुष और वर्ण काचन माना गया है।[3] इन्होने वोरनली वृक्ष के नीचे कठिन तपस्या कर केवल ज्ञान प्राप्त किया।[4] अपनी १० हजार वर्ष की आयु व्यतीत कर इन्होने निर्वाण प्राप्त किया।[5] इनकी शिष्य सम्पदा मे २० हजार भिक्षु और ४१ हजार भिक्षुणियाँ थी ऐसा उल्लेख है।[6] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके दो पूर्वभवो का उल्लेख है—सिद्धार्थ राजा और अपराजित विमान मे ३३ सागर की आयु वाले देव।

बौद्ध एव हिन्दू परम्पराओ में इनका उल्लेख उपलब्ध है। बौद्ध परम्परा मे नमि नामक प्रत्येकबुद्ध का और हिन्दू परम्परा मे मिथिला के राजा के रूप मे नमि का उल्लेख है।

उत्तराध्ययनसूत्र के ९ वें अध्याय "नमि प्रव्रज्या" मे नमि के उपदेश विस्तार से सकलित हैं। सूत्रकृताग में अन्य परम्परा के ऋषियो के रूप मे तथा उत्तराध्ययन के १८ वें अध्ययन में प्रत्येकबुद्ध के रूप मे भी नमि का उल्लेख है। यद्यपि तीर्थंकर नमि और इन ग्रन्थो मे वर्णित नमि एक ही है यह विवादास्पद है। जैनाचार्य इन्हे भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते है—किन्तु हमारी दृष्टि में वे एक ही व्यक्ति हैं वस्तुत नमि की चर्चा उस युग मे सर्व-सामान्य थी—अत जैनो ने उन्हें आगे चलकर तीर्थंकर के रूप मे मान्य कर लिया। उत्तराध्ययन के 'नमि' तीर्थंकर नमि ही हैं, क्योकि दोनो का जन्म स्थान भी मिथिला ही है।

२२ अरिष्टनेमि-तीर्थंकर

अरिष्टनेमि वर्तमान अवसर्पिणी काल के बाईसवें तीर्थंकर माने गए हैं।[7]

---

१ समवायाग, ३०, ४१, १५८, कल्पसूत्र १८४, स्था० ४११, आ० नि० ३७१, ४१९ वि० आ० भा० १७५९।

२ समवायाग १५७, आ० नि० ३८६, ३८९।

३ वही, १५७, आ० नि० ३८० ३७७।

४ वही, १५७।

५. स्थानाग ७३५, आ० नि० २७२-३०५।

६ आवश्यकनिर्युक्ति, २५८।

७ समवायाग, गा० १५७, उत्त० नि०, पृ० ४९६।

यह पार्श्व के पूर्ववर्ती तीर्थंकर तथा कृष्ण के समकालीन माने गए हैं। इनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा देवी कहा जाता है। इनका जन्म स्थान शौरीपुर माना गया है।[1] इनको ऊँचाई १० धनुप और वर्ण सावला था।[2] त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरित्र मे इनके नौ पूर्वभवो का उल्लेख हुआ है—धनकुमार, अपराजित आदि। इनके एक भाई रथनेमि थे[3] जिनका विशेप उल्लेख उत्तराध्ययन के २२वें अध्याय मे उपलब्ध होता है। राजीमती के साथ इनका विवाह निश्चित हो गया था किन्तु विवाह के समय जाते हुए इन्होंने मार्ग मे अनेक पशु-पक्षियो को एक वाडे मे वन्द देखा तो इन्होंने अपने सारथि से जानकारी प्राप्त की कि यह सब पशु-पक्षी किसलिए वाडे मे वन्द कर दिए गए हैं। सारथि ने वताया कि यह आपके विवाहोत्सव के भोज मे मारे जाने के लिए इस बाडे मे वन्द किए गए हैं। अरिष्टनेमि को यह जानकर बहुत धक्का लगा कि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशु-पक्षियो का वध होगा, अत वे बारात से बिना विवाह किए ही वापस लौट आए तथा विरक्त होकर कुछ समय के पश्चात् सन्यास ले लिया। इनको सन्यास ग्रहण करने के ५४ दिन पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ। राजीमती, जिससे उनका विवाह-सम्बन्ध तय हो गया था, ने भी उनका अनुसरण करते हुए सन्यास ग्रहण कर लिया।

अरिष्टनेमि के १८ हजार भिक्षु और ४० हजार भिक्षुणियाँ थी।[4] इनको निर्वाणलाभ उर्जयन्त शिखर पर हुआ था।[5] अरिष्टनेमि महाभारत के काल मे हुए थे। महाभारत का काल ई० पू० १००० के लगभग कहा जाता है। महाभारत के काल के सम्बन्ध मे मतभेद हो सकता है किन्तु यह सत्य है कि कृष्ण महाभारत काल मे हुए थे और अरिष्टनेमि या नेमिनाथ उनके चचेरे भाई थे। डॉ० फुहरर (Fuhrer) ने जैनो के २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है।[6] अन्य विद्वानो ने भी नेमिनाम को ऐतिहासिक पुरुष माना है। प्रो० प्राणनाथ विद्यालकार ने

---

१ उत्तराध्ययन अ० २२, समवायाग १५७, आ० नि० ३८६।

२ समवायाग, गा० १०, आ० नि०, गा० ३८०, ३७७।

३ (अ) उत्तराध्ययन अध्याय २२, (ब) उत्तराध्ययन नियुक्ति, पृ० ४९६, (स) दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ८७।

४ आवश्यकनियुक्ति, २५८।

५ तिलोयपण्णत्ति, ४।११८५-१२०८।

६ एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १ पृ० ३८९।

काठियावाड मे प्रभासपट्टन नामक स्थान से प्राप्त एक ताम्रपत्र को पढकर बताया है कि वह बाबुल देश (Babylonia) के सम्राट् नेबुशदनेजर ने उत्कीर्ण कराया था, जिनके पूर्वज रेवानगर के राज्याधिकारी भारतीय थे। सम्राट् नेबुशदनेजर ने भारत मे आकर गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ भगवान् की वन्दना की थी। इससे नेमिनाथ की ऐतिहासिकता स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाती है।

जैन परम्परा के अनुसार अरिष्टनेमि कृष्ण के चचेरे भाई थे। अतकृत्दशाग के अनुसार कृष्ण के अनेक पुत्रो और पुत्रियो ने अरिष्टनेमि के समीप सन्यास ग्रहण किया था। जैन आचार्यों ने इनके जीवनवृत्त के साथ-साथ कृष्ण के जीवनवृत्त का भी काफी विस्तार के साथ उल्लेख किया है। जैन हरिवशपुराण मे तथा उत्तरपुराण मे इनके और श्रीकृष्ण के जीवनवृत्त विस्तार के साथ उल्लिखित हैं। ऋग्वेद मे अरिष्टनेमि के नाम का उल्लेख है[1] किन्तु नाम उल्लेख मात्र से यह निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है कि वेदो मे उल्लिखित अरिष्टनेमि जैनो के २२वें तीर्थंकर हैं या कोई और। जैनपरम्परा अरिष्टनेमि को श्रीकृष्ण का गुरु मानती है। इसी आधार पर कुछ विद्वानो मे छान्दोग्य उपनिषद् मे देवकी पुत्र कृष्ण के गुरु घोर अगिरस के साथ अरिष्टनेमि की साम्यता बताने का प्रयास किया है। धर्मानन्द कोशाम्बी का मन्तव्य है कि अगिरस भगवान् नेमिनाथ का ही नाम था।[2] यह निश्चित ही सत्य है कि अरिष्टनेमि और घोर अगिरस दोनो ही अहिंसा के प्रबल समर्थक है[2] किन्तु इस उपदेश साम्यता के आधार पर दोनो को एक मान लेना कठिन है। अरिष्टनेमि की नाम साम्यता बौद्धपरम्परा के अरनेमि बुद्ध से भी देखी जाती है जो विचारणीय है।

२३ पार्श्वनाथ–तीर्थंकर

पार्श्व को वर्तमान अवसर्पिणी काल का तेईसवाँ तीथकर माना गया है।[3] महावीर के अतिरिक्त जैन तीर्थंकरो मे पार्श्व ही एक ऐसे व्यक्ति है जिनको असन्दिग्धरूप से ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा सकता है। इनके

१ ऋग्वेद १।१४।८९।६, १।२४।१८०।१०, ३।४।५३।१७, १०।१२।१७८।१ ।

२ छान्दोग्योपनिपद्, ३।१७।४-६ ।

३. समवायांग, गाथा २४ ।

पिता का नाम अश्वसेन, माता का नाम वामा और जन्मस्थान वाराणसी माना गया है।[1] इनके शरीर की ऊँचाई नौ रत्नि अर्थात् नौ हाथ तथा वर्ण श्याम माना गया है।[2] इनके पिता वाराणसी के राजा थे। जैन कथा साहित्य में हमें इनके दो नाम उपलब्ध होते हैं—अश्वसेन और हयसेन। महाभारत में वाराणसी के जिन राजाओं का उल्लेख उपलब्ध है उनमें से एक नाम हर्यश्व है, सम्भावना की जा सकती है कि हर्यश्व और अश्वसेन एक ही व्यक्ति रहे हों।

पार्श्व की ऐतिहासिकता—डा० सागरमल जैन के अनुसार किसी भी व्यक्ति की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पार्श्व की ऐतिहासिकता के विषय में अभी तक ईसापूर्व का कोई अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है। भारत में प्राप्त अभी तक पढ़े जा सकने वाले प्राचीनतम अभिलेख मौर्य-काल से अधिक प्राचीन नहीं हैं। मौर्यकालीन अभिलेखों में निर्ग्रन्थों का तो उल्लेख है किन्तु पार्श्व का कोई उल्लेख नहीं है।

परम्परागत मान्यताओं के आधार पर पार्श्वनाथ मौर्यकाल से ४०० वर्ष पूर्व हुए हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में अभिलेखीय साक्ष्य ईसा की प्रथम शताब्दी का उपलब्ध है।[3] मथुरा के अभिलेख संख्या ८३ में स्थानीय कुल के गणि उग्गहीनिय के शिष्य वाचक घोष द्वारा अर्हत् पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा को स्थापित करने का उल्लेख है।[4] डा० जैकोबी ने बौद्ध साहित्य के उल्लेखों के आधार पर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए लिखा है कि "बौद्ध निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थ अपने प्रतिद्वन्द्वी अर्थात् बौद्धों की उपेक्षा करते थे। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सम्प्रदाय नहीं था। यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है।"[5]

डा० हीरालाल जैन ने लिखा है—"बौद्ध ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय' 'चतुक्कनिपात' (वग्ग ५) और उसकी 'अट्ठकथा' में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध

---

१. कल्पसूत्र, १५०, समवायांग, गा० १५७, आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ३८४-८९।
२. समवायांग, गा० ९, आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ३८०, ३७७।
३. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ० ६।
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या ८३।
५. Indian Antiquary, Vol. 9th, Page 160.

का चाचा (वप्प शाक्य) निर्ग्रन्थ श्रावक था।[1] अब यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ये निर्ग्रन्थ कौन थे? यह महावीर के अनुयायी तो हो नही सकते क्योकि महावीर बुद्ध के समसामयिक है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि महावीर और बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थो की कोई परम्परा अवश्य रही होगी, जिसका अनुयायी बुद्ध का चाचा था। अत हम कह सकते हैं कि बुद्ध और महावीर के पूर्व पार्श्वापत्यो की परम्परा रही होगी। पालित्रिपिटक साहित्य मे पार्श्वनाथ की परम्परा का एक और प्रमाण यह है कि सच्चक का पिता निर्ग्रन्थ श्रावक था। सच्चक द्वारा महावीर को परास्त करने का आख्यान भी मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि सच्चक और महावीर समकालीन थे। अस्तु सच्चक के पिता का निर्ग्रन्थ श्रावक होना यह सिद्ध करता है कि महावीर के पूर्व भी कोई निर्ग्रन्थ परम्परा थी, जो पार्श्वनाथ की ही परम्परा रही होगी[2] ?

मज्झिमनिकाय के 'महासिंहनादसुत्त' मे बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक कठोर तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाए है—तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। जिनका उन्होने स्वय पालन किया और पीछे उनका परित्याग कर दिया था।[3] इन चारो तपो का महावीर एव उनके अनुयायियो ने पालन किया था। बुद्ध के दीक्षा लेने के समय तक महावीर के निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का प्रवर्तन नही हुआ था। अत यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय अवश्य ही महावीर के पूर्वज पार्श्वनाथ का रहा होगा।

यह सम्भव है कि प्रथम महावीर ने पार्श्वापत्यो की परम्परा का अनुसरण कर एक वस्त्र ग्रहण किया हो, किन्तु आगे चलकर आजीवक परम्परा के अनुरूप अचेलता का अनुगमन कर लिया हो। उत्तराध्ययन मे स्पष्ट रूप से महावीर को अचेल धर्म और पार्श्वनाथ को सचेलक धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।[4] सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि मे मिलने वाले पार्श्वापत्यो के उल्लेखो से और उनके द्वारा महावीर की परम्परा स्वीकार करने सम्बन्धी विवरणो से निर्विवाद रूप से यह सिद्ध

---

१ भारतीय सस्कृति में जैनधर्म का योगदान, मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् १९६२, पृ० २१।

२ अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा पृ० ४।

३ जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० २१२-२१३।

४. उत्तराध्ययन २३।२५-३०।

होता है कि पार्श्वनाथ एक एतिहासिक व्यक्ति थे, काल्पनिक नही। पार्श्व एव उनकी परम्परा की ऐतिहासिकता तथा उनकी दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओ के सन्दर्भ मे पडित सुखलालजी ने अपने ग्रन्थ चार तीर्थंकर मे, पडित दलसुखभाई ने जैनसत्यप्रकाश मे प्रकाशित पार्श्व पर लिखे अपने शोध लेख मे, श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपने ग्रन्थ भगवान् पार्श्व, एक समीक्षात्मक अध्ययन मे और डॉ नागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ अर्हत पार्श्व और उनकी परम्परा पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है विद्वान् पाठकगण उसे वहां देख सकते है।

यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि हिन्दू और बौद्ध साहित्य मे कही भी पार्श्व के नाम का उल्लेख नही है जब क प्राचीन जैन आगम साहित्य के अनेक ग्रन्थ यथा ऋषिभाषित, सूत्रकृताग भगवती, उत्तराध्ययन कल्प-सूत्र आदि मे पार्श्व और उनके अनुयायियो के उल्लेख मिलते हैं। ऋषि-भाषित आदि तो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचना है उसमे इनका उल्लेख इनकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करता है। बौद्ध पालि त्रिपिटक साहित्य मे भी जिन चातुर्यामो का उल्लेख मिलता है उनका सम्बन्ध पार्श्वनाथ की परम्परा से है। पार्श्वनाथ ने विशेषरूप से देह-दडन की प्रक्रिया की आलोचना की तथा ज्ञान सम्बन्धी और विवेकयुक्त तप को ही श्रेष्ठ बताया। जैनपरम्परा मे पुरुषादानीय के रूप मे इनका बडे आदर के साथ उल्लेख पाया जाता है। जैनपरम्परा मे पार्श्व को महावीर से भी अधिक महत्त्व प्राप्त है। उन्हे विघ्न-हरण करनेवाला बतलाया गया है। उनके यक्ष का नाम पार्श्व बतलाया गया है और उसकी आकृति हिन्दू परम्परा के गणेश के समान मानी गई है जो कि विघ्नहारी देवता हैं। पार्श्वनाथ का विहार-क्षेत्र अमलकप्पा, श्रावस्ती, चम्पा, नागपुर, साकेत, अहिच्छत्र, मथुरा, काम्पिल्य, राजगृही, कौशाम्बी, हस्तिनापुर आदि रहा है। जैनमान्यता के अनुसार इन्होने सम्मेत शिखर पर्वत पर सौ वर्ष की आयु मे परिनिर्वाण प्राप्त किया था। आज भी सम्मेतशिखर पार्श्व-नाथ पहाड़ के नाम से जाना जाता है। पार्श्वनाथ के सोलह हजार भिक्षु और अडतिस हजार भिक्षुणियाँ थी। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मे इनके १० पूर्व भवो का उल्लेख है। यह माना जाता है कि महावीर ने पार्श्व-नाथ की परम्परा की मान्यताओ को देश और काल के अनुसार सशोधित कर नए रूप से प्रस्तुत किया। प्राचीन जैन साहित्य को देखने पर यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भ मे पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा मे

मतभेद रहा किन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा में विलीन हो गई।

पार्श्व का अवदान

भारतीय सस्कृति मे श्रमण धारा का आवश्यक घटक तप एव त्याग को माना गया है और यही इसकी प्रतिष्ठा का कारण रहा है। पार्श्वनाथ इसी श्रमण परम्परा के प्रतिपादक हैं। भारतीय सस्कृति को पार्श्व के अवदान की चर्चा करते हुए डॉ० सागरमल जैन लिखते है कि यद्यपि श्रमणो ने वैदिको के हिंसक यज्ञ-यज्ञो का विरोध किया ही साथ ही उनके कर्मकाण्डीय प्रथा का भी बहिष्कार किया था। फिर भी श्रमण धारा में कर्मकाण्ड प्रविष्ट कर ही गया था, क्योकि उनके तप और त्याग विवेक प्रधान न रहकर रूढिवादी कर्म-काण्डीय प्रथा के अनुरूप बन गए थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ के युग मे श्रमण धारान्तर्गत तप और त्याग के साथ कर्म-काण्ड पूरी तरह जुड गया था और तप देहदण्डन और बाह्याडम्बर मात्र रह गया। कठोरतम देहदण्डन द्वारा लोक मे प्रतिष्ठा पाना श्रमणो और सन्यासियो का एकमात्र उद्देश्य बन गया था। सम्भवत उपनिषदो की ज्ञानमार्गी धारा अभी पूर्णतया विकसित नही हो पायी थी, तदर्थ पार्श्वनाथ ने देहदण्डन और कर्मकाण्ड दोनो का विरोध किया। कमठ तापस के देहदण्डन की आलोचना करते हुए उन्होने कहा कि तुम्हारी इस साधना मे आध्यात्मिक आनन्दानुभूति कहाँ है? इसमे न तो स्वहित ही है और न परहित अथवा लोकहित ही। एक ओर तो तुम स्वयं अग्नि द्वारा अपने शरीर को झुलमा रहे हो तो दूसरी ओर अनेक छोटे-बडे जीव-जन्तुओ को भी जला रहे हो, मात्र यही नही इस लक्कड के टुकडे में नाग-युगल भी जल रहा है। उनकी इस बात की पुष्टि हेतु लक्कड को चीरकर नाग-युगल के प्राणो की रक्षा की गई। इससे यह बोध होता है कि पार्श्व के अनुसार वह साधना जो आत्म-पीडन और पर-पीडन से जुडी हो सच्चे अर्थों मे साधना नही कही जा सकती। साधना मे ज्ञान और विवेक का होना आवश्यक है। देह-दण्डन जिसमे ज्ञान और विवेक के तत्त्व नही हैं आत्म-पीडन से अधिक कुछ नही है। देह को पीडा देना साधना नही है। साधना से तो मनोविकारो मे निर्मलता आती है एव आत्मा मे सहज आनन्द की अनुभूति होती है। पार्श्वनाथ की यह शिक्षा, हो सकता है कि कमठ जैसे तापसो को अच्छी नही लगी हो, किन्तु इसमें एक सत्य निहित है। धर्म साधना को न तो आत्मपीडन के साथ

जोडना चाहिए और न पर-पोडन के साथ। वासना एव विकारो से मुक्ति ही वास्तविक अर्थ मे मुक्ति है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ ने अपने युग मे एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति के द्वारा साधना को सहज बनाकर ज्ञान और विवेक के तत्त्व को प्रतिष्ठित किया होगा। इस प्रकार पार्श्व ने धम और साधना को पर-पीडन और आत्म-पीडन से मुक्त करके आत्म शोधन या निर्विकारता की साधना के साथ जोडने का प्रयास किया है और उनकी यही शिक्षा भारतीय सस्कृति और श्रमण परम्परा को सबसे बडा अवदान कहा जा सकता है।

पार्श्व का धर्म एव दर्शन

ऋषिभाषित (ई० पू० तीसरी-चौथी शती) मे पार्श्व के दार्शनिक मान्यताओ और धार्मिक उपदेशो का उल्लेख उपलब्ध हो जाता है। हम उसी अध्याय के आधार पर उनके धर्म एव दर्शन को सक्षेप मे प्रस्तुत कर रहे हैं—पार्श्व ने लोक को पारिमाणिक नित्य माना है। उनके अनुसार लोक अनादि काल से है, यद्यपि उसमे परिवर्तन होते रहते हैं। उनके अनुसार जीव और पुद्गल दोनो ही परिवर्तनशील हैं। पुद्गल मे परिवर्तन स्वाभाविक होते हैं जबकि जीव मे परिवर्तन कर्म जन्य होते हैं। वे यह भी कहते हैं कि व्यक्ति हिंसा, असत्य आदि पाप कर्मो के माध्यम से अष्ट प्रकार की कर्म ग्रन्थियो का सृजन करता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति चातुर्याम धर्म का पालन करता है, वह अष्ट प्रकार की कर्म-ग्रन्थि का सृजन नही करता है और फलत नारक, देव, मनुष्य और पशु गति को प्राप्त नही होता है। ऋषिभाषित मे उपलब्ध पार्श्व के उपदेशो से ऐसा लगता है कि जैन दर्शन की पचास्तिकाय की अवधारणा, अष्टकर्म का सिद्धान्त और चातुर्याम धर्म का पालन ये पार्श्व की मूलभूत मान्यतायें थी। पार्श्व के दर्शन और चिन्तन के कुछ रूप हमे पार्श्व के अनुयायियो की महावीर और उनके शिष्यो के साथ हुई परिचर्चा से प्राप्त हो जाते हैं।

भगवती, उत्तराध्ययन आदि मे उपलब्ध पार्श्व की परम्परा के चिन्तन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पार्श्व की परम्परा मे तप, सयम, आस्रव और निर्जरा की सुव्यवस्थित अवधारणा थी। पार्श्व की अन्य

---

१ अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा—पृ० २१।

समस्त अवधारणाओ के सन्दर्भ मे डॉ० सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा मे विस्तार से विचार किया है, वे लिखते हैं कि "सत् का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना, पचास्तिकाय की अवधारणा, अष्ट प्रकार की कर्म ग्रन्थियाँ, शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ विपाक, कर्म विपाक के कारण चारो गतियो मे परिभ्रमण तथा सामायिक, सवर, प्रत्याख्यान, निर्जरा, व्युत्सर्ग आदि सम्बन्धी अवधारणायें पार्श्वापत्य परम्परा मे स्पष्ट रूप से उपस्थित थी।"[1]

२४ वर्धमान महावीर

महावीर वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीसवें और अतिम तीर्थंकर माने जाते हैं।[2] इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला कहा जाता है, इनका जन्मस्थान कुण्डपुर ग्राम बताया गया है।[3] महावीर के जीवनवृत्त को लेकर जैनो की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओ मे अनेक बातो मे मतभेद हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का जीव सर्वप्रथम ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आया था और उसके पश्चात् इन्द्र के द्वारा उनका गर्भापहरण कराकर उन्हें सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की कुक्षि में प्रतिस्थापित किया गया।[4] दिगम्बर परम्परा इस कल्पना को सत्य नही मानती है। महावीर के विवाह प्रसग को लेकर भी श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओ मे मतभेद हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का विवाह हुआ था। उनको पुत्री प्रियदर्शना थी, जिसका विवाह जामालि से हुआ था।

दोनो परम्पराओ के अनुसार उनके शरीर की ऊँचाई सात हाथ तथा वर्ण स्वर्ण के समान माना गया है।[5] दोनो परपराएँ इस बात मे भी सहमत है कि महावीर ने तीस वर्ष की आयु मे सन्यास ग्रहण किया था, यद्यपि उनके सन्यास ग्रहण करते समय उनके माता-पिता जीवित थे या मृत्यु का प्राप्त हो गए थे, इस बात को लेकर पुन. मतभेद है, श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने गर्भस्थकाल मे की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् ही अपने भाई नन्दी से

१ इसिभासियाइ अध्याय ३१।
२ समवायाग, गा० २४, १५७।
३ कल्पसूत्र २१।
४ वही, २१-२६।
५ समवायाग गा० ७, आवश्यकनिर्युक्ति, ३७७।

सम्भवत महावीर को निगंठ (निर्ग्रन्थ) ज्ञातृवंशीय क्षत्रीय होने के कारण नातपुत्त कहा गया हो।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ ने महावीर को कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ का पुत्र माना है। दिगम्बर ग्रन्थो तिलोयपण्णत्ति, दशभक्ति और जयधवला मे सिद्धार्थ को 'णाह वंश या नाथ वंश का क्षत्रिय कहा गया है'[1] और श्वेताम्बर ग्रन्थ सूत्रकृताग मे 'णाय' कुल का उल्लेख है।[2] इसी कारण से महावीर को णाय कुल चन्द और णाय पुत्त कहा गया है।

णाह, णाय, णात शब्द एक ही अर्थ के वाचक प्रतीत होते हैं। इसीलिए 'बुद्धचर्या' मे श्री राहुल जी ने नाटपुत्त का अर्थ—ज्ञातृपुत्र और नाथ पुत्र दोनो किया है।

अस्तु यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बौद्ध ग्रन्थो के निगथ 'नाटपुत्त' कोई और न होकर महावीर ही थे। जिस प्रकार शाक्य वंश मे जन्म होने के कारण बुद्ध के अनुयायी 'शाक्यपुत्रीय श्रमण' कहे जाते थे।[3] इस तरह महावीर के अनुयायी 'ज्ञातृपुत्रीय निर्ग्रन्थ' कहे जाते थे।[4]

श्री बुहलर ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन सेक्ट आफ दी जैनास्' में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"बौद्ध पिटको का सिंहली संस्करण सबसे प्राचीन माना जाता है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे उसको अन्तिम रूप दिया गया ऐसा विद्वानो का मत है। उसमे बुद्ध के विरोधी रूप मे निगठो का उल्लेख है। संस्कृत मे लिखे गए उत्तरकालीन बौद्ध साहित्य मे भी निर्ग्रन्थो को बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी बतलाया गया है।

(स) अगुत्तर निकाय, पचकनिपात ५।२८।८।१७।

(द) मज्झिम निकाय, उपातिसुत्त २।१।६।

१ (अ) कुण्डपुरवरिस्सरसिद्धत्थक्खत्तियस्स णाह कुले।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए ॥२३॥—जयधवला, भा० १, पृ० ७८।

(ब) 'णाहोग्गवंसेसु वि वीर पासा' ॥५५०॥ तिलोयपण्णत्ति, अ० ४।

(स) 'उग्रनाथौ पार्श्व वीरौ'—दशभक्ति पृ० ४८।

२ 'णातपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमे'—सूत्रकृताग १ श्रु०, अ०, १ उ०।

३ बुद्धचर्या पृ० ५५१।

४ वही पृ० ४८१।

उन निगठो या निग्रन्थो के प्रमुख को पालि मे नाटपुत्त और सस्कृत मे ज्ञातृपुत्र कहा गया है। इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि नाटपुत्त या ज्ञातृपुत्र जैन सम्प्रदाय के अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान एक ही व्यक्ति है।[१]

बौद्ध त्रिपिटक और अन्य बौद्ध साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी वर्धमान (नाटपुत्त) बहुत ही प्रभावशाली थे और उनका धर्म काफी फैल चुका था।[३]

महावीर युग की धार्मिक मान्यताए

ईसा पूर्व की छठी पाँचवी शताब्दी धार्मिक आन्दोलन का युग था। उस समय भारत मे ही नही सम्पूर्ण एशिया मे पुरानी धार्मिक मान्यतायें खण्डित हो रही थी और नए-नए मतो या सम्प्रदायो का उदय हो रहा था। चीन मे लाओत्से और कन्फ्यूसियस, ग्रीस मे पाइथागोरस, सुकरात और प्लेटो तथा ईरान और परसिया मे जरथुस्त्र आदि अपनी नई-नई दार्शनिक विचार-धारायें प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसे समय मे जबकि प्रत्येक मत 'सय सय पससत्ता गरहता पर वय' अर्थात् अपने पन्थ एव मान्यताओ को श्रेष्ठ बताकर दूसरो की निन्दा कर रहा था, उस समय विभिन्न मतो के आपसी वैमनस्य को दूर करने के लिए वर्धमान महावीर ने अनेकान्त दर्शन की विचारधारा प्रस्तुत की थो।

बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात मे उल्लेख है कि उस समय ६३ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान थे।[४] जैन ग्रन्थ सूत्रकृताग, स्थानाग और भगवती मे भी उस युग के धार्मिक मतवादो का उल्लेख उपलब्ध है।[५] सूत्रकृताग मे उन सभी वादो का वर्गीकरण निम्न चार प्रकार के समवसरण मे किया गया है[६]—

---

१ इन्डियन सेक्ट आफ दी जैनास्, पृ० २९।

२ वही, पृ० ३६।

३ सूत्रकृताग १।१।२।२३।

४ यानि च तीणि यानि च सट्ठि। सुत्तनिपात, समियसुत्त।

५ (अ) स्थानाग ४।४।३४५। (ब) भगवती ३०।१।८२४।

६ किरिय अकिरिय विणियति तइय अन्नणामहसु च उत्थमेव। सूत्रकृताग १।१२।१।

१—क्रियावाद, २—अक्रियावाद, ३—विनयवाद, ४—अज्ञानवाद।

क्रियावाद—क्रियावादियो का कहना है कि आत्मा पाप-पुण्य आदि का कर्त्ता है।

अक्रियावाद—सूत्रकृताग मे अनात्मवाद, आत्मा के अकर्तृत्ववाद, मायावाद, और नियतवाद को अक्रियावाद कहा गया है।[1]

विनयवाद—विनयवादी बिना भेदभाव के सबके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करता है अर्थात् सबका विनय करना ही उनका सिद्धान्त है।

अज्ञानवाद—अज्ञानवादियो का कहना है कि पूर्ण ज्ञान किसी को होता नही है और अपूर्ण ज्ञान ही भिन्न मतो की जननी है अर्थात् ज्ञानोपार्जन व्यर्थ है और अज्ञान मे ही जगत् का कल्याण है।

सूतकृताग के अनुसार अज्ञानवादी तर्क करने मे कुशल होने पर भी असबद्ध-भाषी है। क्योकि वे स्वयं सन्देह से परे नही हो सके हैं।[2]

जैन आगम ग्रन्थ उत्तराध्ययन मे कहा गया है कि क्रियावाद ही सच्चा पुरुषार्थवाद है, वही धीर पुरुष है जो क्रियावाद मे विश्वास रखता है और अक्रियावाद का वर्णन करता है।[3]

जैन दर्शन को सम्यक् क्रियावादी इसलिए कहा गया है, क्योकि वह एकान्त दृष्टि नही रखता है। आत्मा आदि तत्त्वो मे विश्वास करने वाला ही क्रियावाद (अस्तित्ववाद) का निरूपण कर सकता है।[4]

आचाराग मे भी महावीर के समकालीन चार वादो का उल्लेख भिन्न प्रकार से उपलब्ध है—'आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी और किरियावादी।'[5] निशीथचूर्णि मे महावीर के युग के निम्न दर्शन एव दार्शनिको का उल्लेख है[6]—

१—आजीवक, २—ईसरमत, ३—उलूग, ४—कपिलमत, ५—कविल, ६—कावाल, ७—कावालिय, ८—चरग, ९—तच्चन्निय, १०—परिव्वायग, ११—पडुरग, १२—बोडित, १३—भिच्छुग, १४—भिक्खू, १६—वेद,

---

१ सूत्रकृताग १।१२।४-८।

२ वही, १।१२।२।

३ उत्तराध्ययन १८।३३।

४ सूत्रकृताग १।१०।१७।

५ आचाराग सटीक श्रु० १, अ० १, उद्दे० १, पत्र २०।

६ निशीथसूत्र सभाष्य, चूर्णि भाग १, पृ० १५।

१७—नवक १८—नग्नत्व, १९—मुतिवादी, २०—मेनवड, २१—मेघ-भिक्खु २२—शाक्यमन, २३—हट्टुनरत्व।

बौद्ध सम्प्रदाय में बुद्ध के समकालीन निम्न छह श्रमण सम्प्रदायों एव उनके प्रतिपादक आचार्यों का उल्लेख है।[1]

१. अक्रियावाद—पूरणकाश्यप
२ नियतिवाद—मक्खलिगोशालक
३. उच्छेदवाद—अजितकेशकंबलि
४ अन्योन्यवाद--प्रकुधकात्यायन
५ चातुर्यामसंवरवाद—निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र
६ विक्षेपवाद—सजय वेलट्ठिपुत्र

बौद्ध साहित्य में अन्य उपरोक्त ६ आचार्यों को तीर्थंकर कहा गया है। इनमें एक निगण्ठनाटपुत्त स्वय महावीर ही हैं।[2]

महावीर के उपदेश और उनका वैशिष्ट्य

जैनों के अनुसार तीर्थंकर महावीर ने किसी नये दर्शन या धर्म की स्थापना नहीं की, अपितु पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ परम्परा में प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं और आचार सम्बन्धी व्यवस्थाओं को किञ्चित् संशोधित कर प्रचारित किया। विद्वानों की यह मान्यता है कि महावीर की परम्परा में धर्म और दर्शन सम्बन्धी विचार जहाँ पार्श्वनाथ की परम्परा से गृहीत हुए, वहीं आचार और साधना विधि को मुख्यतया आजीवक परम्परा से गृहीत किया गया। जैन ग्रन्थों से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि महावीर ने पार्श्वनाथ की आचार परम्परा में कई संशोधन किए थे। सर्वप्रथम उन्होंने पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य को जोड़कर पच महाव्रतों या पचयाम धर्म का प्रतिपादन किया। पार्श्वनाथ की परम्परा में स्त्री को परिग्रह मानकर परिग्रह के त्याग में ही स्त्री का त्याग भी समाहित मान लिया जाता था। किन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों ने उसकी गलत ढग से व्याख्या करना शुरू किया और कहा कि परिग्रह के त्याग में स्त्री का त्याग तो हो जाता है किन्तु बिना विवाह के बन्धन में बधे स्त्री का भोग तो किया जा सकता है, और उसमें कोई दोष नहीं है। अत महावीर ने स्त्री के भोग के निषेध के लिए ब्रह्मचर्य की स्वतन्त्र व्यवस्था की। महावीर ने पार्श्व की पर-

---

१ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

२ वही (हिन्दी अनुवाद), पृ० २१ का सार।

म्पराओं मे अनेक सुधार किए जैसे उन्होंने मुनि की नग्नता पर बल दिया, दुराचरण के परिशोधन के लिए प्रात कालीन और सायकालीन प्रतिक्रमण की व्यवस्था की। उन्होंने कहा चाहे अपराध हुआ हो या न हुआ हो प्रतिदिन प्रात काल और सायकाल अपने दोषो की समीक्षा तो करनी चाहिए। इसी प्रकार औद्देशिक आहार का निषेध, चातुर्मासिक व्यवस्था और नवकल्प विहार आदि ऐसे प्रश्न थे, जिन्हे महावीर की परम्परा मे आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया था। इस प्रकार महावीर ने पार्श्व-नाथ की ही परम्परा को संशोधित किया था। महावीर के उपदेशो की विशिष्टता यही है कि उन्होंने ज्ञानवाद की अपेक्षा भी आचार-शुद्धि पर अधिक बल दिया और किसी नये धर्म या सम्प्रदाय की स्थापना के स्थान पर पूर्व प्रचलित निर्ग्रन्थ परम्परा को ही देश और काल के अनुसार सशोधनो के साथ स्वीकार कर लिया। महावीर के उपदेशो मे रत्नत्रय की साधना मे पचमहाव्रतो का पालन, प्रतिक्रमण, परिग्रह का सर्वथा त्याग, कठोर तप साधना आदि कुछ ऐसी बातें जो निर्ग्रन्थ परम्परा मे महावीर के योगदान को सूचित करती हैं। इस प्रकार महावीर पार्श्व की निर्ग्रन्थ परम्परा मे देश और काल के अनुसार नवीन सशोधन करने वाले कहे जा सकते हैं। वे किसी नवीन धर्म के सस्थापक नही अपितु पूर्व प्रचलित निर्ग्रन्थ परम्परा के सशोधक या सुधारक हैं।

११ तीर्थंकर और लोक कल्याण

जैन धर्म मे तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकारी, लोकप्रदीप, अभयदाता आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

जैनाचार्यो ने स्पष्टरूप से यह स्वीकार किया है कि समय-समय पर धर्म चक्र का प्रवर्तन करने हेतु तीर्थंकरो का जन्म होता रहता है। सूत्र-कृताग टीका में कहा गया है कि तीर्थंकरो का प्रवचन एवं धर्म प्रवर्तन प्राणियो के अनुग्रह के लिए होता है, पूजा एव सत्कार के लिए नही।[1] जैनधर्म में यद्यपि तीर्थंकर को लोकहित करने वाला बताया गया है, फिर भी उनका उद्देश्य सज्जनो का सरक्षण एव दुष्टो का विनाश नही है। क्योंकि यदि वे दुष्टो का विनाश करते हैं तो उनके द्वारा प्रदर्शित अहिंसा का चरमादर्श खण्डित होता है, साथ ही सज्जनो की रक्षा एवं दुष्टो का विनाश के प्रयत्न निवृत्तिमार्गी साधनापद्धति के अनुकूल नही है। लोक परित्राण अथवा लोककल्याण तीर्थंकरो के जीवन का लक्ष्य अवश्य रहा

१ सूत्रकृताग टीका १।६।४।

समुद्धारक है, अन्य कोई नही। पाप से विमुक्ति की शक्ति तीर्थंकर के नाम मे न होकर उसके निमित्त से भक्त की, जो आत्मविशुद्धि होती है, उसमे है।

१२ जैन धर्म मे भक्ति का स्थान

जैनधर्म मे भक्ति का अत्यधिक माहात्म्य है एव प्रत्येक जैन साधक का यह परम कर्तव्य है कि वह आदर्श पुरुष के रूप मे तीर्थंकरो की स्तुति करे। भक्तिमार्ग की नामस्मरण या जपसाधना से जैनो की स्तुति का स्वरूप बहुत हद तक मिलता है। साधक स्तुति अथवा उपासना के द्वारा अपने अहकार का विनाश कर सद्गुणो के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है। यद्यपि हमे यह बात स्पष्टरूप से जान लेनी चाहिए कि जैन साधना मे जिन महापुरुषो की स्तुति की जाती है उनसे किसी प्रकार के लाभ की आशा करना व्यर्थ है, क्योकि तीर्थंकर किसी को कुछ नही दे सकते। वे तो मात्र साधना या उपासना के आदर्श हैं। तीर्थंकर न तो किसी को ससार-सागर से पार करते हैं और न किसी प्रकार की भौतिक उपलब्धि में सहायक ही होते हैं। मात्र स्तुति के माध्यम से साधक को उनके गुणो के प्रति श्रद्धा दृढभूत होती है, साधक के समक्ष उनका महान् आदर्श मूर्तरूप मे उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार साधक तीर्थंकरो के स्मरण से अपने अन्तर मे आध्यात्मिक पूर्णता के भावो की ज्योति प्रज्ज्वलित करता है और विचार करता है कि मेरी आत्मा भी तीर्थंकरो की आत्मा के समान है, मैं भी यदि वैसी ही साधना करूँ तो तीर्थंकर बन सकता हूँ। मुझे अपने पुरुषार्थ से तीर्थंकर बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

यद्यपि गीता[1] के कृष्ण की तरह तीर्थंकर कोई उद्घोषणा नही करता कि तुम मेरी भक्ति करो, मैं तुम्हे सर्व पापो से मुक्त कर दूँगा। फिर भी आचाराग "आणाये मामग धम्म" अर्थात् मेरी आज्ञा के पालन मे धर्म है यह कहकर उनके आदेशो के अनुपालन का निर्देश अवश्य करता है। सूत्र-कृताग मे भी महावीर को भय से रक्षा करने वाला कहा गया है।[2] फिर भी जैन तीर्थंकर प्रत्यक्ष रूप से अपने भक्त को किसी उपलब्धि मे सहायक नही होते है।

---

१ गीता १८/६६

२ सूत्रकृताग १/६६

यद्यपि जैन तीर्थंकर धर्म पालन का निर्देश देता है किन्तु गीता के कृष्ण की भाँति अपने उपासक या भक्त को पाप पक से उबार लेने का आश्वासन नही देता है, क्योकि वह तो निष्क्रिय व्यक्ति है। वह तो स्पष्ट शब्दो मे कहता है कि मनुष्य को अपने कृत कर्मो क भोग के बिना मुक्ति नही मिल सकती। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मो का लेखा-जोखा स्वय ही पूरा करना है। भले ही तीर्थंकर नाम जप से पापो का प्रक्षालन होता हो किन्तु तीर्थंकर मे ऐसी कोई शक्ति नही कि वह अपने भक्त को पीडाओ से उबार सके, उसके दु ख कम करके उसको पापो से मुक्ति दिला सके। जैनधर्म का तीर्थंकर, हिन्दूधर्म के अवतार के अर्थ में अपने भक्त का त्राता नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्टरूप से यह बात कही थी कि हम तीर्थंकर की स्तुति इसलिए नही करते कि उसकी स्तुति करने या नही करने से वह कोई हित या अहित करेगा। वे कहते हैं—

"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्त वैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृ तर्न पुनातु चेते दुरिताजनेभ्य ॥"[1]

अर्थात् हे प्रभु ! तेरी प्रशसा करने से भी कोई लाभ नही, क्योकि तू वीतराग है, अत स्तुति करने पर प्रसन्न नही होगा। तेरी निन्दा करने मे भी कोई भय नही है, क्योकि तू तो विवान्त वैर है, अत निन्दा करने पर नाराज नही होगा। फिर भी हम तेरी स्तुति इसलिए करते हैं कि तेरे पुण्य गुणो के स्मरण के द्वारा हमारा चित्त दुर्गुणो से पवित्र हो जाता है। इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए श्रीमत् देवचन्द्र ने कहा है[2]—"जिस प्रकार भेडो के समूह मे पला हुआ सिह शावक, सिह को देखकर अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है उसी प्रकार भक्त आत्मा भी प्रभु की भक्ति के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को पहचान लेता है। इसका बोध तो स्वय भक्त को करना है उपास्य तो वहाँ निमित्त मात्र है।"

इस प्रकार जैनधर्म मे तीर्थङ्कर तो मात्र आदर्श या निमित्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है कि स्तवन (भक्ति) से व्यक्ति की दर्शन-

---

१ स्वयम्भूस्तोत्र

२ "अज कुल-गत केशरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल ।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहेरे, आतमशक्ति सभाल ॥
—अजित जिनस्तवन

ाहु ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि
,ज नष्ट हो जाता है।[2] यद्यपि इसका
ाकर व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशुद्धि

न्त की अवधारणा का एकमात्र उद्देश्य
ाक्षात्कार करना है। आचार्य कुन्दकुन्द
ा का सतत प्रयत्न ही भक्ति है। निर्वाण
या स्मरण करना व्यावहारिक भक्ति है,
कर विशुद्ध आत्मतत्त्व से जुड जाना
मे कहा गया है कि सभी तीर्थङ्करो ने
प्राप्त किया है। इस प्रकार जैनधर्म मे
क्त या आत्मस्तवन ही है।

क माहात्म्य है। कभी तो ऐसा भी प्रतीत
न ही श्रद्धा को प्रथम स्थान पर और
ा है अर्थात् यह मानता है कि श्रद्धा के
ह् हो जाता है। फिर भी जैनधर्म मे श्रद्धा
नही कर सको।

अपेक्षा ज्ञान एव दर्शन (श्रद्धा) को प्राथ-
और ज्ञान की पूर्वापरता को लेकर जैना-
कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक मानते
को समानान्तर मानते हैं। यद्यपि ज्ञान-
की प्राथमिकता ही प्रवल ठहरती है।
कि दर्शन के विना ज्ञान नही होता।[3]
र्थ मे है। अनुभूति के अर्थ मे दर्शन को
गई है। यद्यपि दर्शन के श्रद्धापरक अर्थ
त्त्वार्थसूत्र में दर्शन को ज्ञान और चारित्र

ायइ ॥ उत्तराध्ययन, २९/१०।
।
सूत्र, २८/३०

की अपेक्षा प्रथम स्थान दिया है।[१] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी दर्शनप्राभृत मे 'दमणमूलो धम्मो" अर्थात् धर्म को दर्शन प्रधान कहा है।[२]

लेकिन कुछ ऐसे भी मन्दर्भ मिलते हैं जिनमें ज्ञान को प्राथमिक माना गया है। उत्तराध्ययन मे मोक्षमार्ग की विवेचना के प्रसग में ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है।[३] ज्ञान और दर्शन मे से साधनात्मक जीवन की दृष्टि से किसे प्राथमिकता दें, इसका निर्णय करना सहज नही है। इस विवाद के मुख्य मूल कारण यह हैं कि श्रद्धावादी लोग सम्यक् दर्शन की और ज्ञानवादी लोग सम्यक् ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करते हैं, लेकिन इस विवाद मे एकपक्षीय निर्णय लेना उचित नहीं होगा, बल्कि समन्वयवादी दृष्टिकोण ही सुसगत होगा। नवतत्त्वप्रकरण में ऐसा ही समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है, जहाँ दोनो को एक दूसरे का पूर्वापर बताया है, कहा गया है कि जो जीवादि नव पदार्थो को यथार्थरूप से जानता है उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार ज्ञान को दर्शन के पूर्व बताया गया है लेकिन अगली ही पक्ति से ज्ञानाभाव मे केवल श्रद्धा से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति मान ली गई है और कहा गया है कि जो वस्तु तत्त्व को स्वत नही जानता हुआ भी उसके प्रति भाव से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।[४]

डॉ० सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन'[५] मे ज्ञान एव दर्शन मे से किसे प्रथम स्थान दें, इसका तार्किक विवेचन किया है—"दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं— १ यथार्थ दृष्टिकोण, २ श्रद्धा। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं तो हमे साधनामार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए। क्योकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, अयथार्थ है, तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र ही। यथार्थ दृष्टि

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, १/१

२ दर्शनपाहुड २

३ नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदसिहिं ॥ उत्तराध्ययनसूत्र २८/२

४ नवतत्त्वप्रकरण १, उद्धृत—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ० २४

५ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ० २४

के अभाव मे यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् प्रतीत भी हो, तो भी वे सम्यक् नही कहे जा सके। वह तो सायोगिक प्रसग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रान्त भी हो सकता है। जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और उसका आचरण करेगा ? दूसरी ओर यदि हम सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात् ही होगा, क्योकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र मे भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञानके बाद ही स्थान दिया गया है। ग्रन्थकार कहते है कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे।[1] व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमें जो स्थायित्व होता है वह ज्ञानाभाव मे प्राप्त हुई श्रद्धा से नही हो सकता। ज्ञानाभाव मे जो श्रद्धा होती है उसमे सशय होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नही वरन् अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है। जिन प्रणीत तत्त्वो मे भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एव तार्किक परीक्षण के पश्चात् ही हो सकती है। यद्यपि साधना के लिए, आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है लेकिन वह ज्ञान प्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र मे स्पष्ट कहा गया है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करें, तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करें।

अत वे मानते हैं कि यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ मे सम्यक् दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए, जबकि श्रद्धापरक अर्थ मे उसे ज्ञान के पश्चात् स्थान देना चाहिए। डॉ० जैन के अनुसार जैनधर्म मे श्रद्धा का स्थान ज्ञान के पश्चात् ही है। जैनधर्म गीता के समान यह नही मानता है कि "श्रद्धावान् ज्ञान को प्राप्त होता है अपितु वह यह मानता है कि ज्ञान से श्रद्धा होती है"।[2]

यद्यपि जहाँ तक आचरण का प्रश्न है जैनधर्म यह मानता है कि सम्यक् श्रद्धा सम्यक् आचरण के लिए आवश्यक है।[3]

१४ तीर्थंकर की अवधारणा का दार्शनिक अवदान

जैनधर्म मे तीर्थंकर की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है, उसके दार्शनिक अवदान का मूल्याकन निम्नरूप से किया जा सकता है। सर्वप्रथम

१ "नाणेण जाणई भावे दसणेय सद्दहे ॥ उत्तराध्ययन, २८/३५
२ जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग, पृ० २७
३. "नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण"—वही २८/२९

तो तीर्थंकर की अवधारणा यह मानकर चलती है कि प्रत्येक भव्य आत्मा मे तीर्थंकर बनने की क्षमता उपस्थित है। प्रत्येक जीव जिन पद को प्राप्त कर सकता है। इस अवधारणा का फलित यह है कि इससे व्यक्ति की गरिमा पुष्ट होती है और वह यह मानने लगता है कि वह अनन्तशक्ति अथवा परमात्मशक्ति से युक्त है। इससे उसके जीवन मे निराशा दूर होकर आस्था का सचार होता है। दूसरे तीर्थंकर बनाया नही जाता अपितु बनता है। यह सिद्धान्त पुरुषार्थवाद का पोषण करता है। जैनपरम्परा यह मानती है कि कोई भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल से ही तो तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। तीर्थंकरत्व एक याचित उपलब्धि नही है अपितु स्व-पुरुषार्थ से उपार्जित उपलब्धि है। इस प्रकार तीर्थंकर की अवधारणा दैववाद, भाग्यवाद और कृपा के स्थान पर पुरुषार्थवाद का समर्थन करती है। जैनपरम्परा मे महावीर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे एक कथा आती है। कथा के अनुसार महावीर के साधना करते समय अनार्य जनो के द्वारा अनेक कष्ट दिये जाते है। महावीर को दिये जाने वाले इन कष्टो को देखकर, इन्द्र महावीर से प्रार्थना करता है कि अपने साधनाकाल मे मुझे अपने साथ रखने की अनुमति दीजिये ताकि साधना-काल के कष्टो को दूर कर सकूँ। उस समय महावीर ने इन्द्र से कहा कि तीर्थंकर स्ववीर्य अर्थात् स्वपुरुषाथ से ही परमज्ञान और परमसाध्य को प्राप्त करते हैं, किसी की कृपा या सहयोग से नहीं। यही एक ऐसा तथ्य है जो पुरुषार्थवाद और व्यक्ति की गरिमा को पुष्ट करता है।

अवतारवाद मे ईश्वर स्वामी होता है और व्यक्ति उसका दास होता है, जबकि तीर्थंकर की अवधारणा मे व्यक्ति स्वय स्वामी होने का सामर्थ्य रखता है और होता है। दूसरे अवतारवाद मे कृपा का तत्त्व प्रधान होता है। ईश्वरीय करुणा और कृपा ही अवतारवाद के मूलतत्त्व हैं, जबकि तीर्थंकर की अवधारणा मे पुरुषाथ प्रधान होता है। सक्षेप मे व्यक्ति की सर्वोपरिता और पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त तीर्थंकर की अवधारणा के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अवदान हैं।

●

तृतीय अध्याय

बुद्धत्व की अवधारणा

१. बुद्ध शब्द का अर्थ

बुद्ध शब्द की उत्पत्ति बुध् शब्द मे क्त प्रत्यय (बुध् + क्त) लगाने से हुई है। बुध् का अर्थ होता है जानना, प्रत्यक्ष करना, जागना। इस प्रकार बुद्ध शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—ज्ञात, समझा हुआ, प्रत्यक्ष किया हुआ, जागा हुआ, जागरूक, देखा हुआ।[1] बुद्ध का शाब्दिक अर्थ होता है ज्ञान सम्पन्न (प्रबुद्ध) और जाग्रत (Enlightened and Awakened)। शाक्य-मुनि गौतम या सिद्धार्थ को उनके अनुयायियो ने बुद्ध नाम दिया था।[2] वस्तुत बुद्ध जाति-वाचक नाम है, व्यक्तिवाचक नाम नही। यह विशेषण उनको दिया जाता है, जिन्होने बोध या ज्ञान प्राप्त कर लिया है। व्यक्ति "बुद्ध" इस विशेषण को संसार के सभी मानवो एव दैवी प्राणियो के बीच अपने सत्य ज्ञान या धर्म के द्वारा अर्जित करता है। 'बुद्ध'—यह नाम माता-पिता, भाई-बान्धवो आदि के द्वारा दिया हुआ नाम नही है। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत महानिद्देस मे इस सम्बन्ध मे एक सूत्र उपलब्ध होता है। 'बुद्ध'—यह नाम, माता-पिता, भाई-बहन, मित्र, सबंधी, श्रमण, ब्राह्मण एव देवताओ द्वारा दिया हुआ नही है, वरन् बोधिमूल मे विमोक्ष-पुरस्सर सर्वज्ञता के अधिगम के साथ उपलब्ध एक प्रज्ञप्ति है[3]। यही बात चुल्लनिद्देस मे भी कही गई है।[4] वस्तुत वह पुरुष जिसने चार आर्यसत्यों को जान लिया है, सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है, राग, द्वेष, मोह,

---

१ सस्कृत–हिन्दी कोश (वामन शिवराम आप्टे), पृ० ७१८।

२ पालि–इग्लिश डिक्शनरी, पृ० १११।

३ 'बुद्धो ति नेत मातरा कत, न पितरा कत, न भातरा कतं ,न भगिनिया कत, न मित्तामच्चेहि कत, न ञातिसालोहितेहि कत, न समणब्राह्मणेहि कत, न देवताहि कत। विमोक्खन्तिकमेत बुद्धान भगवन्तान बोधिया मूले सह सब्बञ्ञुतञ्ञाणस्स पटिलाभा सच्छिका पञ्ञत्ति यदिद बुद्धो ति–त बुद्ध।'

—खुद्दकनिकाय भाग ४ (१), महानिद्देस ।१६।९२, पृ० ३९९।

४ चुल्लनिद्देस, पृ० २०९।

आस्रव तथा अन्यान्य क्लेशो से पूर्णत विमुक हो परम-सम्बोधि को प्राप्त कर लिया है, जो सब पदार्थो को यथार्थ रूप से जानने के बाद प्रजा को उपदेश देता है, ऐसा अवुद्धि विहत तथा वुद्धि प्रतिलाभी पुरुष ही बुद्ध कहलाता है।[1] वैसे बुद्ध और जिन शब्द ऐसे हैं जिन्हे जैन और बौद्ध दोनो परम्पराओ मे समानरूप से स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा मे तीर्थंकर के लिए बुद्ध और जिन शब्दो का प्रयोग प्राचीन आगमो मे बहुतायत से मिलता है इसी प्रकार बौद्धसाहित्य मे बुद्ध को जिन और जिन-पुत्र कहा गया है।

२. बुद्धत्व की अवधारणा का अर्थ

छठी शताब्दी ईसा पूर्व मे गौतम ने 'बुद्ध' नाम अर्जित किया था। 'बुद्ध' यह नाम उनको अपनी माता महामाया एव पिता शुद्धोधन से प्राप्त नही हुआ था, अपितु बोधि-वृक्ष के नीचे ज्ञानप्राप्त करने पर प्राप्त हुआ था। महानिद्देस एव विसुद्धिमग्ग मे उल्लेख है कि गौतम ने बोधि-वृक्ष के नीचे अनुत्तर सग्राम मे विजय प्राप्त करते हुए, अद्वितीय पुरुषार्थ के द्वारा यह नाम अर्जित किया था।[2]

प्रत्येक प्राणी बुद्धत्व की क्षमता से युक्त है। बुद्ध-बीज प्रत्येक मे विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी वीय, प्रज्ञा एव पुरुषार्थ द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति कर सकता है। गौतम अपने पुरुषाथ से सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करने के कारण 'सम्यक्-सम्बुद्ध' कहलाये।[3] अपनी इस ब्राह्मी स्थिति के कारण लोक मे 'भगवान् बुद्ध' या 'सम्यक्-सम्बुद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

---

१ 'बुद्धो ति केनट्ठेन बुद्धो ? बुज्झिता सच्चानी ति बुद्धो, बोधेता पजाया ति बुद्धो सब्बञ्ञुताय बुद्धो, सब्बदस्साविताय बुद्धो, अभिञ्ञेय्यताय बुद्धो, विकसिताय बुद्धो खीणासवसङ्खातेन बुद्धो, निरुपक्किलेससङ्खातेन बुद्धो, एकन्तवीतरागो ति बुद्धो, एकन्तवीतदोसो ति बुद्धो, एकन्तवीतमोहो ति बुद्धो, एकन्तनिक्किलेसो ति बुद्धो, एकायनमग्ग गतो ति बुद्धो, एको अनुत्तर सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धो ति बुद्धो, अबुद्धि विहतता, बुद्धिपटिलाभा ति बुद्धो।'

—खुद्दकनिकाय भाग ४ (२), चुल्लनिद्देस, पृ० २०८–२०९।

२ (क) महानिद्देस, पृ० १२० (ख) विसुद्धिमग्ग ७/५५, पृ० १४२।

३ 'सम्मा सामञ्ञ सब्बधम्मान बुद्धत्ता पन सम्मा सम्बुद्धो।'

—विसुद्धिमग्ग ७/२६, पृ० १३६।

मज्झिमनिकाय के सेलसुत्त के अनुसार 'बुद्ध' श्रमण गौतम का एक गुणवाचक नाम है, व्यक्तिवाचक नाम नहीं। उसमें भगवान् बुद्ध अपनी विशेषताओं के कारण ही स्वयं को बुद्ध कहते हैं कि मैं धर्म राजा हूँ, धर्मचक्र चला रहा हूँ इस धर्मचक्र को तथागत का अनुजात (पीछे-उत्पन्न) सारिपुत्र अनुचालित कर रहा है। भावनीय की भावना कर ली, परित्याज्य को छोड़ दिया। अतः हे ब्राह्मण मैं "बुद्ध" हूँ।"[1]

इस प्रकार ज्ञानवान या जागृत पुरुष 'बुद्ध' नाम से अभिहित होता है जिसने बोध को प्राप्त कर लिया है। 'प्रतिबुद्ध' की कल्पना पूर्ण ज्ञानी के अर्थ में प्राचीन वैदिक साहित्य में भी विद्यमान है।[2] बुद्ध का आविर्भाव बोधि या ज्ञान से होता है, माता के गर्भ से नहीं। इसीलिए कहा गया है कि बुद्ध का आविर्भाव लोक में दुर्लभ है।[3] बुद्ध का नाम सुनना भी लोक में दुर्लभ है।[4] बुद्ध पुरुष अन्धकार से ग्रसित लोक के लिए दीपक के समान होता है। वह संसार के प्राणियों के कल्याण के लिए धर्म का उप-

---

१. 'राजाहमस्मि सेल ति, धम्मराजा अनुत्तरो ।
धम्मेन चक्कं वत्तेमि, चक्कं अप्पटिवत्तियं ॥'
'सम्बुद्धो पटिजानासि, धम्मराजा अनुत्तरो ।
धम्मेन चक्कं वत्तेमि, इति भाससि गोतम ॥'
'को नु सेनापति भोतो, सावको सत्थुरन्वयो ।
को ते तमनुवत्तेति, धम्मचक्कं पवत्तितं ॥'
'मया पवत्तितं चक्कं, (सेला ति भगवा) धम्मचक्कं अनुत्तरं ।
सारिपुत्तो अनुवत्तेति, अनुजातो तथागतं ॥'
'अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं भावेतब्बं च भावितं ।
पहातब्बं पहीनं मे, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मण ॥'
—मज्झिमनिकाय भाग २, सेलसुत्त (४२।३।४), पृ० ४००

२ शतपथ ब्राह्मण, १४/७/२–१७ ।

३ 'किच्छो बुद्धानमुप्पादो ।'—खुद्दकनिकाय भाग १ । धम्मपद १४/१८२, पृ० ३४ 'बुद्धो हवे कप्पसतेहि दुल्लभो ।'—दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त २/३ ।

४ 'घोसो पि खो एसो दुल्लभो लोकस्मिं-यदिदं 'बुद्धो' ति ।'
—मज्झिम निकाय भाग २, सेलसुत्त (४२ २ ३), पृ० ३९८ ।

देश देता है, बहुजन के हित को सर्वोपरि मानता है। इसलिए धम्मपद मे कहा गया है—

'सुखो बुद्धानमुप्पादो'

बुद्धो का उत्पन्न होना सुखकारी है।[१] बुद्ध ने जीवन एव जगत् के प्रत्येक पहलू का साक्षात्कार कर मानव कल्याण के लिए उपदेश दिया था। बुद्ध ने सत्य का दर्शन एव अनुभव किया था, इसीलिये उन्हे 'तथागत' भी कहा जाता है। चार आर्यसत्यो का स्वय बोध प्राप्त कर दूसरो को उनका बोध कराया, इसलिए 'बुद्ध' कहलाये।[२]

३. बौद्ध धर्म में बुद्ध का स्थान

बौद्ध धर्म मे बुद्ध को धर्मचक्र का प्रवर्तक तथा धर्मसघ का शास्ता माना गया है। मज्झिमनिकाय, सयुत्तनिकाय एव कथावत्थु मे बुद्ध को अनुत्पन्न मार्ग का प्रवर्तक, मार्गद्रष्टा एव मार्ग को जानने वाला कहा गया है।[३]

"भगवा अनुप्पन्नस्स मग्गस्स उप्पादेता, असञ्ञातस्स मग्गस्स सञ्ञ-नेता, अनक्खातस्स मग्गस्स अक्खाता, मग्गञ्ञू, मग्गविद्, मग्गकोविदो।"

प्रारम्भ मे बुद्ध को ज्ञान एव सदाचरण से समन्वित धर्मोपदेष्टा माना गया, किन्तु क्रमश उनके साथ दूसरे विशेषण भी जुडते गये। अगुत्तर निकाय मे बुद्ध को श्रमण, ब्राह्मण, वेदज्ञ, भिषक्, निर्मल, विमल, ज्ञानी, विमुक्त आदि नामो से पुकारा गया है।[४] बुद्धघोष ने अगुत्तरनिकाय की

---

१ धम्मपद १४/१९४, पृ० ३५।

२ 'बुज्झिता सच्चानी ति बुद्धो, बोधेता पजाया ति बुद्धो।'—खुद्दकनिकाय भाग ४ (१), महानिद्देस १।१६।१९२, पृ० ३९९ विसुद्धिमग्ग, ७/५२।
'इमेस खो भिक्खवे चतुन्न अरियसच्चान यथाभूत।
अभिसम्बुद्धत्ता तथागतो अरह सम्मासम्बुद्धो ति वुच्चतीति।'
—विसुद्धिमग्ग १६/२१।

३. मज्झिमनिकाय भाग ३ (८११), पृ० ६८, सयुत्तनिकाय भाग २ (२२-५८-६१), पृ० २९५, कथावत्थु (३-२२(१) १), पृ० २०७।

४ "य समणेन पत्तब्ब ब्राह्मणेन वुसीमता।
य वेदगुना पत्तब्ब, भिसक्केन अनुत्तर॥"

टीका सुमंगलविलासिनी मे बुद्ध को तथागत कहा है।[1] बुद्ध के अनुयायी उनको "भगवा" कहकर पुकारते थे, दूसरे लोग उनको गौतम नाम से ही जानते थे। अन्यत्र उन्हे यक्ष[2], शाक्य[3], ब्रह्मा[4] एव महामुनि[5] आदि नामो से भी सम्बोधित किया गया है।

दीघनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और विशुद्धिमग्ग मे बुद्ध के निम्न विशेषण उपलब्ध होते हैं—

'भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो, विज्जाचरणसम्पन्नो, सुगतो, लोकविदू, अनुत्तरो पुरिस धम्मसारथि सत्था देव मनुस्सान, बुद्धो भगवा।"[1]

अर्थात् भगवान् बुद्ध अर्हत् सम्यक् ज्ञान सम्पन्न, विद्या एव आचरण से युक्त, सद्गति को प्राप्त करने वाले, लोक-ज्ञाता, अनुपम, श्रेष्ठ मनुष्यो धम के नायक, देवता एवं मनुष्यो के शास्ता थे।

सुमंगलविलासिनी मे बुद्ध को अपरिमितवर्ण से युक्त कहा गया है[7] जो उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचायक है।

महायान ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक म बुद्ध को स्वयभू, विजेता, वैद्य, आत्मदीप्त, विश्व का अधिष्ठाता पाप रहित, प्रकाश देने वाला, सभी पदार्थों में उत्तम, मितभाषी एवं देवाधिदेव आदि नामो से उल्लिखित किया गया है। इन विशेषणो मे विश्व का अधिष्ठाता एव देवाधिदेव ऐसे विशेषण हैं जो 'बुद्ध" को एक लोकोत्तर व्यक्तित्व वाला बना देते हैं। यही बुद्धत्व की अवधारणा मे ईश्वरत्व का आरोपण होता है।

"यं निम्मलेन पत्तब्ब, विमलेन सचीमता।
य साणिना च पत्तब्ब, विमुत्तेन अनुत्तर॥"
"सोह विजितसङ्गामो, मुत्तो मोचेमि बन्धना।
नागोम्हि परमदन्तो, असेखो परिनिब्बुतो"ति॥"

—अंगुत्तरनिकाय भाग ३ (८।९।५), पृ० ४२२

१ सुमंगलविलासिनी भाग १, पृ० ५९।
२ मज्झिमनिकाय भाग २ (६ २१), पृ० ६०।
५ खुद्दकनिकाय भाग १, पृ० ३१८।
३. सुत्तनिपात, पृ० ९१, सुत्तनिपात कमेन्टरी भाग २, पृ० ४१८।
४. बुद्धवंश कमेन्टरी, पृ० ३८।
५. सुमंगलविलासनी–I–३१५
६. सद्धर्मपुण्डरीक (२२८.४,२२९.१, २९६ ६)

४. हीनयान और महायान में बुद्ध की अवधारणा

(अ) हीनयान मे बुद्ध

हीनयान मे बुद्ध को लोक ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ तथा परम वोधि को प्राप्त कहा गया है। वे सामान्य मनुष्य की तरह माता के गर्भ से जन्म लेते हैं। उनका विकास भी अन्य जरायुज प्राणियो के समान ही होता है। जन्म सम्बन्धी कुछ विशेषताओ को छोडकर वे भी सामान्य व्यक्तियो की तरह बाल एव कौमार्य अवस्थाओ को प्राप्त करते हैं तथा उनका भौतिक शरीर भी जरामरण की व्याधि से युक्त होता है। हीनयान के अनुसार बुद्ध भी अपने रागादि मलो का उच्छेद कर, क्लेश बन्धन से विमुक्त हो अर्हत्-पद को प्राप्त करते हैं, उनका चित्त ससार से विमुक्त होता है और मन विषयो से छुटकारा प्राप्त कर लेता है किन्तु इसके लिए अनेकानेक पूर्व जन्मो मे शील एव ब्रह्मचर्य की साधना करनी होती है, पूर्व जन्मो के साधना के द्वारा अर्जित पुण्य के फलस्वरूप वे अपने अन्तिम जन्म मे एक विशिष्ट व्यक्तित्व को प्राप्त करते हैं इस जन्म मे भी वे साधना करते हैं तथा अन्त मे अर्हत् पद को प्राप्त कर लेते है। अर्हत् पद को प्राप्त करने की उनकी यह यात्रा अर्हत् पद प्राप्त करने वाले दूसरे साधको से बहुत भिन्न नही होती। केवल अन्तर यह होता है, जहाँ अर्हत् पद को प्राप्त सामान्य साधक उसे प्राप्त कर लोक-पीडा के निवारण के लिए प्रयत्नशील नही होता, वहाँ बुद्ध अपने पूर्व जन्मो की साधना के वैशिष्ट्य के कारण जिस सत्य को उद्घाटित करता है उसे अपने तक सीमित न रखकर जन-जन को उसका उपदेश देता है। जिससे ससार के लोग अपनी दु ख-विमुक्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं। जन्म सम्बन्धी कुछ विशेषताओ को छोडकर धर्म चक्र का प्रवर्तन ही एक ऐसी विशेषता है जो बुद्ध को एक सामान्य अर्हत् से भिन्न करती है। पालि त्रिपिटक के अनुसार सामान्य अर्हत् की अपेक्षा बुद्ध मे निम्न विलक्षणताएँ पाई जाती हैं—

(आ) बुद्ध के जन्म सम्बन्धी विलक्षणताएँ

दीघनिकाय के महापदान सुत्त मे बुद्ध के जन्म के सम्बन्ध मे निम्न अलौकिकताओ का वर्णन हमे मिलता है।[1]—

---

१ दीघनिकाय भाग २, महापदानसुत्त (१ ३ १७), पृ० १८-१४

१ बोधिसत्व तुषित देवलोक से च्युत हो स्मृतिमान आयत होकर माता के उदर में प्रवेश करते हैं।

२ बोधिसत्व जब तुषित देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं तब समस्त लोक में विपुल प्रकाश तथा लोकधातु (ब्रह्माण्ड) में कम्पन होता है।

३ बोधिसत्व के माता की कुक्षि में प्रवेश करने के पश्चात् सदैव चार देवपुत्र चारों दिशाओं में माता की रक्षा के लिए रहते हैं, ताकि उनकी माता को कोई मनुष्य या अमनुष्य कष्ट न दे सके।

४ बोधिसत्व जब माता की कुक्षि में प्रवेश करते हैं, तब से उनकी माता शीलवती होती है, वह हिंसा, चोरी, दुराचार, मिथ्याभाषण तथा मादक वस्तुओं के सेवन से विरत रहती है।

५ बोधिसत्व की माता का चित्त पुरुष की ओर आकृष्ट नहीं होता। कामवासना के लिए उनकी माता पुरुष के राग से जीती नहीं जा सकती।

६. जब से बोधिसत्व माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं, तब से माता को सभी प्रकार सुखोपभोग उपलब्ध रहते हैं।

७ बोधिसत्व के माता के गर्भ में प्रवेश करने के पश्चात् उनकी माता को कोई व्याधि नहीं होती तथा बोधिसत्व की माता उनको अपने उदर में स्पष्ट देखती है।

८ बोधिसत्व की माता उनके जन्म के सात दिन बाद मरकर तुषित देवलोक में उत्पन्न होती है।

९ बोधिसत्व की माता बोधिसत्व को पूरे दस माह कुक्षि में रखकर प्रसव करती है। वह दस माह पूर्ण होने के पहले प्रसव नहीं करती है।

१० बोधिसत्व की माता बोधिसत्व को खड़े खड़े प्रसव करती है।

११ बोधिसत्व माता की कुक्षि से निकलकर पृथ्वी पर गिरने भी नहीं पाते कि चार देवपुत्र उन्हें लेकर माता के सम्मुख रखते हैं।

१२ बोधिसत्व जब माता की कुक्षि से निकलते हैं तब बिलकुल साफ, रुधिर आदि मलों से अलिप्त ही निकलते हैं।

१३ बोधिसत्व जब माता की कुक्षि से बाहर आते हैं, तो आकाश से शीत और उष्ण जल की दो धारायें बहती हैं, उनसे बोधिसत्व और उनकी माता का प्रक्षालन होता है।

१४ बोधिसत्व जब माता की कुक्षि से उत्पन्न होते हैं तब वे पैरो पर खडे होकर उत्तर की ओर मुँह करके सात कदम चलते हैं, श्वेत छत्र के नीचे सभी दिशाओ का देखते हैं और घोषित करते हैं कि इस लोक मे मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं अग्र हूँ मैं ज्येष्ठ हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है फिर जन्म नही होगा ।

१५ बोधिसत्व जब माता की कुक्षि से निकलते हैं तब सम्पूर्ण लोक मे प्रकाश होता है तथा कुछ समय के लिए ससार की बुराइयाँ दूर हो जाती हैं।

(इ) बुद्ध के शरीर के ३२ लक्षण

दीघनिकाय के महापदानसुत्त मे बुद्ध के शरीर को निम्न ३२ लक्षणो से युक्त बताया गया है[1]—

१ वे सुप्रतिष्ठितपाद होते हैं ।
२ उनके पादतल मे सर्वाकार परिपूर्ण चक्र होते हैं।
३ उनकी एडियाँ ऊँची होती है।
४ उनकी उँगलियाँ लम्बी होती हैं।
५ उनके हाथ-पैर मृदु तथा कोमल होते हैं।
६ उनके हाथ और पैर की उँगलियो के बीच छेद नही होते।
७ उनके पावो के टखने शकु के समान वर्तुलाकार होते हैं।
८ उनकी जाँघें हिरनी के जाँघो के समान होती हैं।
९ उनके हाथ इतने लम्बे होते हैं कि वे बिना झुके अपनी हथेलियो से अपने घुटनो का स्पर्श कर सकते हैं।
१० उनकी जननेन्द्रिय चमडे से ढकी हुई होती है।
११ उनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान होता है।
१२ उनके शरीर पर धूल नही जमती है।
१३ उनके प्रत्येक रोम कूप मे एक ही बाल होता है।
१४ उनके बाल अजन के समान नीली कान्ति युक्त तथा कुडलित (घुँघराले) होते हैं ।
१५ वे लम्बे अकुटिल शरीर वाले होते हैं।
१६ उनके शरीर के सात भाग ठोस होते हैं ।
१७ उनका शरीर सिंह-पूर्वार्द्ध काय अर्थात् उनकी छाती उठी हुई होती है।

---

१ दीघनिकाय भाग २, महापदानसुत्त (१-४ २०), पृ० १५-१६ ।

१८ उनके दोनो कन्धो के ऊपर का भाग ठोस होता है।

१९ उनका शरीर वर्तुलाकार होता है अर्थात् पालथी मारकर बैठने पर उनके शरीर की लम्बाई-चौडाई बराबर होती है।

२० उनके दोनो कन्धे समान परिमाण के होते हैं।

२१ उनकी शिराएँ (नाडियाँ) सुन्दर होती हैं।

२२ उनकी ठोडी सिंह के समान होती है।

२३ उनके मुख मे ४४ दाँत होते हैं।

२४ उनके दाँत सम होते हैं।

२५ उनकी दतपक्ति छेद रहित होती है।

२६ उनकी दतपंक्ति शुभ्र होती है।

२७ उनकी जिह्वा लम्बी होती है।

२८ उनका स्वर मधुर होता है।

२९ उनकी आँखें अलसी के पुष्प के समान नीली होती हैं।

३० उनकी पलकें गाय के समान होती हैं।

३१ उनकी भौहो की रोम-राजी अत्यन्त कोमल और शुभ्र होती हैं।

३२ उनका शिर (मस्तक) उष्णोषाकार अर्थात् बीचमे से कुछ ऊँचा होता है।

(ई) धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना करना

यह मान्यता है कि "अर्हत्" सम्यक् सम्बुद्ध होने के बाद बुद्ध के मन मे प्रथम यह विचार आता है कि लोक मेरे उपदेश को ग्रहण नही कर पायेगा। उसी समय महाब्रह्मा आकर धर्मोपदेश देने की प्रार्थना करता है कि भगवान् धर्म का उपदेश करें क्योकि धर्म को जानने वाले हैं।"[1]

(उ) बुद्ध का सशरीर देवलोक गमन

पालि त्रिपिटक मे एक उल्लेख यह मिलता है कि भगवान् बुद्ध ने अपनी माता को धर्मोपदेश देने के लिए एक वर्षावास तुषित लोक में व्यतीत किया।[2]

दीघनिकाय के महापदानसुत्त मे यह भी उल्लेख है कि भगवान् बुद्ध

---

१ दीघनिकाय भाग २, महापदानसुत्त (१ ६ ६२ ६४) पृ० ३६

२ बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ११८

५. बुद्धत्व की अवधारणा : हीनयान से महायान की यात्रा

बुद्धत्व की अवधारणा का चरम विकास हमे महायान परम्परा में दिखाई देता है। बौद्ध धर्म के लोकोपकारी विकसित रूप को महायान कहते हैं, किन्तु इसके मूल बीज प्रारम्भिक बौद्ध धर्म मे भी उपलब्ध है। महायान का ऐसा कोई सिद्धान्त नही है जिसके मूल बीज को प्रारंभिक बौद्ध धर्म मे खोजा न जा सके। उदाहरणार्थ माध्यमिकों का शून्यवाद प्रारंभिक बौद्ध धर्म के अनित्य, दुःख और अनात्म का ही विकसित तात्त्विक रूप है। महायान मे विश्व के कल्याण की जो कल्पना विशेष रूप से दृष्टिगत होती है वह भगवान् बुद्ध के प्रथम उपदेश मे निहित है—

"चरथ भिक्खवे चारिक बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान।"[1]

महायान मे करुणा की भावना ने जो चरम विकास प्राप्त किया, वह भी प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के चार ब्रह्म विहारों—मैत्री, करुणा, प्रमोद एव माध्यस्थ्य का ही विकसित रूप है। महायान दर्शन का केन्द्र बिन्दु बोधिसत्व की अवधारणा है, वह भी पालि निकाय मे यत्र-तत्र पाई जाती है। पालि निकाय के कई सूत्रो मे बुद्ध के ये वाक्य मिलते हैं— "बुद्ध होने के पूर्व मैं बोधिसत्व ही था।" बोधिसत्व का अर्थ होता है बोधि के लिए प्रयत्नशील प्राणी। भगवान् अपने पूर्व जन्मो मे, जब वे बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए साधना कर रहे थे, बोधिसत्व ही थे। जातको मे जो बुद्ध के पूर्व जन्मो की अनेक कहानियां उपलब्ध हैं वास्तव मे वे बोधिसत्व की ही कहानियां हैं। इस प्रकार पालि साहित्य में बोधिसत्व की अवधारणा भी स्पष्ट रूप से उपलब्ध है, फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि महायान मे इसे एक निश्चित एव व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप मे विकसित किया गया है।[2] बोधिसत्व के रूप मे बुद्ध के परम कारुणिक स्वरूप का विकास निश्चय ही महायान की देन है।

बुद्धत्व की अवधारणा की हीनयान से महायान की ओर जो यात्रा हुई वह विभिन्न चरणो मे सम्पन्न हुई है उसमे संक्रमण कालीन बौद्ध सम्प्रदाय सर्वास्तिवाद और महासांघिको का भी अपना योगदान है। अत

---

१ (अ) महावग्ग (१।१०।३२), पृ० २३

(ब) दीघनिकाय भाग २, महापदानसुत्त (१।६।६५),पृ० ३७।

२ बौद्ध धर्म और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६०४ (भरतसिंह उपाध्याय)

महायान मे बुद्ध की अवधारणा की चर्चा के पूर्व इन दोनो की बुद्ध संबधी अवधारणा पर विचार करेंगे।

(क) सर्वास्तिवाद मे बुद्ध

सर्वास्तिवाद हीनयान सम्प्रदाय का ही एक रूप है, इसमे बुद्ध को जरायुज माना गया है। सर्वास्तिवाद के ग्रन्थ दिव्यावदान मे बुद्ध के रूप काय और धर्मकाय ऐसे दो भेदो का उल्लेख है। उसमें बुद्ध के रूपकाय को अनित्य माना गया है, यद्यपि उसे मृण्मयी देव-प्रतिमा के समान पूजनीय भी बताया गया है। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ पालि त्रिपिटक[1] मे स्वय बुद्ध वचन के द्वारा जिस रूपकाय को "किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन" कहकर महत्त्वहीन कहा गया था और धर्म शासन या धर्मकाय को महत्त्वपूर्ण बताया गया था, वहाँ सर्वास्तिवादी बुद्ध के इस रूपकाय को अनित्य मानते हुए भी पूजनीय मानते थे। अभिधर्मकोश मे, जो सर्वास्तिवादी विचारो का एक प्रमुख ग्रन्थ है, बुद्ध की एक प्रमुख विशेषता उनकी सर्वज्ञता है। उनके अनुसार प्रत्येक बुद्ध श्रावक, (अर्हत्) क्लिष्ट-सम्मोह से मुक्त होते हुए भी अक्लिष्ट सम्मोह से पूर्णतया मुक्त नही होते हैं, अत वे सर्वज्ञ नही होते हैं। सर्वज्ञ तो केवल बुद्ध ही होते हैं। इस प्रकार सर्वास्तिवादी बुद्ध की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करते हैं। जबकि पालि त्रिपिटक मे इस सर्वज्ञता को कोई महत्त्व नही दिया गया, वे यह मानते हैं कि इस असाधारण ज्ञान के द्वारा बुद्ध ही सब जीवो के कल्याण को जान सकते हैं और जगत् के दु ख को दूर कर सकते हैं। सर्वास्तिवादो बुद्ध के रूपकाय को विपाकज मानते थे अर्थात् वह शाक्य मुनि के पूर्व कर्म के विपाक के रूप मे उपलब्ध हुई थी इसो विपाकज काय के कारण शाक्य मुनि को रोग, क्षति आदि उत्पन्न हुए थे। सर्वास्तिवाद मे बुद्ध के शरीर को अनेक लक्षणो और अनुव्यजनो से तथा रश्मि प्रभा से युक्त बताया गया है। इस मत में बुद्ध अद्भुत शक्तिशाली और विलक्षण पुरुष हैं, जिनका देह तो भौतिक किन्तु चित्त सर्वज्ञ है।

(ख) महासांघिक मत में बुद्ध

महासाघिक महायान का ही पूर्व रूप है। महासाघिक मत मे बुद्ध एव बोधिसत्व को औपपादुक माना गया है। इस प्रकार उनका मत हीनया-

---

१ सयुत्तनिकाय (ना०) भाग २, पृ० ३४१

नियो और सर्वास्तिवादियो से भिन्न है क्योकि वे दोनो बुद्ध को जरायुज मानते थे। इस मत मे वे प्राणी औपपादुक कहे जाते हैं, जिनकी इद्रियाँ अविकल और पूर्ण होती हैं। जिनके शरीर शुक्र-शोणित आदि उपादानो से रहित होते हैं, सर्व अग-प्रत्यग से पूर्ण होते हैं। देव, नारक और अन्तरा-भव ऐसे ही औपपादुक प्राणी हैं। महासाघिक मत मे बुद्ध की लोकोत्तरता पर बल दिया गया है क्योकि वे अनाश्रव और अमर हैं। महासाघिक बुद्ध के रूपकाय को विपाकज नही मानते अपितु निर्माणकाय मानते हैं। उनके मत मे बुद्ध का रूपकाय अनन्त और अनाश्रव है। बुद्ध के रूप को अनन्तता तीन प्रकार की मानी गई है—आकार, सख्या और हेतु कृत।

बुद्ध छोटे-बडे आकारो को धारण कर सकते हैं। वे यथेष्ट संख्या मे शरीर निर्माण कर सकते हैं। इनके अनुसार लोक मे दृश्य काय, उनकी वास्तविक काय न होकर निर्माणकाय है। वास्तविक-काय तो अमर और अनन्त है और इस प्रकार बुद्ध की आयु भी अनन्त है। महासाघिक भी बुद्ध की सर्वज्ञता को स्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि बुद्ध नित्य समाधिस्थ हैं और उनका चित्त एक ही क्षण मे सब कुछ जान सकता है।

महासाघिक मत मे बुद्ध की रूपकाय पूर्व पुण्यो का परिणाम, अनन्त विशुद्ध, अन त प्रभामय तथा आधिष्ठानिक ऋद्धि के द्वारा यथेष्ट स्थान पर र थेष्ट-रूप धारण करने मे समर्थ मानी गई है। हमे यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि महासाघिको को यही रूपकाय महायानियो की सम्भोगकाय बन गयी है।

(ग) महायान मे बुद्ध

महायान के अनुसार बुद्ध अपने पूर्व जीवन में बोधिसत्त्व के रूप मे १० पारमिताओ को पूर्ण करने के बाद बुद्धत्व को प्राप्त करते हैं। इन पारमिनाओ की साधना मे पूर्णता की प्राप्ति एक जन्म मे न होकर अनेक सहस्त्र कल्पो मे होती है। जातक अट्ठकथा से ज्ञात होता है गौतमबुद्ध ने भी ५५० बार विविध योनियो मे जन्म लेकर इन पारमिताओ की साधना की और अन्त मे इनमे पूर्णता प्राप्त की। महायान साहित्य मे पालि त्रिपिटक को अपेक्षा भी बुद्ध को एक विलक्षण व्यक्तित्व के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार बुद्ध लोकोत्तर व्यक्तित्व से युक्त हैं। वे श्वेत गज के रूप में माता की कुक्षि में प्रवेश करते हैं किन्तु जरायुजो की

तरह गर्भ मे उनका विकास नही होता। वे पूर्णेन्द्रिय ही माता के गर्भ मे प्रवेश करके दक्षिण कुक्षि से उत्पन्न हो जाते हैं। महायान मे उनके शरीर को औपपादुक कहा गया है। वे मात्र लोकानुवर्तन के लिए ही मानव रूप मे दिखाई देते हैं। महायान की एक शाखा वैतुल्यको का तो यहाँ तक कहना है कि तुषित लोक से महामाया के गर्भ मे एक निर्माण-काय का अवतरण होता है।[1] बुद्ध के जन्म से लेकर उनके बाद का जीवन महायान मे लोकोत्तर ही माना गया है। महायान की यह मान्यता है कि बुद्ध की साधना तो अपने पूर्व बोधिसत्व के जीवनो मे ही पूर्ण हो चुकी होती है। यहाँ तो वे मात्र लोकानुवर्तन के लिए ही साधना करते हैं और ससार के प्राणियो की दु ख विमुक्ति के लिए धर्म चक्र का प्रवर्तन करते हैं।[2]

६. महायान में त्रिकायवाद की अवधारणा का विकास

हीनयान और महायान सम्प्रदाय के प्रारम्भिक ग्रन्थो मे हमे बुद्ध के *रूपकाय और धर्मकाय*—इन दो कायो की चर्चा उपलब्ध होती है।[3] रूपकाय का तात्पर्य प्रारम्भ मे, भगवान् बुद्ध के भौतिक शरीर से था, इसी प्रकार उनका धर्मकाय उनके उपदेशो का सूचक था।[4] क्रमश बुद्ध के रूपकाय अर्थात् भौतिक देह का सामान्य लोगो की भौतिक देह की अपेक्षा विशिष्ट माना जाने लगा। सामान्यतया बुद्ध के इस रूपकाय को अनित्य एव विनाशशील माना गया था, किन्तु धीरे-धीरे उसमे भी अलौकिकताओ का प्रवेश होता गया। यह माना जाने लगा कि यह रूपकाय न केवल महापुरुषो के लक्षणो से युक्त है अपितु उसे एक विशिष्ट प्रकार की सर-

---

१ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३५७ (डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय)

२ वही, पृ० ३५७

३ (अ) विसुद्धिमग्गो, सद्धम्मसगहो तुलनीय दत्त, महायान, पृ० १०१-२
   (ब) श्रोणकोटि कर्ण की उक्ति है—"दृष्टोमयोपाध्यायानुभावेन स भगवान् धर्मकायेन, नोतु रूपकायेन"—दिव्यावदान, पृ० ११
   (स) स्थविर की उक्ति भी ऐसी ही है—"यदह वर्षशतपरिनिर्वृते भगवति प्रव्रजित, तद्धर्मकायो मया तस्य दृष्टा। त्रैलोक्यनाथस्य काञ्चनाद्रि-निभस्तस्य न दृष्टो रूपकायो मे"—दिव्यावदान, पृ० २२५
   उद्धृत—बौद्ध धर्म का इतिहास, पृ० ३४१-३४४

४ 'अल वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्म पस्सति मोम पस्सति। यो म पस्सति सो धम्म पस्सति। सयुत्तनिकाय, वक्कलिसुत्त (२२ ८६ ९४), पृ० ३४१

चना माना गया। उनका काय बल विपुल माना गया। महासांघिकों ने बुद्ध के रूपकाय को अनन्त और अनाश्रव माना तथा यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि बुद्ध में अनेक शरीरों के निर्माण की सामर्थ्य होती है।[1] आगे चलकर यह कहा गया कि लोक में दृश्य उनकी काय वास्तविक न होकर निर्माणकाय है। कालान्तर के ग्रन्थों में बुद्ध के रूपकाय को और उनकी आयु को अनन्त माना गया। इस प्रकार रूपकाय की अवधारणा से ही निर्माणकाय की अवधारणा का विकास हुआ। त्रिकायवाद के सिद्धान्त में धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय ऐसे तीन काय माने गये। बुद्ध की रूपकाय ही महायान में दो रूपों में विभाजित हो गई—सम्भोगकाय और निर्माणकाय। मात्र यही दो नहीं अपितु रूपकाय के अर्थ और स्वरूप के सम्बन्ध में भी हीनयान और महायान में एक अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

सर्वास्तिवादी बुद्ध के शरीर को जरायुज रूप में उत्पन्न तथा अस्थि, मांस आदि से युक्त मानते थे। सर्वास्तिवादियों के अनुसार यद्यपि चरम-भविक बोधिसत्व उत्पत्ति वशित्व को प्राप्त होते हैं अतः वे औपपादुक शरीर भी धारण कर सकते हैं जैसे कि देवता और नारद।[2] किन्तु फिर भी वे जरायुज उत्पत्ति को ही पसन्द करते है, क्योंकि प्रथम तो उनकी इस जरायुज उत्पत्ति से अन्य मनुष्यों का उत्साह बढ़ता है और वे विश्वास कर सकते है कि हम भी बुद्धत्व को प्राप्त कर सकते है। यदि बुद्ध की उत्पत्ति जरायुज न होकर औपपादुक हो तो सामान्य व्यक्ति उन्हें मायावी या देव या पिशाच के रूप में ही देखेंगे और उनके प्रति उनमें श्रद्धा का आविर्भाव नहीं होगा। जरायुज उत्पत्ति का एक दूसरा कारण यह भी है, ताकि उनके निर्वाण के अनन्तर मनुष्य उनके शरीर धातु का अवस्थापन कर सकें एवं पूजा कर सकें। यदि बुद्ध की उत्पत्ति औपपादुक होती तो औपपादुक प्राणियों के समान उनका शरीर भी मृत्यु के पश्चात् निर्विशेष लुप्त हो जाता।

सर्वास्तिवादियों की इस अवधारणा के विपरीत महासांघिक बुद्ध-शरीर को सर्वथा लोकोत्तर, औपपादुक और अधिष्ठान समृद्धि-सम्पन्न

---

1 उद्धृत—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४८
2 अभिधर्मकोश भाग ३, पृ० १७-१८ उद्धृत—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४९-३५०

मानते हैं ।[१] महासाघिक की रूपकाय वस्तुत महायानिको के सम्भोगकाय के समान अनन्त और अमर है। महासाघिको का कहना है[२] कि भगवान् का रूपकाय पूर्व पुण्यो का परिणाम अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त प्रभामय और यथेष्ट स्थान पर यथेष्ट रूप धारण करने की सामर्थ्य है। इस प्रकार सर्वास्तिवादियो मे जो रूपकाय की अवधारणा है वह महासाघिको मे अत्यन्त विलक्षण बन गई। इसी से आगे चलकर महायान सम्प्रदाय मे सम्भोगकाय का विकास हुआ।

बुद्ध का धर्मकाय प्रारम्भ मे उनका उपदिष्ट धर्म ही था किन्तु आगे चलकर उसमे शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति ज्ञान और विमुक्ति-दर्शन इन पाँच स्कन्धो का समावेश किया गया। बुद्ध को धर्मकाय का महायान सम्प्रदाय मे धर्म के रूप मे पुन विवेचन हुआ और यह धर्मकाय ही आगे चलकर परमार्थ या स्वाभाविककाय मान लिया गया। सद्धर्मपुण्डरीक और स्वर्णप्रभाससूत्र मे हमे ऐसे उल्लेख मिलते हैं[२] जिनके अनुसार यह मान लिया गया है कि बुद्ध की आयु अपरिमित है और उन्होंने अभी भी परिनिर्वाण मे प्रवेश नही किया है अपितु वे नाना रूपो मे प्रकट होकर लोकहित के लिए उपदेश करते रहते हैं। बुद्ध का केवल धर्मकाय ही वास्तविक काय है और लोक समक्ष उनका शरीर निर्माणकाय है किन्तु यह निर्माणकाय मानव देह से बिल्कुल भिन्न है उनके शरीर से अर्चा के लिए सरसो भर भी धातु प्राप्त नही हो सकती है अत उनका शरीर पूर्णतया अभौतिक है और उनके सकल्प से निर्मित है।

मैत्रेयनाथ ने 'अभिसमयालकारालोक' मे चार कायो का विवेचन किया है[३]—प्रथम स्वाभाविक काय को पारमार्थिक बताया है। बुद्ध ने स्वय के काय को धर्मकाय कहा है। बुद्ध बोधिसत्वो को अपने सम्भोग के द्वारा उपदेश देते हैं तथा श्रावको को उपदेश देने के लिए वे अपने निर्माणकाय का उपयोग करते हैं। वैसे बोधिसत्वो की समस्त क्रियायें निर्माणकाय के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। निर्माणकाय को धर्मकाय के ही सदृश माना गया है।

---

१ अभिधमकोश भाग ३, पृ० २७-२८, उद्धृत बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३४९

२ उद्धृत बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३५०

३ वही, पृ० ३५१

४ वही, पृ० ३५२

महायानसूत्रालंकार[1] मे भी बुद्धकाय की त्रिविध व्याख्या की गयी है– स्वाभाविककाय, साम्भोगिककाय और नैर्माणिककाय। स्वाभाविककाय आश्रय परावृत्ति के लक्षण से युक्त होता है। साम्भोगिककाय स्वार्थ और नैर्माणिककाय परार्थ लक्षण से युक्त होते हैं। स्वाभाविककाय सभी बुद्धो में समान होती है। साम्भोगिककाय के द्वारा बुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं तथा निर्माणकाय के द्वारा दूसरो की सेवा करते हैं। इन्ही तीनो कायो से समन्वित होने के कारण तथागत नित्यकाय कहलाते हैं।

७. बुद्धत्व की अवधारणा में अलौकिकता का प्रवेश

हीनयान और महायान मे बुद्धत्व की अवधारणा के उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध का उनके समकालीन व्यक्ति एक मरणशील मनुष्य ही मानते थे। यद्यपि उस युग मे भी बुद्ध के अनुयायियो ने उन्हें बोधि-सम्पन्न महापुरुष मान लिया था, फिर भी दैहिक स्तर पर वे उनके लिए भी सामान्य मानवो से भिन्न नही थे। वे उन्हे जन्म, शैशव, जरा-मरण से युक्त एक मनुष्य के रूप में ही देखते थे। उनको दृष्टि मे भी बुद्ध एक ऐसे व्यक्ति थे जिसने माँ को कुक्षि से जन्म लेकर शैशव एव यौवन की स्थितियो का अनुभव करते हुए अन्त मे प्रव्रजित हो अपनी साधना के द्वारा बुद्धत्व को प्राप्त किया, वे ज्ञान और प्रज्ञा के क्षेत्र मे अलौकिक होते हुए भी शारीरिक धर्मों की दृष्टि से अन्य मनुष्यो के समान ही माने जाते थे। किन्तु धीरे-धीरे बुद्ध के व्यक्तित्व में अलौकिकता का प्रवेश होता गया। सर्वप्रथम यह माना गया कि अपने अन्तिम जन्म में उन्हें महापुरुषो के ३२ लक्षणो से युक्त एव साधना के योग्य एक विशिष्ट शरीर प्राप्त हुआ था। इस प्रकार उन्हे मनुष्यो मे भी एक विशिष्ट मनुष्य के रूप मे मान्य कर लिया गया था। किन्तु क्रमश. उनके व्यक्तित्व मे अन्य अलौकिकताओ को प्रवेश मिलता गया और वे एक सामान्य मानव से बिल्कुल भिन्न एक अलौकिक व्यक्ति माने जाने लगे।

दीघनिकाय मे "बुद्ध" को एक सर्वश्रेष्ठ मानव के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। उसमे स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि वे अर्थात् सम्यक् ज्ञान सम्पन्न, विद्या और आचरण से युक्त सद्गति को प्राप्त करने वाले लोकज्ञाता, श्रेष्ठ, मनुष्यो के धर्मनायक, देवता और मनुष्यों के शास्ता

---

१ उद्धृत—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३३३-५४।

ज्ञान सम्पन्न तथा भगवान् थे।[1] इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न श्रेष्ठ मानव एवं धर्म प्रवर्तक थे। यद्यपि उसके महापदान सुत्त मे बुद्ध को ३२ लक्षणो से युक्त कहा गया है किन्तु ये लक्षण मात्र उनके शरीर की विशिष्टताओ के ही परिचायक है, उन्हे अलौकिक नही बनाते है। इस ग्रन्थ मे बुद्ध की अलौकिकता की चर्चा मात्र उनकी गर्भाव-क्रान्ति एव जन्म को लेकर ही है। इस प्रकार यहाँ बुद्ध को एक मरणशील व्यक्ति से अधिक नही माना गया। बुद्ध ने मृत्यु से पूर्व आनन्द से कहा है कि मैंने धर्म एव विनय का जो उपदेश दिया है मृत्यु के बाद वही तुम्हारा मार्ग दर्शक होगा।[2]

पुन मज्झिमनिकाय एव सयुत्तनिकाय मे भगवान् बुद्ध अपने को उसी प्रकार धर्म का पुत्र कहते है जिस प्रकार ब्राह्मण अपने को ब्रह्मा का पुत्र कहते है।[3] किन्तु इनके साथ ही वे अपने को प्राणियो के दु.खो को दूर करने वाला अवश्य मानते है।[4] सयुत्तनिकाय मे वे कहते है कि जो जीव मुझ कल्याण मित्र की शरण मे आ जाते है वह जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते है। इस प्रकार वे दु.खो से त्राण देने वाले और लोक-उद्धारक है।

बुद्ध एक ओर लोक उद्धारक बने तो दूसरी ओर धर्म-पुत्र कहे जाने लगे। धर्म की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए बुद्ध का धर्म के साथ तादात्म्य

स्थापित किया गया। यद्यपि प्रारम्भ मे उन्हे धर्म-पुत्र और धर्म-दायाद कहा गया[1] किन्तु कालान्तर मे उनका धर्म के साथ तादात्म्य मान लिया गया। सयुत्तनिकाय मे भगवान् बुद्ध ने स्वय वक्कलि से कहा था कि मेरे भौतिक शरीर को देखने से कोई लाभ नही है वस्तुत जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।[2] यहाँ बुद्ध का धर्म से तादात्म्य दिखाया गया है। यही बात मिलिन्दप्रश्न (पञ्हो) मे भी कही गयी है, उसमे नागसेन कहते है धर्म भगवान् के द्वारा देशित है जो धर्म को देखना है वही भगवान् को देखता है। बुद्ध का धर्म से यह तादात्म्य हो महायान के त्रिकायवाद मे "धर्मकाय" का आधार बना है और यह धर्मकाय ही बुद्ध का स्वाभाविककाय मान लिया गया।

यद्यपि बुद्ध को प्रज्ञावान् माना गया था किन्तु आगे चलकर उनकी इस प्रज्ञा को सर्वज्ञता मे बदल दिया गया। मज्झिमनिकाय मे बुद्ध स्वय सर्वज्ञता की अवधारणा का खडन करते हैं और अपने आप को सर्वज्ञ नही कहते हैं किन्तु आगे चलकर उन्हें सर्वज्ञ कहा जाने लगा।

इस प्रकार बुद्ध के साथ धीरे-धीरे अलौकिकता जुडती ही गई। सर्वप्रथम उन्हें ३२ लक्षणो से युक्त एक विशिष्ट पुरुष माना गया उनके जन्म और कर्म दोनो ही दिव्य बनाये गये। बुद्ध के जन्म के साथ अनेक अलौकिकताओ को जोडा गया जैसे—जब बुद्ध का जन्म होता है तो सुख-दायक पवन बहने लगता है, लोक मे शान्ति हो जाती है। मात्र यह ही नहीं, यह भी माना गया कि बुद्ध जन्म लेते ही पृथ्वी पर सात कदम चलते हैं वहाँ देवता कमल की रचना कर देते हैं आदि आदि। अगुत्तरनिकाय मे द्रोण ब्राह्मण भगवान् बुद्ध के पैरो मे चक्र के चिह्न को देखकर उनसे पूछता है कि आप देव, गन्धर्व, यक्ष या एक मरण धर्मा जीव हैं? बुद्ध इसके प्रति उत्तर में कहते है कि एक देव, गन्धर्व, यक्ष एव मरण धर्मा जीव नही हूँ क्योकि यह सब आस्रवो से युक्त होने के कारण बध्य होते है जबकि बुद्ध आश्रवो से रहित होने के कारण अबध्य होते हैं।[3]

---

१ दीघनिकाय भाग ३, अग्गञसुत्त (४।२।८), पृ० ६६।

२ "अल वक्कलि, किं ते इमिना पूतिकायेन दिट्ठेन? यो सो, वक्कलि, धम्म पस्सति सोम पस्सति, यो म पस्सति सो धम्म पस्सति।"
— सयुत्तनिकाय भाग २, वक्कलिसुत्त (२२।८६।९४), पृ० ३४।

३ "येस खो अह, ब्राह्मण, आसवान अप्पहीनत्ता गन्धब्बो भवेय्य ८ यक्खो भवेय्य मनुस्सो भवेय्य, ते मे आसवा पहीना उच्छिन्न-मूला

जैसा कि हमने पूर्व मे देखा कि पालि साहित्य मे उनके सशरीर तुषित देव लोक जाने का भी उल्लेख मिलता है जो कि उनकी अलौकिकता का परिचायक है। यद्यपि बौद्ध परम्परा मे यह भी माना गया है कि जिस प्रकार पक से उत्पन्न कमल पक और जल से निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार बुद्ध सासारिक वासनाओ से निर्लिप्त रहते है।[1] न केवल उनकी दैहिक शक्ति विशिष्ट होती है बल्कि उनकी आध्यात्मिक शक्ति भी विशिष्ट होती है।

८. हीनयान और महायान में बुद्ध की अवधारणा का अन्तर

हीनयान मे व्यक्ति का चरम-लक्ष्य अर्हत्-पद की प्राप्ति करना माना गया है जबकि महायान के अन्तर्गत व्यक्ति का चरम लक्ष्य बुद्धत्व को प्राप्त करना होता है। हीनयान और महायान के बुद्धत्व के आदर्शों मे महत्त्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है। अष्ट-साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता मे कहा गया है[2] कि हीनयानियों के उद्देश्य हैं—आत्मा का दमन करना, शम उपलब्ध करना तथा अन्त मे निर्वाण लाभ करना, जबकि महायानियो का उद्देश्य है—बुद्धत्व प्राप्त करना। अर्हत् अपने क्लेशो से मुक्ति पाकर अपने को कृतकृत्य समझने लगता है, उसे इस बात की कुछ भी चिन्ता नही होती कि ससार के कोटि-कोटि प्राणी क्लेशो से कष्ट भोग रहे हैं जबकि महायान मे बोधिसत्व का उद्देश्य होता है ससार के प्राणियो को क्लेशो से मुक्त करना। वह यह मानता है कि ससार मे असख्य प्राणी कष्ट भोग रहे हैं तो मेरे लिए निर्वाण का क्या लाभ? वह तो ससार के सभी प्राणियो के निर्वाण लाभ के बाद ही स्वय का निर्वाण चाहता है। लकावतार सूत्र[3] मे इसी तरह का एक आख्यान मिलता है। इस

तालावत्थुकता अनभावङ्कता आयति अनुप्पादधम्मा। सेय्यथापि, ब्राह्मण, उप्पल वा पदुम वा पु डरीक वा उदके जात उदके सवड्ढ उदका अच्चुग्गम्म तिट्ठति अनुपलित्त उदकेन, एवमेव खो अह, ब्राह्मण, लोके जातो लोके सवड्ढो लोक अभिभुय्य विहरामि अनुपलित्तो लोकेन। बुद्धो ति म, ब्राह्मण, धारेही ति।"

—अगुत्तरनिकाय भाग २, दोणसुत्त (४।४।६), पृ० ४१।

१ अगुत्तर निकाय भाग २, चतुक्कनिपात, चक्कवग्ग, पृ० ३८।

२ अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता (एकादश परिवर्त्त)—उद्धृत बौद्ध दर्शन, पृ० १४६ (प० बलदेव उपाध्याय)

३ लकावतार सूत्र ६६/६।

प्रकार बोधिसत्व का हृदय करुणा से ओतप्रोत होता है। उसका कथन होता है कि जब ससार के सभी प्राणियो को दु ख एव भय समान होते हैं तो मुझमे क्या विशेषता है कि दूसरो की रक्षा न कर स्वय अपनी ही रक्षा करूँ।[1] बोधिसत्व का हृदय तो करुणा से इतना अधीर रहता है, वे कहते हैं कि जब तक ससार के सभी प्राणी दु ख से निवृत्त नही हो जाते तब तक मैं मुक्ति नही चाहता। आचार्य शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार मे इस स्थिति का बडे सुन्दर ढग से चित्रण किया है—"सौगतमार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्य का मैंने अर्जन किया है उसके फलस्वरूप मेरी यही कामना है कि प्रत्येक प्राणी के दु ख शान्त हो जाये। मुक्त पुरुषो के हृदय मे जो आनन्द का समुद्र हिलोरे मारने लगता है, वही मेरे जीवन को सुखी बनाने के लिए पर्याप्त है, रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर मुझे क्या करना ?[2]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हीनयानियो का अन्तिम लक्ष्य स्वविमुक्ति की भावना होता है जबकि महायानियो का उद्देश्य विस्तीर्ण एव परार्थ की भावना से ओतप्रोत होता है। यद्यपि जहाँ तक "बुद्ध" का प्रश्न है दोनो ही यह मानते हैं कि बुद्ध स्व-दु ख विमुक्ति के साथ लोक की दु ख-विमुक्ति के हेतु प्रयत्नशील होते हैं। हीनयान के अनुसार बुद्ध अपने जीवन पर्यन्त अपने उपदेशो के माध्यम से लोकमगल करते हुए अन्त मे निर्वाण मे प्रवेश कर जाते हैं उनके परिनिर्वाण के पश्चात् मात्र उनका "धर्म" ही लोक का मार्गदर्शक होता है, जबकि महायान के अनुसार वे कोटिकल्प तक अपनी त्रिकायो द्वारा लोक को दु ख विमुक्ति के लिये प्रयत्नशील रहते है और निर्वाण में प्रवेश नही करते है।

हीनयान में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये छ पारमिताओ को पूरा करना होता है जबकि महायान मे दस पारमिताओ को पूरा करना होता है।

---

१ "यदा मम परेषा च भय दु ख च न प्रियम्।
तदात्मन को विशेषो यत्त रक्षामि नेतरम् ॥" –शिक्षासमुच्चय, पृ० १।

२ "एव सर्वमिद कृत्वा यन्मयासादित शुभ।
तेन स्या सर्वसत्वाना सर्वदु खप्रशान्तिकृत् ॥"—बोधिचर्यावतार ३/६।
"मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा।
तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेणारसिकेन किं ॥"

—वही, ८/१०८।

हीनयान मे ध्यान साधना की प्रधानता होती है जबकि महायान मे महाकरुणा की साधना का प्राधान्य होता है। बोधिसत्व का लक्ष्य केवल अपना बुद्धत्व प्राप्त न कर सहस्त्रो प्राणियो को बुद्धत्व प्राप्त कराना होता है इसीलिए महायान में असख्य बुद्धो और बोधिसत्वो की कल्पना की गई है। बोधिचित्त उत्पाद के लिए महायान मे दस भूमियो—मुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघ को पार करना होता है जबकि हीनयान में चार भूमियो—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् का ही उल्लेख है।

हीनयान और महायान के बुद्धत्व की अवधारणा में पारस्परिक भेद का मुख्य कारण त्रिकायवाद का सिद्धान्त है। हीनयान सम्प्रदाय में स्थविरवादियो ने त्रिकाय के विषय मे कुछ स्पष्ट उल्लेख नही किया है। महायानियो ने त्रिकायवाद के अन्तर्गत बुद्ध के तीनो कायो—निर्माण-काय, सम्भोगकाय और धर्मकाय को आध्यात्मिक रीति से विवेचना की है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। बुद्धो की निम्न विशेषताएँ है। यथा—

दसबल[1]

१ तथागत स्थान को स्थान के रूप मे, अस्थान को अस्थान के रूप मे जानते है अर्थात् उन्हे प्रत्येक परिस्थिति मे क्या उचित है और क्या अनुचित है, इसका विवेक होता है।

२ तथागत अतीत, अनागत और वर्तमान मे किए गये सत्त्वो के कर्मो के विपाक-स्थान और विपाक-हेतु को जानते हैं।

३ तथागत सर्वत्रगामिनी प्रतिपदा को जानते है अर्थात् उन्हे निर्माण-मार्ग का यथार्थ ज्ञान होता है।

४ तथागत समस्त लोक या ब्रह्माण्ड को यथार्थ रूप से जानते है।

५ तथागत विविध स्वभाव वाले सत्वो अर्थात् प्राणियो को यथार्थ रूप से जानते है।

६ तथागत सभी प्राणियो की इन्द्रियो की सामर्थ्य और असामर्थ्य को जानते है।

७ तथागत ध्यान, विमोक्ष, समाधि और समापत्ति के बाधक (मलो) और सहयोगी कारको को यथार्थ रूप से जानते है।

---

१ मज्झिमनिकाय भाग १, महासीहनादसुत्त (१२।२), पृ० ९८–१०१

८ तथागत अनेक प्रकार के पूर्व निवासो अर्थात् पूर्वजन्मो का स्मरण कर सकते हैं अर्थात् उन्हें अनेक पूर्व जन्मो का ज्ञान होता है।

९ तथागत अपने विशुद्ध एव दिव्य चक्षु से कौन प्राणी मरकर कहाँ उत्पन्न होगा और कहाँ से मरकर यहाँ उत्पन्न हुआ है, इसे जानते हैं।

१० तथागत आस्रवो का क्षय हो जाने के कारण चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा की विमुक्ति को इसी जन्म मे प्राप्त कर लोक मे विचरण करते हैं।

चार वैशार[१]

१. तथागत सभी तथ्यों के ज्ञाता होते हैं अत उन्हें प्राश्निकों से कोई भय नही होता, दूसरे शब्दो मे उनकी प्रज्ञा विशाल होती है।

२ तथागत क्षीणास्रव (निर्मल चरित्र) होते है, उन्हें इस बात का कोई भय नही होता कि उनके निर्मल चरित्र पर कोई आक्षेप आ सके।

३ तथागत को कोई विघ्न या बाधा नही रहती। अत उन्हे दूसरो से किसी प्रकार का कोई भय भी नही रहता है।

४ तथागत को अपने द्वारा उपदिष्ट धर्ममार्ग के सम्बन्ध मे ऐसा कोई सशय या विचार नही होता कि यह सम्यक् प्रकार से दु ख क्षय की ओर नही ले जाता है।

अपने इन्ही दसबलो और चार वैशारद्यो के कारण तथागत परिषद् मे सिंहनाद करते हैं और धर्म चक्र का प्रवर्तन करते हैं। अपने बत्तीस महा पुरुष लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन, अष्टादश आवेणिक धर्म[२] यद्यपि हीनयान में उपलब्ध हैं तथापि महायान मे इनका विशद् विवरण मिलता है। महायान मे बुद्धत्व के लिए प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति को आवश्यक माना गया है। जहाँ महायान मे "प्रत्येक बुद्ध", "श्रावक" और "अर्हत्" को समान एव "बुद्ध" से निम्न माना गया है, वहाँ हीनयान मे "अर्हत्-पद" को सर्वोच्च एव गौरवपूर्ण कहा गया है, स्वय भगवान् बुद्ध भी "अर्हत्" कहे गये हैं।

महायान स्वहित को छोडकर परार्थ की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है। महायान मे बुद्धो की पूजा अथवा उपासना पर विशेष बल दिया जाता है जबकि हीनयान मे ध्यान आदि साधनाओ पर जोर दिया जाता है।

---

१ मज्झिमनिकाय, महासीहनादसुत्त भाग १ (१२/३), पृ० १०१-१०२

२ उद्धृत-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४५।

हीनयान का साधक निर्वाण-प्राप्ति मे सन्तुष्ट हो जाता है जबकि महायान का साधक सर्वज्ञता, अनुत्तर ज्ञान या "सम्बोधि" जिसे "तथता" भी कहते है, उसके लिए प्रयत्नशील रहता है। हीनयान का परमार्थ महायान के लिए सवृति-सत्य है। महायान का परमार्थ तत्त्व या परिनिष्पन्न सत्य तो केवल धर्मशून्यता है। महायान मे धीरे-धीरे मन्त्रो और धारणाओ का प्रभुत्व बढता गया जबकि हीनयान इनसे मुक्त रहा। हीनयान शील और समाधि प्रधान है जबकि महायान करुणा और प्रज्ञा से ओतप्रोत है।

असग ने अपने महायानाभिधर्मसङ्गीतिशास्त्र[1] मे महायान की सात विशेषताओ का वर्णन किया है। आधुनिक विद्वानो ने भी इसी आधार पर हीनयान और महायान के भेद को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[2]

१ व्यापकता

हीनयान का दृष्टिकोण सीमित है, जबकि महायान का दृष्टिकोण व्यापक है।

२ प्राणिमात्र के लिए करुणा

हीनहान का लक्ष्य व्यक्ति का निर्वाण मात्र है, जबकि महायान सभी प्राणियो के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील है। उसके अनुसार अर्हत् का पद, निर्वाण और तज्जन्य सुख तो मार का प्रलोभन मात्र है।[3]

३ पुद्गलनैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य

हीनयान केवल पुद्गल-नैरात्म्य मे विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा नाम की कोई चीज नही है। किन्तु महायान पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य दोनो मे विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा और धर्म कुछ भी नही है।

४ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति

बोधिसत्व प्राणियो के निर्वाण के लिए प्रयत्न करते समय कभी भी थकावट और निराशा का अनुभव नही करता, भले ही उसे इस लक्ष्य की

---

१ आउटलाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म, पृ० ६२-६५

२ उद्धृत—भारतीय दर्शन, पृ० १७९-१८० (डॉ० नन्द किशोर देवराज)

३ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ११, उद्धृत-इण्डियन फिलासफी भाग १, पृ० ६०१

प्राप्ति मे अनन्त काल लग जायें। जब कि हीनयान मे अर्हत् अपने ही निर्वाण तक सीमित रहता है।

५ उपाय-कौशल

बोधिसत्व का लक्ष्य प्राणिमात्र को निर्वाण के शाश्वत आनन्द की अनुभूति कराना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह असख्य उपायो का प्रयोग करता है। वह प्रत्येक व्यक्ति के निर्वाण के लिए उसी उपाय को काम में लाता है जो उसकी परिस्थिति और बौद्धिक क्षमता के सबसे अधिक अनुकूल होता है। अर्हत् ऐसा कोई उपाय नही करते है।

६ उच्चतर आध्यात्मिक उपलब्धि

हीनयान मे साधक की सर्वोच्च उपलब्धि अर्हत् का पद है। किन्तु महायान मे साधक बुद्धत्व को प्राप्त करता है। बुद्ध को समस्त आध्यात्मिक शक्तियाँ उसे उपलब्ध हो जाती हैं।

७ बृहत्तर क्रिया

बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त करने पर बोधिसत्व ब्रह्माण्ड की दसो दिशाओ मे प्रत्येक स्थल पर अपने को प्रकट कर सकता है। वह प्राणियो की आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर उन्हे निर्वाण का अमृत पद प्राप्त कराता है। जबकि हीनयान मे ऐसा कोई दावा नही किया जाता है।

बुद्धत्व के सम्बन्ध मे हीनयान तथा महायान का अन्तर

प्रोफेसर बी० एल० सुजुकी ने हीनयान और महायान का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है।[1]

क बुद्धत्व की व्याख्या

हीनयान में बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किन्तु महायान मे वे एक तात्विक और आध्यात्मिक सत्ता हैं। ससार मे अब तक असख्य बुद्ध हो चुके हैं और असंख्य होगे। शाक्य मुनि बुद्ध उन्ही मे से एक हैं। परमतत्व धर्मकाय है, वही प्राणियो के उद्धार के लिए बुद्ध के रूप में अवतार लेता है और अवतार के पूर्व तुषित लोक में विहार करता है। धर्मकाय के इन रूपो को क्रमश निर्माणकाय और सम्भोगकाय कहते हैं।

ख बुद्धत्व की प्राप्ति

महायान मे प्रत्येक व्यक्ति बुद्धत्व की प्राप्ति का अधिकारी है क्योंकि

१ उद्धृत भारतीय दर्शन, पृ० १८०-१८१ (डॉ० नन्द किशोर देवराज)

सभी मे बुद्धत्व सहजरूप से विद्यमान है और सभी में बोधि-प्राप्ति की उत्कण्ठा है। किन्तु हीनयान के अनुसार बुद्धत्व सबमें नही है। अष्टाग-मार्ग की साधना कर लोग इसे अर्जित कर सकते हैं।

ग सामान्य व्यक्ति की स्थिति

हीनयान मे गृहस्थ और भिक्षु में काफो अन्तर है किन्तु महायान में यह अन्तर काफी कम हो गया है।

घ निर्वाण के अर्थ मे भेद

हीनयान के अनुसार निर्वाण शान्ति या पूर्ण विराम की अवस्था है। यह एक गुण है जिसकी अष्टाग मार्ग द्वारा प्राप्ति होती है। महायान के अनुसार संसार और निर्वाण मे कुछ भी अन्तर नहीं है।

ङ कर्म तथा परिवर्त का सिद्धात

हीनयान में प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। उससे कोई बचा नही रह सकता किन्तु महायान में बुद्ध करुणा करके दुःख-सन्तप्त व्यक्ति को अपने शुभ कर्मों का फल प्रदान कर दुःख से मुक्त कर सकते हैं।

सक्षेप मे हीनयान का बुद्ध कल्याण मार्ग का उपदेष्टा है जबकि महायान का बुद्ध परम कारुणिक है वह अपना पुण्य सम्भार दूसरो को देकर उन्हें दुःख से त्राण देता है।

९. बुद्धत्व का अधिकारी कौन ?

(अ) निदान कथा के अनुसार बुद्धत्व के लक्षण

निदानकथा के अनुसार आठ लक्षणो से युक्त को ही बुद्धत्व प्राप्त हो सकता है[1]—मनुष्ययोनि, पुरुषलिंगी, हेतु (बुद्ध बीज), शास्ता का दर्शन, प्रव्रजित होना (प्रव्रज्या), गुण-सम्प्राप्ति, अधिकार तथा छन्दता।

१ मनुष्य योनि

बौद्ध धर्म मे बुद्धत्व प्राप्ति के लिए मनुष्ययोनि मे जन्म लेना आवश्यक बताया गया है, पशु, पक्षी, देवता आदि कोई भी इनका अधिकारी

---

१ मनुस्सत्त लिंगसम्पत्ति हेतु सत्थारदस्सन।
पब्बज्जा गुणसम्पत्ति, अधिकारो च छन्दता॥—निदानकथा ३४।
—उद्धृत निदानकथा—भूमिका, पृ० ३८ (हरिदाससंस्कृत ग्रन्थमाला)

नही बताया गया है। जैन धर्म मे भी तीर्थंकरत्व को प्राप्त करने के लिए मनुष्य जन्म ग्रहण आवश्यक माना गया है। जैन और बौद्ध दोनो ही मानते है कि केवल मनुष्य ही तीर्थंकर अथवा बुद्धत्व पद का अधिकारी हो सकता है। जहाँ तक हिन्दू धर्म का प्रश्न है इसमे भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य जन्म आवश्यक माना गया है किन्तु भगवान् के अवतार ग्रहण करने के लिए किसी भी योनि का बन्धन नही। वे मनुष्य, पशु, अर्ध-मनुष्य, अर्ध-पशु अथवा देव किसी रूप मे भी अवतरित हो सकते है।

२. पुरुष-लिंगी

बौद्ध धर्म मे बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए मनुष्य जन्म के साथ-साथ पुरुषलिंग अर्थात् पुरुष के रूप मे जन्म ग्रहण करना आवश्यक माना गया है। बौद्ध धर्म के अनुसार नपुंसक या स्त्रियाँ बुद्धत्व की अधिकारी नही। इस सम्बन्ध मे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय और बौद्ध दोनों समान मत रखते है। जैनो के दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार केवल पुरुष ही तीर्थङ्कर पद का अधिकारी हो सकता है। श्वेताम्बर परम्परा न केवल स्त्रियो और नपुंसकों को मुक्ति का अधिकारी मानती है अपितु यह भी मानती है कि स्त्री तीर्थङ्कर पद की अधिकारी हो सकती है। उनके अनुसार १९ वें तीर्थङ्कर मल्लि स्त्री थे। इनका विस्तृत विवरण ज्ञाताधर्मकथा मे मिलता है।

३. हेतु (बुद्ध-बीज)

हेतु से यहाँ अभिप्राय बुद्ध बीज से है, क्योकि मनुष्य योनि मे उत्पन्न होने से ही सभी लोग बुद्ध नही हो सकते। केवल बुद्ध-बीज से युक्त पुरुष ही बुद्ध हो सकता है। तपस्वी सुमेध के बारे मे निदानकथा मे कहा गया है कि वे बुद्ध-बीज से ग्रहीत होने के कारण ही बुद्ध हुए।[1] बुद्ध बीज की इस अवधारणा को जैनो के तीर्थङ्कर के नामकर्म से तुलनीय माना जा सकता है। जैनो के अनुसार जिस व्यक्ति ने तीर्थङ्कर-नामकर्म का उपार्जन किया हो वही व्यक्ति तीर्थंकर हो सकता है।

४ शास्ता का दर्शन

बौद्ध धर्म के अनुसार बुद्धत्व प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिए शास्ता अर्थात् बुद्ध का दर्शन होना आवश्यक माना गया है। जैन परम्परा मे इस

---

१ "सुमेधतापस सो किर बुद्धबीज बुद्धकुरो।"—निदानकथा ४०।
उद्धृत—निदानकथा—भूमिका, पृ० ३९ (हरिदास संस्कृत ग्रथमाला)

प्रकार का कोई उल्लेख नही है जिसमें तीर्थङ्कर नामकर्म उपार्जन के लिए किसी अन्य तीर्थङ्कर का दर्शन आवश्यक हो। यद्यपि तीर्थङ्कर नामकर्म उपार्जन के लिए जिन २० बोलो का विधान किया गया है, उनमे अरिहन्त की भक्ति को आवश्यक माना गया है। हिन्दू परम्परा में इस प्रकार की कोई अवधारणा हमे ज्ञात नही है।

५. प्रव्रजित होना

बौद्ध धर्म मे बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सन्यासी या प्रव्रजित होना आवश्यक माना गया है। सन्यासी या गृहत्यागी होकर ही बुद्धत्व को प्राप्त किया जा सकता है। जैन परम्परा मे तीर्थङ्कर के लिए दीक्षा या सन्यास लेना आवश्यक है। तीर्थङ्करो के पच कल्याणको में एक कल्याणक दीक्षा-कल्याणक है। सभी तीर्थङ्कर, तीर्थङ्कर के रूप में जन्म लेने के पूर्व एव अपने अन्तिम जीवन में सन्यास ग्रहण करते हैं। जहाँ तक हिन्दू परम्परा का प्रश्न है, वहाँ अवतार के लिए संन्यासी होना आवश्यक नही है। राम-कृष्ण आदि यावज्जीवन गृहस्थ रहे। कुछ ऐसे अवतार भी हुए हैं जिन्होंने यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, जैसे परशुराम, वामन, नारद आदि। हिन्दू-परम्परा के अनुसार अवतार सन्यासी भी हो सकता है और गृहस्थ भी।

६. गुणसम्प्राप्ति

गुणसम्प्राप्ति से अभिप्राय पाँच अभिज्ञा तथा आठ समापत्ति से है।[1]

डॉ० महेश तिवारी ने निदानकथा के पारिभाषिक शब्द विवरण अध्याय में अभिज्ञा तथा अट्ठसमापत्ति की विशद् चर्चा की है।

अभिज्ञा (अभिञ्ञा)—समाधिर्जनित विशेष प्रज्ञा का नाम अभिञ्ञा है। रूप-समाधि में पचम ज्ञान की पूर्णत परिपक्वता होने पर कुछ मानसिक शक्तियो का उदय होता है। इसमे चित्त के अत्यधिक सूक्ष्म एवं एकाग्र होने पर आध्यात्मिक ज्ञानविशेष की उपलब्धि होती है। यह पाँच प्रकार की कही जाती है। यथा—

"इद्धिविध दिब्बसोत, परिचित्तविजाननं।
पुब्बेनिवासानुस्सति, दिब्बचक्खू ति पञ्चधा॥"

एक से अनेक होना, अनेक से पुन एक होना, जल में चलना, पृथ्वी में जल की भाँति गोता लगाना, आकाश में उडना आदि आश्चर्यजनक

---

१ उद्धृत—निदानकथा (हरिदास चस्कृत ग्रंथमाला), पृ० २३७-२३९।

कार्य इद्धिविध कहलाते हैं, इसी को इद्धि भी कहते हैं। दिव्यश्रोत्र से उसे एक ऐसी श्रवण शक्ति की प्राप्ति होती है, जिसके सहारे दिव्य तथा मानुषिक समस्त प्रकार के निकट एवं दूरवर्ती शब्दो को सुन लेता है। पर-चित्तविजाननशक्ति के माध्यम से अन्य मनुष्यो के चित्त को जाना जा सकता है। पुब्बेनिवासानुस्सति के सहारे वह अपने अनेक पूर्व जन्मो का पूर्ण विवरण जान लेता है। इसी प्रकार दिव्य चक्षु से वह विभिन्न सत्त्वों मे कर्मानुसार हीन या प्रणीत गति तथा योनि में उत्पन्न होते एव मृत्यु को प्राप्त होते देखता है।[1]

समापत्ति

समाधि विषयक आठ प्रकार की उपलब्धियो को अट्ठ-समापत्ति कहते हैं। चित्त का विभिन्न विषयो से हटकर एक विषय पर एकाग्र होना ही समाधि की अवस्था कहलाती है। इसे कुशल चित्त की एकाग्रता या चित्त चेतसिको का किसी एक आलम्बन पर आधान भी कहा गया है—"कुसल चित्तेकग्गता समाधि। एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं सम सम्मा च आधानं ठपन ति वुत्त।"[2] पटिसम्भिदामग्ग मे इसे एकाग्रता, अविक्षेप, अनिञ्जन सम्यक् एषणा आदि अर्थों मे बतलाया गया है।[3]

समाधि दो प्रकार की होती है—रूपसमाधि तथा अरूपसमाधि। रूपसमाधि मे आलम्बन का विषय रूप होता है। परन्तु अरूपसमाधि मे रूपरहित विषय होता है।

रूपसमाधि की चार अवस्थायें—प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीय ध्यान तथा चतुर्थ ध्यान होती हैं। प्रथम ध्यान मे पाँचो ध्यानाग—वितर्क विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता बने रहते है। द्वितीय ध्यान मे वितर्क एव विचार अनुपस्थित हो जाते हैं—केवल तीन ध्यानाग रह जाते हैं। तृतीय ध्यान मे प्रीतिध्यानाग भी हट जाता है। केवल सुख एवं एकाग्रता के साथ इस ध्यान की प्राप्ति होती है। चतुर्थ ध्यान में सुख के स्थान पर उपेक्षा आ जाती है तथा उपेक्षा एव एकाग्रता नामक दो ध्यानागो से युक्त इस ध्यान की उपलब्धि होती है। रूप-समाधि मे इन चारों ध्यानो

---

१ अभिधम्मत्थसङ्गहो १६६-६७, उद्धृत—निदानकथा (डॉ० महेश तिवारी) पृ० २३९।

२ विसुद्धिमग्ग–५७, उद्धृत वही, पृ० २३७।

३ पटिसम्भिदामग्ग–५५, उद्धृत वही, पृ० २३७।

का आलम्बन एक रहता है, केवल ध्यानागो का ही समतिक्रमण होता है। अभिधर्म के अनुसार पाँच रूपावचर ध्यान कहे गये हैं।

अरूप-समाधि की भी चार अवस्थाये होती है, जिन्हे चार अरूपावचर ध्यान कहा जाता है—*आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन,* आकिञ्चन्यायतन एव नेवसज्ञानासज्ञायतन। ध्यान की इन चारो अवस्थाओ मे उपेक्षा तथा एकाग्रता नामक दो ध्यानाग रहते है। इस कारण अरूपावचर के सभी ध्यान पचम ध्यान कहे जाते है। यहाँ प्रत्येक ध्यान का आलम्बन भिन्न-भिन्न रहता है। प्रथम ध्यान मे अनन्त आकाश विषय रहता है। द्वितीय ध्यान का लाभ अनन्त-विज्ञान पर होता है। आकिंचन्य ही तृतीय ध्यान का आलम्बन है तथा इसी विषय को शान्त रूप मे मनन करते हुए चतुर्थ ध्यान का लाभ होता है।

अस्तु चार रूप ध्यान तथा चार अरूप-ध्यान को अट्ठ ससापत्ति कहते है।

७. अधिकार

अधिकार शब्द से तात्पर्य शक्ति या बल है। यह माना गया है कि बुद्ध वही व्यक्ति हो सकता है जिसमे अपार शक्ति या बल हो। जैन परम्परा मे भी तीर्थङ्कर को अपार शक्ति से युक्त माना गया है। यद्यपि यहाँ शक्ति आन्तरिक या चैतसिक शक्ति का हो परिचायक है, फिर भी दोनो परम्पराएँ यह स्वीकार करती है कि बुद्ध या तीर्थङ्कर अपने शरीर की शक्ति से अनन्त बली होते है। हिन्दू-परम्परा मे भी अवतार को, चूँकि वह ईश्वर का ही रूप है, इसलिए अनन्त शक्ति से सम्पन्न माना जाता है।

८. छन्दता

बुद्धत्व प्राप्ति की साधना मे लगे व्यक्ति की उसके साधनो के प्रति प्रबल इच्छा, उत्साह, अनवरत प्रयत्न आदि को छन्दता की सज्ञा दी गई है। छन्दता का अर्थ इच्छा स्वातन्त्र्य भी कर सकते हैं। जैन और बौद्ध दोनो परपरायें यह मानती है कि तीथङ्कर और बुद्ध नियति के दास नही होते। उनमे स्वतत्र सकल्प शक्ति होती है। यद्यपि जैनपरम्परा मे आयुष्य कर्म के सम्बन्ध मे तीर्थङ्कर को भी परिवर्तन करने मे अक्षम माना गया है।

उपरोक्त आठ मूलभूत धर्म बुद्धत्व प्राप्ति के आवश्यक अग हैं। बौद्ध

ग्रन्थो के अनुसार सुमेध तपस्वी ने इन सभी धर्मों का पालन कर बुद्धत्व प्राप्त किया था—

"सुमेधतापसो पन इमे अट्ठ धम्मे समोधानेत्वा बुद्धभावाय अभिनीहार कत्वा निपज्जि।"

सयुत्तनिकाय अट्ठकथा[1] मे कहा गया है कि बोधिसत्त्व को आठ धर्मों के अतिरिक्त चार बुद्ध-भूमियो तथा छ अध्याशयो को प्राप्त करना भी आवश्यक है।

९. चार भूमियाँ

'उस्साह, उम्मग्ग, अवत्थान तथा हितचरिया" को क्रमश वीर्य, प्रज्ञा, अधिष्ठान तथा मैत्री भावना भी कह सकते हैं।

छ अध्याशय

नेक्खम्मज्झासय	(निष्क्रम अध्याशय)
पविवेकज्झासय	(प्रविवेक अध्याशय)
अलोभज्झासय	(अलोभ अध्याशय)
अदोसज्झासय	(अद्वेष अध्याशय)
अमोहज्झासय	(अमोह अध्याशय)
निस्सरणज्झासय	(नि सरण अध्याशय)

जातक मे बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्व के लिए तीन चर्याओ (जातत्थ, लोकत्थ भूतत्थ) तथा स्त्री, पुत्र, राज्य, अग, जीवन-परित्याग विषयक पाँच महात्याग भी आवश्यक बताये गये है।[2]

इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए उपरोक्त गुणो का होना आवश्यक बताया गया है।

१०. अर्हत्व एव बुद्धत्व की प्राप्ति के उपाय

बौद्ध परम्परा मे अर्हत्त्व एव बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए साधक को कुछ अवस्थाओ या सोपानो से गुजरना पडता है। आध्यात्मिक विकास की इन अवस्थाओ को बौद्ध धर्म मे भूमियाँ कहा गया है। इन भूमियो की मान्यता को लेकर बौद्ध धर्म के सम्प्रदायो मे मत वैभिन्न्य है।

---

१ सयुत्तनिकाय अट्ठकथा १–५०, उद्धृत–निदानकथा, भूमिका पृ० ३९।

२ जातक स० ५५२, उद्धृत—निदानकथा (डॉ० महेश तिवारी)—भूमिका, पृ० ४०।

श्रावकयान अथवा हीनयान सम्प्रदाय जिसका चरम लक्ष्य अर्हत् पद अथवा व्यक्तिगत निर्वाण लाभ करना है, आध्यात्मिक विकास की चार भूमियों को मानता है, जबकि महायान सम्प्रदाय, जिसका चरम लक्ष्य बुद्धत्व को प्राप्त कर लोकमगल के लिए कार्य करना है, आध्यात्मिक विकास की दस भूमियो को मानता है। अब हम यहाँ पर दोनो सम्प्रदायो के विचारो को देखने का प्रयास करेंगे।

(अ) अर्हत्-पद प्राप्त करने के चार-चरण

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म मे भी जैन धर्म के समान ससारी प्राणियो की दो श्रेणियाँ कही गई हैं, १—पृथक्जन या मिथ्यादृष्टि, २—आर्य या सम्यक्दृष्टि। प्राणी के आध्यात्मिक अविकास के काल को पृथक्जन की अवस्था कहा जाता है और विकास के काल को आर्य कहा जाता है। विकास के काल का शुभारम्भ तभी होता है जब प्राणी या साधक सम्यक्-दृष्टि के द्वारा निर्वाण के मार्ग की ओर उन्मुख हो जाता है। फिर भी यह सत्य है कि सभी पृथक्जन प्राणी एक समान नही होते। कुछ पृथक्जन प्राणी ऐसे भी होते हैं कि जिनका आचरण कुछ सम्यक् प्रकार का होता है अर्थात् वे सम्यक्दृष्टि या यथार्थदृष्टि के सन्निकट होते हैं। अत. पृथक्जन भूमि को अन्धपृथक्जन और कल्याणपृथक्जन इन दो भागो में विभक्त किया है। अन्धपृथक्जन मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण निर्वाण मार्ग की ओर उन्मुख ही नही होता है, परन्तु कल्याणपृथक्जन निर्वाण मार्ग की ओर अभिमुख तो होता है परन्तु उसे अभी प्राप्त नही होता है। मज्झिमनिकाय मे इस अवस्था या भूमि को धर्मानुसारी या श्रद्धानुसारी भूमि कहा गया है। हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार सम्यक्दृष्टि से युक्त निर्वाण मार्ग के साधक को अर्हत् पद प्राप्त करने के लिए चार अवस्थाओ या भूमियो को पार करना होता है[2]—

१—स्रोतापन्न भूमि
२—सकृदागामी भूमि
३—अनागामी भूमि
४—अर्हत् भूमि

१. स्रोतापन्न भूमि

'स्रोतापन्न' का शाब्दिक अर्थ है धारा मे पडने वाला, अर्थात् जब

---

१ मज्झिमनिकाय, प्रथम भाग ६ १ ३ पृ० ४५

२ उद्धृत—बौद्ध दर्शन, पृ० १४० (प० बलदेव उपाध्याय)

साधक निर्वाण मार्ग के प्रवाह मे प्रवाहित होने लगता है तब वह स्रोतापन्न कहलाता है। बौद्ध विचारधारा के अनुसार इस अवस्था मे साधक निम्न तीन सयोजनो अर्थात् बन्धनो का क्षय कर देता है[1]—

१—सत्काय दृष्टि—देहात्म बुद्धि अर्थात् नश्वर शरीर को आत्मा मानकर उसके प्रति ममत्व रखना।

२—विचिकित्सा—सन्देहात्मकता।

३—शीलव्रत परामर्श—व्रत–उपवास आदि बाह्य कर्मकाण्डो के प्रति रुचि रखना।

इस प्रकार साधक दार्शनिक मिथ्यादृष्टि और कर्मकाण्डीय शीलव्रत परामर्श का त्याग कर तथा सब प्रकार की सन्देहात्मक अवस्थाओ को पार कर स्रोतापन्न भूमि मे अवस्थित हो जाता हैं। दार्शनिक एव कर्मकाण्डीय मिथ्यादष्टिकोणो एवं सन्देहात्मकता की स्थिति के नष्ट हो जाने के कारण इस स्रोतापन्न भूमि से पतन की ओर जाने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है और साधक निर्वाणाभिमुख हो आध्यात्मिक दिशा में प्रगति करता है। स्रोतापन्न साधक निम्न चार अगो से युक्त होता है[2]—

१—बुद्धानुस्मृति—साधक बुद्ध मे निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।

२—धर्मानुस्मृति—साधक धर्म मे निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।

३—सघानुस्मृति—साधक सघ मे निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।

४—साधक शील और समाधि से युक्त होता है।

अर्थात् साधक के हृदयपटल मे बुद्ध, धर्म और सघ के प्रति अटूट श्रद्धा होती है। इस स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त साधक का आचार और विचार विशुद्ध होता है और वह अधिक से अधिक सात जन्मो में निर्वाण लाभ प्राप्त कर लेता है।[3]

२. सकृदागामी भूमि

इस भूमि में साधक का मुख्य लक्ष्य आस्रवो (राग–द्वेष एव मोह) का क्षय करना होता है, क्योकि स्रोतापन्न की अवस्था मे साधक काम-

---

१ दीघनिकाय, पृ० ५७–५८ (उद्धृत–बौद्ध दर्शन प० बलदेव उपाध्याय, पृ० २४१)

२ दीघनिकाय, पृ० २८८, उद्धृत–वही, पृ० २४१।

३. उद्धृत–बौद्ध दर्शन, पृ० २४१।

है। महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ "दसभूमिशास्त्र" मे बुद्धत्व को प्राप्त करने की निम्न दस अवस्थायें (भूमियाँ) बतलाई गई हैं[1]—

१-प्रमुदिता, २-विमला, ३-प्रभाकरी, ४-अर्चिष्मती, ५-सुदुर्जया, ६-अभिमुक्ति, ७-दूरगमा, ८-अचला, ९-साधुमती, १०-धर्ममेघा।

असग के महायानसूत्रालङ्कार और लकावतार मे ११ भूमियो का उल्लेख मिलता है। महायानसूत्रालङ्कार और लकावतार मे अधिमुक्ति चर्याभूमि को प्रथम भूमि की सज्ञा दो गई है उसके वाद प्रमुदिता भूमि अन्तिम धर्ममेघा या बुद्ध भूमि तक को परिगणना से ११ भूमियो की सख्या पूर्ण की गई है। इसी प्रकार लकावतारसूत्र मे धर्ममेघा और तथागत (बुद्ध) भूमियो को अलग-अलग माना गया है।

अधिमुक्तचर्याभूमि

असग का कथन है कि अधिमुक्तचर्याभूमि मे साधक को पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान होता है और यह अवस्था विशुद्धि की अवस्था कही जाती है। बौद्ध धर्म मे इसे बोधिप्रणिधिचित्त की अवस्था भी कहा जाता है। इसी भूमि मे बोधिसत्व दान पारमिता का अभ्यास करता है। यह बुद्धत्व की दिशा मे साधना का पूर्व चरण है। इसके आगे निम्न दस भूमियाँ मानी गई हैं—

१. प्रमुदिता

इसमे शील की शिक्षा होती है। अर्थात् यह शील विशुद्धि के प्रयास की अवस्था है। बोधिसत्त्व इस भूमि मे लोकमगल की साधना करता है और यह अवस्था बोधिप्रस्थानचित्त की अवस्था कही जा सकती है। बोधिप्रणिधिचित्त मे मार्ग का बोध होता है तो बोधिप्रस्थानचित्त मे मार्ग मे गमन की प्रक्रिया का। इस भूमि मे साधक शील-पारमिता का अभ्यास करता है और अपने शील का विशुद्ध कर सूक्ष्म से सूक्ष्म अपराध करने से विरत रहता है। इस प्रकार पूर्ण शील विशुद्धि की अवस्था प्राप्त कर अग्रिम विमला भूमि मे प्रविष्ट हो जाता है।

२. विमला

इस अवस्था मे साधक अनैतिक आचरण से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। इसमें विकार पूर्णरूपेण विनष्ट हो जाते हैं, इसी कारण इसको विमला कहते हैं। यह अवस्था आचरण के पूर्ण शुद्धि की अवस्था कहलाती है और

---

१ उद्धृत–बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३६०-३६२

इसी भूमि में बोधिसत्त्व शान्ति-पारमिता का अभ्यास करता है। यह अचिन्त्य मिला है। इस भूमि का लक्षण ध्यान की प्राप्ति है। इससे अच्युत समाधि का लाभ होता है।

३. प्रभाकरी

इस भूमि में साधक समाधि के द्वारा अनेकानेक धर्मों का साक्षात्कार कर लोकहित के लिए बोधि-पक्षीय धर्मों की परिणामना करता है अर्थात् वह बुद्ध का ज्ञानरूपी प्रकाश लोक में फैलाता है इसी कारण इस भूमि को प्रभाकरी कहा गया है।

४. अर्चिष्मती

इस भूमि में साधक क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का विनाश करता है और वीर्य-पारमिता का अभ्यास करता है।

५. सुदुर्जया

इस भूमि में साधक दूसरो के धार्मिक विचारो को पुष्ट करता है और स्वचित्त की रक्षा के लिए दु ख पर विजय प्राप्त करता है। यह कार्य अति दुष्कर है इसी से इस भूमि को "दुर्जया" कहा गया है। इस भूमि में प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के कारण भवापत्ति (ऊर्ध्वलोको में उत्पत्ति की आकाक्षा) विषयक सक्लेशो से रक्षा हो जाती है। इस भूमि में बोधिसत्त्व ध्यान-पारमिता का अभ्यास करता है।

६. अभिमुखी

इस भूमि में बोधिसत्त्व या साधक प्रज्ञा-पारमिता के आश्रय से ससार और निर्वाण—दोनो के प्रति अभिमुख रहता है। उसमें यथार्थ प्रज्ञा का उदय होता है और उसके लिए ससार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं रहता। अब ससार उसके लिए बन्धक नहीं रहता। इसमें साधक निर्वाण की दिशा में अभिमुख होता है इसी से इस अवस्था को अभिमुखी भूमि कहा जाता है। चौथी और पाँचवी भूमि में वह प्रज्ञा का अभ्यास करता है किन्तु इस भूमि में प्रज्ञा की पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

७. दूरंगमा

बोधिसत्त्व इस भूमि में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद अर्थात् एकातिक मार्ग से बहुत दूर चला जाता है और बोधिसत्त्व की साधना पूर्ण कर निर्वाण लाभ के योग्य हो जाता है। इस भूमि मे बोधिसत्त्व ससार के

अन्य प्राणियो को निर्वाण मार्ग की ओर अभिमुख करता है और इस अवस्था मे स्वय सभी पारमिताओ का पालन करता है एव विशेषरूप से उपाय कौशल्य-पारमिता का अभ्यास करता है।

८. अचला

इस भूमि में सकल्पशून्यता एव विषयरहित अनिमित्त-विहारी समाधि की उपलब्धि होती है इसलिए यह भूमि अचल कही गई है, विषयो के न रहने से चित्त संकल्प शून्य हो जाता है और सकल्प शून्य होने से चित्त अविचल हो जाता है क्योकि चित्त की चंचलता के कारण विचार एव विषय ही होते हैं जबकि इस अवस्था मे उनका पूर्णरूपेण अभाव रहता है। चित्त के सकल्पशून्य होने से इस अवस्था में तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।

९. साधुमती

इस भूमि मे बोधिसत्त्व के हृदय मे ससार के सभी प्राणियो के प्रति दयाभाव एव शुभ भावनाओ का उदय होता है और वह प्राणियो के बोधि-बीज को परिपुष्ट करता है। समाधि की विशुद्धता एव प्रतिसविन्मति (विश्लेषणात्मक अनुभव करने वाली बुद्धि) इस भूमि की प्रधानता है। बोधिसत्त्व को इस अवस्था में दूसरे प्राणियो के मनोगत या आन्तरिक भावो को जानने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

१०. धर्ममेधा

जिस प्रकार अनन्त आकाश को मेघ व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार इस भूमि में धर्माकाश को समाधि व्याप्त कर लेती है। इस भूमि मे बोधिसत्त्व दिव्य भव्य शरीर प्राप्त कर कमल पर विराजमान दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुत यह बुद्धत्व की पूर्ण प्राप्ति की अवस्था है। यहाँ बोधि-सत्त्व बुद्ध बन जाता है।

बुद्धत्व की प्राप्ति का मूलभूत आधार—बोधिचित्त का उत्पाद

मानव जन्म के द्वारा ही बुद्धत्व की प्राप्ति हो सकती है परन्तु बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिचित्त का उत्पाद अनिवार्य है। परन्तु ऐसा देखने में आता है कि अधिकाशत मनुष्य की बुद्धि शुभ कर्मों मे प्रवृत्त न होकर अशुभ कर्मों मे लिप्त होती है। क्योकि सभी कालो में पुण्य को दुर्बल

शान्तिदेव के अनुसार बोधिचित्त के उत्पाद के लिए बुद्ध, सद्धर्म तथा बोधिसत्व की आराधना आवश्यक है।[1] बोधिचित्त ही सब पापो को समूल नष्ट करने का एक आधार है। यह उस कल्पवृक्ष के समान है जो मनोवाछित फल देने मे सक्षम होता है। आर्यगण्डव्यूहसूत्र मे भगवान् अजित ने कहा है कि बोधिचित्त ही सब बुद्ध धर्मों का बीज है।

"बोधिचित्त हि कुलपुत्र बीजभूत सर्वबुद्धधर्माणाम्।"

अत हम कह सकते है कि महायान सम्प्रदाय मे बुद्धत्व की प्राप्ति का मूलाधार बोधिचित्त है। क्योकि बोधिचित्त का उदय होते ही प्राणी के अन्दर करुणाभाव की अनुभूति होने लगती है। यही करुणाभाव बुद्धत्व प्राप्ति का आवश्यक तत्त्व है, इस तरह बोधिचित्त का उत्पाद ही बोधिसत्व होने अथवा बुद्धत्व को प्राप्त करने का मूलाधार है।

अर्हत्, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध के आदर्श

बौद्ध धर्म मे साधक जीवन के तीन आदर्श होते हैं—अर्हत्, प्रत्येक-बुद्ध और सम्यक्-सम्बुद्ध या बुद्ध। यहाँ हम अलग-अलग तीनो आदर्शों के बारे मे विचार करेंगे। बौद्ध धर्म मे पूर्वापेक्षया परपद श्रेष्ठ माना गया है। इन तीनो ही आदर्शों का मुख्य ध्येय दु ख से निवृत्त होकर निर्वाण लाभ प्राप्त करना रहा है।

(क) अर्हत्

वे साधक जिनके हृदय मे अपनी दु ख-विमुक्ति के लिए स्वय ज्ञान या बोधि का उदय नही होता है बल्कि बुद्धादि शास्ताओ के उपदेशो से ज्ञान प्राप्त होता है। वे बुद्ध के उपदेशो से प्रेरित होकर साधना करते हैं और तृष्णा का उच्छेदकर दु ख-विमुक्त हो अर्हत पद प्राप्त करते हैं और अन्त मे निर्वाण प्राप्त करते हैं। अर्हत् पद के साधक का लक्ष्य स्वय की मुक्ति प्राप्त करना होता है, दूसरे प्राणियो के दु ख दूर करने के लिए वह कोई भी प्रयत्न नही करता है और न ही लोक-कल्याण के लिए उपदेश ही देता है। अर्हत् अवस्था को प्राप्त करने के बाद भी साधक

---

१ अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्तिकिञ्चित्।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥
—बोधिचर्यावतार, २/७

सघ मे ही रहता है और सघीय अनुशासन मे रहकर साधना करते हुए अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है ।

(ख) प्रत्येक बुद्ध

प्रत्येक-बुद्ध को मौन बुद्ध की सज्ञा भी दी जा सकती है क्योकि चुल्ल-निद्देश मे कहा गया है कि ऐसे बुद्ध अनाचर्यक भाव से प्रत्येक सम्बोधि को प्राप्त करने के बाद भी धर्मोपदेश नही करते हैं ।[1] वे स्वय मुक्त होते हैं पर जनसमूह की मुक्ति के लिए धर्मशासन की स्थापना नही करते हैं तथा विमुक्ति सुख मे रहकर एकान्त विहार करते हैं ।

वे पुरुष जो अपना ही कल्याण करते हैं दूसरो के कल्याण के लिए प्रयत्न नही करते प्रत्येक-बुद्ध कहलाते हैं । प्रत्येक-बुद्ध और अर्हत् मे अन्तर यह होता है कि अर्हत् बुद्धादि शास्ता के उपदेश से सम्यक् दृष्टि को प्राप्त करता है, वहाँ प्रत्येक-बुद्ध स्वय ही सम्यक् दृष्टि या बोध को प्राप्त करते हैं । प्रत्येक-बुद्ध का आदर्श अर्हत् के आदर्श से श्रेष्ठ होता है क्योकि प्रत्येक-बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद की साधना के द्वारा स्वय बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है । वह अपना दुःख स्वय दूर कर लेता है परन्तु वह दूसरो के दुःख दूर करने का प्रयत्न नही करता है । अत॰ उसका आदर्श अर्हत् के आदर्श से श्रेष्ठ होते हुए भी बुद्ध के आदर्श से भिन्न होता है ।

(ग) सम्यक्-सम्बुद्ध या बुद्ध

अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध की अपेक्षा बुद्ध या सम्यक्-सम्बुद्ध का आदर्श श्रेष्ठ होता है क्योकि वे अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त कर विश्व कल्याण की भावना रखते हैं । गोपीनाथ कविराज का कहना है कि (मात्र) क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के निवृत्त होने से बुद्धत्व लाभ नही होता है । श्रावक (अर्हत्) और प्रत्येक-बुद्ध का भी पूरा द्वैतभाव समाप्त नही होता है । केवल सम्यक्-सम्बुद्ध ही द्वैतभाव से निवृत्त होता है । क्योकि बुद्ध मे अपने और पराये का भाव नही होता है । वे अनन्त ज्ञान और करुणा के भण्डार हैं । सम्यक्-सम्बुद्ध या बोधिसत्व का लक्ष्य स्व-दुःख की निवृत्ति न होकर परार्थ भावना या निरन्तर जीव सेवा करना

---

१ "एव सो पच्चेक-सम्बुद्धो एको अनुत्तर पच्चेक-सम्बोधि अभिसम्बुद्धो ति एको ।"—खुद्दकनिकाय भाग ४ (२), चुल्लनिद्देश, (३ ८ १), पृ० २४६

२ बौद्ध धर्म दर्शन—भूमिका, पृ० २४

है, उसकी इस लोकानुकम्पा की भावना का उल्लेख हमे पालिनिकाय से लेकर परवर्ती महायान साहित्य तक सभी में मिलता है।[1]

(घ) तुलना

उपर्युक्त तीनो आदर्शों मे एक अन्तर स्थापित किया गया है। यदि हम लोकमगल की दृष्टि मे देखें, जहाँ बुद्ध और बोधिसत्व का लक्ष्य अपनी दुःख-विमुक्ति के साथ ही साथ संसार के प्राणियो की दुःख विमुक्ति भी है वहाँ अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध मात्र अपनी दुःख-विमुक्ति का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध दोनो ही समान प्रतीत होते हैं किन्तु इन दोनों में एक महत्व-पूर्ण अन्तर भी रहा है। अर्हत् पथ का साधक बुद्ध के उपदेशो से प्रेरित होकर स्व-दुःख विमुक्ति और निर्वाण लाभ को प्राप्त करता है जब कि प्रत्येक-बुद्ध स्वय ही अपनी साधना द्वारा बोधि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जो बुद्ध के उपदेश से बोधि को प्राप्त होता है वह अर्हत् कहलाता है और जो स्वय ही बोधि को प्राप्त होते हैं, वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। पुन अर्हत् संघ के अनुशासनो में रहकर ही साधना करता है, और बोधि लाभ प्राप्त करता है तथा अर्हत् अवस्था प्राप्त करने के बाद भी सघ जीवन में रहता है जबकि प्रत्येक-बुद्ध का सघ-व्यवस्था एव सघीय जीवन से कोई सम्बन्ध नही होता है। वह एकाकी ही साधना करता है और स्वयं बोधि लाभ प्राप्त करके भी एकाकी जीवन जीता है।

जैनपरम्परा में भी इन तीनों के समान स्वयं-सम्बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध-बोधित ऐसे तीन स्तर माने गये हैं, जिसका तुलनात्मक विवेचन हम अगले अध्यायो में करेंगे।

बुद्धो के प्रकार—अतीतबुद्ध, वर्तमानबुद्ध और अनागत या भावीबुद्ध

बौद्ध साहित्य में २४ बुद्धो की अवधारणा को बुद्धवंश मे अतीत बुद्ध कहा गया है।[2] बुद्धवश में पूर्ववर्ती २४ बुद्धो की जीवनी पौराणिक ढंग से

---

१ (अ) महावग्ग, (१ १० ३२), पृ० २३
(ब) सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० १९, उद्धृत–मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद पृ० २८

२ महायान, पृष्ठ १९

उल्लिखित की गई है।[1] भगवान् बुद्ध को इन २४ बुद्धो के साथ सम्बद्ध करने के लिए यह धारणा अपनाई गई कि पूर्वजन्म मे शाक्यमुनि बुद्ध ने इन पूर्ववर्ती बुद्धो की सेवा की थी। शाक्यमुनि बुद्ध को २५ वें बुद्ध के रूप मे निरूपित किया गया। इस प्रकार बुद्धवश के अनुसार २४ बुद्ध तो अतीतबुद्ध कहलाये और शाक्यमुनि गौतम वर्तमान बुद्ध हुए।

इस प्रकार अतीत और वर्तमान बुद्ध की अवधारणा से भी बौद्ध आचार्य सन्तुष्ट न हुए और उन्होंने अनागतवश अर्थात् भावी बुद्ध की कल्पना कर मैत्रेय बुद्ध को २६वें बुद्ध के रूप मे प्रतिपादित किया।[2] अनागतवश मे मैत्रेय सहित १० भावी बुद्धो के नाम है। उनके बारे मे यह कहा गया है कि ये सभी गौतम बुद्ध से मिले थे और गौतम बुद्ध ने उनके भावी बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी।[3] ये दस बुद्ध निम्न हैं-

मैत्रेय, उत्तम, राम, प्रसेनजित्कौशल, अभिघू, दीर्घसोणी, सकस्य, सुभ (शुभ), तोदेय्य और नालागिरिपल्लेय्य।

क्रमिक अध्ययन से प्रतीत होता है कि बुद्धवश मे अतीत बुद्धो की कल्पना के कारण ही भावी बुद्धो की कल्पना भी आई होगी। फलस्वरूप ऐतिहासिक बुद्ध शाक्य मुनि वर्तमान बुद्ध और मैत्रेय आदि भावी बुद्ध माने गये।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पहले अतीत, वर्तमान और अनागत बुद्धो की अवधारणा का विकास हुआ होगा, फिर अतीत बुद्धो की सख्या का प्रश्न आया, पालि त्रिपिटक मे वह शाक्य मुनि को मिलाकर सात मानी गई, फिर लकावतार मे चौबीस बुद्धो की अवधारणा आई। भावी बुद्धो की कल्पना के साथ यह सख्या स्थिर न रह सकी। अन्त मे महायान साहित्य मे अनन्त बुद्धो की अवधारणा को स्वीकार कर लिया गया।

---

१ बुद्धवश (देवनागरी सस्करण भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित)

२ पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५८५

३ मेत्तेय्यो उत्तमो रामो, पसेनदिकोसलोभिभू।
दीघसोणि च सकच्चो, सुभो तोदेय्यब्राह्मणो।
नालागिरिपल्लेय्यो, बोधिसत्ता इमे दस।
अनुक्कमेन सम्बोधि, पापुणिस्सन्ति नागते॥
—पालि प्रापर नेम्स, भाग २, पृ० २९५

(क) धर्मताबुद्ध, निष्यदबुद्ध और निर्माणबुद्ध

लकावतारसूत्र मे हमे त्रिकाय की अवधारणा के स्थान पर त्रिबुद्धो की अवधारणा मिलती है, उसमे निम्न तीन प्रकार के बुद्धो का उल्लेख प्राप्त होता है[1]—धर्मताबुद्ध, निष्यंदबुद्ध और निर्माणबुद्ध ।

लकावतार की यह त्रिबुद्धो की कल्पना और त्रिकाय की अवधारणा परस्पर सम्बन्धित ही हैं। धर्मताबुद्ध धर्मकाय हैं, निष्यदबुद्ध सम्भोगकाय हैं और निर्माणबुद्ध निर्माणकाय हैं। जिस प्रकार धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय बुद्धत्व की तीन स्थितियाँ है उसी प्रकार धमंताबुद्ध निष्यंदबुद्ध और निर्माणबुद्ध बुद्धत्व के त्रिप्रकार हैं।[2]

त्रिकायवाद की अवधारणा और त्रिशुद्धो की अवधारणा मे हमे तत्त्वत कोई विशेष अन्तर नजर नही आता है। डॉ० कपिलदेव पाण्डेय की मान्यता है कि बौद्ध धर्म मे "जिन त्रिकायो (धर्मकाय, सभोगकाय और निर्माणकाय) का अधिक प्रचार रहा है, वे प्रारम्भ मे बुद्ध के विशिष्ट रूपो से ही सम्बद्ध रहे हैं इन कायों को ही पूर्ववर्ती साहित्य मे क्रमश धर्मताबुद्ध, निष्यन्दबुद्ध और निर्माणबुद्ध कहा जाता था।"[3] लकावतार-सूत्र का सन्दर्भ देते हुए उन्होने इस बात को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि धमंताबुद्ध से निष्यन्दबुद्ध और निष्यन्दबुद्ध से निर्माणबुद्ध उत्पन्न हुए। इस प्रकार इन तीनो मे परस्पर कार्य-कारण भाव भी है। धर्मताबुद्ध ही वास्तविक बुद्ध हैं और अन्य बुद्ध उनके निर्मित रूप हैं। बुद्ध के इन तीनो रूपो की चर्चा के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार विष्णु के अवतार होते हैं उसी प्रकार धर्मताबुद्ध, निष्यन्दबुद्ध और निर्माणबुद्ध होते हैं।

(ख) पंच तथागत या पंच ध्यानीबुद्ध

पच तथागत या पचध्यानी बुद्धो का उल्लेख "लकावतारसूत्र" और "सद्धर्मपुण्डरीक" मे स्फुट रूप से मिलता है। "लकावतारसूत्र" मे "पचनिर्मिता बुद्ध" का मात्र उल्लेख है।[4] "सद्धर्मपुण्डरीक" मे पचबुद्धो

---

१ उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० २९

२ वही, पृ० २९

३ वही, पृ० २९

४ वही, पृ० ४२

(ग) मानुषी बुद्ध

परवर्ती बौद्ध धर्म मे निर्माण बुद्धो की सख्या अनन्त मानी गई है किन्तु प्रारम्भ मे सात मानुषी बुद्ध ही निर्माणकाय कहे जाते थे। वे ही समय-समय पर धर्म की प्रतिष्ठा के लिए जन्म लेते हैं।[६] पालि त्रिपिटक मे अनेक स्थानो पर सात बुद्धो का उल्लेख है। इसके बाद मे २४ बुद्धो की कल्पना की गई।[७] महायान मे ३२ बुद्धो की एक सूची भी मिलती है उसमे अन्तिम सात बुद्धो को मानुषी बुद्ध कहा गया है।[८] बुद्धचर्या में सात "मानुषी बुद्धो" मे से विपश्ची, शिखो, विश्वभू, ककुछन्द, कोनागमन, कस्सप के नामो का उल्लेख मिलता है।[९] लकावतारसूत्र मे भी कश्यप, ककुछन्द और कनक मुनि इन तीन का उल्लेख मिलता है।[१०] इससे हमें मानुषी बुद्धो की

---

१ उद्धृत–मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद (डॉ० कपिलदेव पाण्डेय) पृ० ४२

२ वही, पृ० ४२

३ वही, पृ० ४२

४ वही, पृ० ४२

५ वही, पृ० ४२

६ वही, पृ० ३०

७ वही, पृ० ३०

८ वही, पृ० ३०

९ वही, पृ० ३०

१० वही, पृ० ३०

संख्या के विकास क्रम की एक झलक देखने को मिलती है। इस भद्र कल्प मे सात मानुषी बुद्धो की कल्पना की गई है जिसमे छ पूर्व के तथा सातवें शाक्य मुनि गौतम को लिया गया है। इस प्रकार सात मानुषी बुद्धो मे विपश्येन, शिखी, विश्वभू, कश्यप, क्रकुछन्द, कनक मुनि (कोनागमन) एव शाक्य सिद्ध गौतम विख्यात हैं। कहा जाता है कि इन्ही सात मानुषी बुद्धो द्वारा बोधिसत्व अपना कार्य सम्पादन करते हैं। आगे चलकर बौद्ध तन्त्र ग्रन्थो मे मानुषी बुद्धो से बुद्ध शक्तियो और बोधिसत्वो के निर्माण की बात कही गई है, इनमे यशोधरा और आनन्द ही ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं।

बुद्धों की संख्या

जिस प्रकार हिन्दू एवं जैन परम्परा मे क्रमश. अवतारो एव तीर्थङ्करो की सख्या में वृद्धि होती रही है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा मे बुद्धो की सख्या में वृद्धि होती रही है। सर्वप्रथम दीघनिकाय मे गौतम बुद्ध के पूर्व छ बुद्धो का उल्लेख है[1] और गौतम बुद्ध को सातवां बुद्ध कहा गया है—

१ विपस्सी
२ सिखी
३ वेस्सभू
४ ककुसन्ध
५ कोणागमन
६ कस्सप (काश्यप)
७ शाक्य पुत्र गौतम

दीघनिकाय मे महाराज वैश्रवण को भिक्षुओ की रक्षा एवम् उनके कष्ट दूर करने के लिए इन्ही सात बुद्धो से प्रार्थना करते हुए दिखाया गया है।

विनयपिटक, सयुत्तनिकाय, जातक और थेरीगाथा[2] मे इन्ही सात बुद्धो का उल्लेख मिलता है। इन सात बुद्धो को मानुषी बुद्ध भी कहा जाता है क्योकि यही समय-समय पर धर्म की प्रतिष्ठा के लिए आते हैं।[3]

---

१ दीघनिकाय, महापदानसुत्त (१ २ ५), पृ० ४
२ पालि प्रापर नेम्स, भाग २, पृ० २९५
३ बौद्ध धर्म दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव) पृ० १२१, १२२

कल्पना आई। पालि साहित्य मे हमे सात अतीत बुद्धो का उल्लेख मिलता है। फिर या तो जैनो की २४ तीर्थंकरो की कल्पना के आधार पर या फिर स्वतन्त्ररूप से २४ अतीत बुद्धो की कल्पना बौद्ध धर्म मे आई।

लकावतारसूत्र मे आठ कल्प एव दो प्रकार के बुद्ध पुत्रो की चर्चा के प्रसग मे २४ बुद्धो का उल्लेख हुआ है।[१] इससे विदित होता है कि या तो बौद्ध साहित्य में २४ बुद्धो की कोई परम्परा रही होगी या फिर उसे अन्य परंपरा से लिया गया होगा। लकावतारसूत्र के प्रारम्भिक अध्याय १-२ मे लका में अतीत बुद्धो के निवास की चर्चा भी मिलती है।[२] किन्तु यहाँ पर उनकी स्पष्ट सख्या का उल्लेख नही है। पुन छठे अध्याय मे अतीत वर्तमान, अनागत असख्य बुद्धो की चर्चा की गई,[३] तथा एक अन्य स्थल पर इनकी संख्या ३६ कही गई है।[४] डॉ० महेश तिवारी ने अपनी पुस्तक निदानकथा[५] मे कहा है कि परवर्ती ग्रन्थ ललितविस्तर मे बुद्धो की सख्या ५४ और महावस्तु मे सौ से अधिक पाई जाती है।

(१) दीपंकर बुद्ध

बौद्ध परम्परा मे दीपकर को प्रथम बुद्ध माना गया है। इनके पिता का नाम सुदेव और माता का नाम सुमेधा तथा जन्मस्थान रम्यवती नगर माना गया है।[६]

उन्होंने प्रथम, द्वितीय और तृतीय अभिसमय (सम्मेलन) मे क्रमश १ अरब, १० खरब मनुष्यो और देवलोक मे ९ खरब देवताओ को बोध कराया।

इनके प्रधान शिष्य सुमंगल और तिष्य तथा परिचारक सागत थे, इनकी प्रधान शिष्याएँ नन्दा एव सुनन्दा थी। इन्होने पीपल वृक्ष के

---

१ "स्कन्धभेदादचतुर्विशद्रूप चाष्टविध भवेत्।
बुद्धा भवेच्चतुर्विशद्विविधाश्च जिनौरसा ॥
—लकावतारसूत्र १०/३१६

२ वही, पृ० ५

३ वही, पृ० १९८

४ वही, पृ० २५६

५ निदान कथा पृ० ७२

६ नगर रम्यवती नाम, सुदेवो नाम खत्तियो।
सुमेधा नाम जनिका, दीपकरस्य सत्थुनो ॥'
—बुद्धवस अट्ठकथा पृ० १९६

नीचे बोधिलाभ प्राप्त किया था। इनके शरीर की ऊंचाई ८० हाथ तथा आयु १ लाख वर्ष मानी जाती है।

इस प्रकार भगवान् दीपकर ने सद्धर्म का उपदेश देकर जन समूह को संसार सागर से पार उतारा और अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया।

(२) भगवान् कौण्डिन्य

बौद्ध परम्परा मे भगवान् दीपकर के बाद अनन्त तेज, अमित यश एव अनुपम कौण्डिन्य नामक बुद्ध हुए।[1] इनके पिता का नाम सुनन्द और माता का नाम सुजाता तथा जन्मस्थान रम्यवती नगर माना गया है।

इन्होने भी अपने तीन धर्म सम्मेलनो मे क्रमश १० खरब, १० अरब एव ९० करोड भिक्षुओ को धर्म का उपदेश दिया था।

बोधिसत्व विजितावी चक्रवर्ती ने शास्ता कौण्डिन्य एव उनके सघ को भोजन कराया, तत्पश्चात् शास्ता ने भविष्य मे उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी।

इनके प्रधान शिष्य भद्र और सुभद्र तथा परिचारक अनुरुद्ध थे। इनकी प्रधान शिष्यायें तिष्या और उपतिष्या थी। इनको शाल वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊंचाई ८८ हाथ और आयु १ लाख वर्ष मानी जाती है।

(३) भगवान् मंगल

बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् कौण्डिन्य के बाद अन्धकार को नष्ट कर धर्म को धारण करने वाले तीसरे बुद्ध के रूप मे मङ्गल का जन्म हुआ।[2] इनके पिता का नाम उत्तर एव माता का नाम उत्तरा देवी तथा जन्मस्थान उत्तर नगर माना गया है।

इनके प्रधान शिष्य सुदेव और धर्मसेन तथा परिचालक पालित थे, इनकी प्रधान शिष्यायें सीवली और अशोका थी।

---

१ दीपकरस्स अपरेन, कोण्डञ्ञो नाम नायको।
अनन्ततेजो अमितयसो, अप्पमेय्यो दुरासदो॥
—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० २०४

२ "कोण्डञ्ञस्स अपरेन, मगलो नाम नायको।
तम लोके निहन्त्वान, धम्मोक्कमभिधारयि॥"
—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २१८

इन्होने भी धर्मोपदेश देने के लिए तीन गोष्ठिया की, जिनमे क्रमश १० खरब, १० अरब एव ९० करोड भिक्षुओ ने उपदेश लाभ प्राप्त किया।

बोधिसत्व सुरुचि नामक ब्राह्मण ने शास्ता मगल एव सघ को "गवपान" नामक दान दिया था, तदुपरान्त शास्ता ने भविष्य मे उनके वुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी।

भगवान् मंगल ने नाग वृक्ष के नीचे ज्ञान (बोध) प्राप्त किया। इनके शरीर की ऊचाई ८८ हाथ एव आयु ९० हजार वर्ष कही जाती है।

(४) भगवान् सुमन

भगवान् मगल के निर्वाण प्राप्त होने के बाद सुमन नामक शास्ता का जन्म क्षेमनगर में हुआ।[1] इनके पिता का नाम सुदत्त और माता का नाम सिरिया था।

इन्होने अपने तीन धर्म सम्मेलनो मे क्रमश १० अरब, ९ खरब और ८ अरब भिक्षुओं को उपदेश दिया था।

महासत्व अतुल नागराज ने भगवान् सुमन एव उनके सघ को भोजन, वस्त्रादि प्रदान किये थे तब शास्ता ने भविष्य मे उनके वुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी।

इनके शिष्य शरण एव भावितात्मा और परिचारक उदेन थे, इनकी प्रधान शिष्यायें सोणा और उपसोणा थी।

इन्होंने भी नाग वृक्ष के नीचे बोधि प्राप्त की थी। इनके शरीर की ऊँचाई ९० हाथ एव इनकी आयु ९० हजार वर्ष मानी गयी है।

(५) भगवान् रेवत

भगवान् सुमन के निर्वाणोपरान्त बौद्ध परम्परा मे पाँचवें बुद्ध रेवत माने गए हैं। वे अनुपम, अद्वितीय, अतुल तथा उत्तम जिन थे।[2] इनके पिता

---

१ "मगलस्स अपरेन, सुमनो नाम नायको।
सब्बधम्मेहि असमो, सब्बसत्तानमुत्तमो॥"

—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० २३२

२ "सुमनस्स अपरेन, रेवतो नाम नायको।
अनुपमो असदिसो, अतुलो उत्तमो जिनो॥"

—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० २४१

(७) भगवान् अनोमदर्शी

बौद्ध परम्परा मे भगवान् शोभित के बाद सातवें बुद्ध भगवान् अनोमदर्शी माने गए है। ये अपार यशस्वी, तेजस्वी तथा दुर्जेय थे।[1] इनका जन्म चन्द्रवती नगर के राजा यशवान के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम यशोधरा था। इनके तीन धर्म सम्मेलनो में उपस्थित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश. ८ लाख, ७ लाख और ६ लाख थी।

उस समय के यक्षो के स्वामी ने भगवान् अनोमदर्शी एव उनके समस्त भिक्षुओ को भोजन प्रदान किया था तब शास्ता ने यक्षो के स्वामी को कहा कि आप भी भविष्य मे बुद्ध होगे।

भगवान् अनोमदर्शी के दो प्रधान शिष्य निसभ एव अनोभ तथा परिचारक वरुण थे। इनकी दो प्रधान शिष्याएँ सुन्दरी एव सुमना थी। इन्होने अर्जुन वृक्ष के नीचे बोधि लाभ प्राप्त किया था। इनके शरीर की ऊँचाई ५८ हाथ और आयु १ लाख वर्ष मानी गई है।

(८) भगवान् पद्म

भगवान् अनोमदर्शी के पश्चात् नरश्रेष्ठ पद्म नामक बुद्ध हुए, जो अनुपम एव अद्वितीय थे।[2] इनके पिता का नाम असम एव माता का नाम असमा और जन्म स्थान चम्पक नगर माना गया है।

भगवान् पद्म ने तीन धर्म सम्मेलनो मे धर्मोपदेश दिया, जिनमे सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश १० खरब, ३ लाख तथा २ लाख थी।

भगवान् के तीसरे धर्म सम्मेलन को देखकर एक सिंह ने जीवन के प्रति मोह का त्याग कर दिया। उसने अपनी क्षुधा की तृप्ति के लिए शिकार का त्याग कर शास्ता एव संघ के प्रति श्रद्धा का प्रतिपादन किया।

---

१ "सोभितस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
अनोमदस्सी अमितयसो, तेजस्सी दुरतिक्कमो॥"

—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० २५७।

२ "अनोमदस्सिस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
पदुमो नाम नामेन, असमो अप्पटिपुग्गलो॥"

—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० २६५।

शास्ता ने मन मे विचार कर कहा कि यह सिंह भविष्य मे अवश्य ही बुद्ध होगा।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य साल तथा उपसाल और परिचारक वरुण थे तथा रामा और नुरामा दो प्रधान शिष्याएँ थी। इनको सोण वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ५८ हाथ और आयु १ लाख वर्ष कही गई है।

(९) भगवान् नारद

भगवान् पद्म के बाद अनुपम एव अद्वितीय नारद नामक बुद्ध हुए।[1] भगवान् नारद का जन्म धान्यवती नगर के राजा सुदेव के यहाँ हुआ था और इनकी माता का नाम अनोमा था।

भगवान् नारद ने भी तीन धर्मोपदेश दिये थे। उन तीनो धर्म सम्मेलनो मे एकत्रित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश १० खरब, ९ अरब तथा ८ खरब थी।

उस समय के बोधिसत्व ऋषि ने शास्ता एवं उनके संघ को आहार प्रदान किया था तब शास्ता ने भविष्य मे उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य भद्रशाल एव जितमित्र थे और परिचारक वशिष्ठ थे। इनकी दो प्रधान शिष्याएँ उत्तरा एव फाल्गुणी थी। इनको महासोण वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ८८ हाथ और इनकी आयु ९० हजार वर्ष थी।

(१०) भगवान् पद्मोत्तर

भगवान् नारद के बाद पुरुषो में श्रेष्ठ एवं समुद्र के समान शान्त पद्मोत्तर नामक बुद्ध हुए।[2]

---

१ "पदुमस्स अपरेन सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
नारद नाम नामेन, असमो अप्पटिपुग्गलो॥"

—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० २७२

२ "नारदस्स अपरेन सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
पदुमुत्तरो नाम जिनो अक्खोभो सागरूपमो॥"

वही—पृ० २८२

भगवान् पद्मोत्तर का जन्म हसवती नगर के क्षत्रिय राजा आनन्द के यहाँ हुआ था और इनकी माता का नाम सुजाता था।

भगवान् पद्मोत्तर ने तीन धर्म सम्मेलनो मे धर्मोपदेश दिया, जिनमे सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश १० खरब, ९ खरब तथा ८ खरब थी। तत्कालीन वोधिसत्व जटिल ने शास्ता पद्मोत्तर एव उनके सघ को तीन चीवर (अन्तरवासक, उत्तरासग और सघाटी) प्रदान किये। तदुपरान्त शास्ता ने उनसे कहा कि आप भविष्य मे बुद्ध होगे।

भगवान् पद्मोत्तर के दो प्रधान शिष्य देवल एव सुजात थे और परिचारक सुमन थे। इनकी दो प्रधान शिष्याएँ अमिता और असमा थी। इनके शरीर की ऊँचाई ८८ हाथ थी और इनकी आयु १ लाख वर्ष थी। भगवान् के शरीर से विलक्षण आभा प्रस्फुटित होकर चारो दिशाओ को १२ योजन तक प्रकाशित करती थी।

(११) भगवान् सुमेध

भगवान् पद्मोत्तर के वाद उग्र-तेजस्वी, नर-श्रेष्ठ मुनि सुमेध नामक बुद्ध हुए।[1]

भगवान् सुमेध का जन्म सुदर्शन नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम सुदत्त एव माता का नाम सुदर्शना था।

भगवान् सुमेध ने अपने तीन शिष्य सम्मेलनों मे धर्मोपदेश दिया था। इनके शिष्य सम्मेलनो मे एकत्रित होने वाले भिक्षुओ की संख्या क्रमश १ अरब, ९० करोड तथा ८० करोड थी। उस समय के वोधिसत्व उत्तर ने शास्ता सुमेध एव सघ को भोजन प्रदान किया था। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप भविष्य मे बुद्ध होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य शरण एवं सर्वकाम थे और उपचारक सागर थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ रामा एव सुरामा थी। इनको कदम्ब वृक्ष के नीचे वोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ८८ हाथ और इनकी आयु ९० हजार वर्ष थी।

---

१ "पदुमुत्तरस्स अपरेन, सुमेधो नाम नायको।
दुरासदो उग्गतेजा, सब्बलोकुत्तमो मुनि॥"
—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० २९२

(१२) भगवान् सुजात

भगवान् सुमेध के पश्चात् मण्डकल्प मे सुजात नाम के लोक नायक बुद्ध हुए। वे सिंह के समान मजबूत जबडो वाले, वृषभ के समान दृढ स्कन्ध वाले, अप्रमेय एव दुराक्रमणीय थे।[१]

भगवान् सुजात का जन्म सुमगल नगर के राजा उग्गत के यहाँ हुआ था तथा इनकी माता का नाम प्रभावती था।

भगवान् ने अपने तीन शिष्य सम्मेलनो मे धर्मोपदेश दिया था, जिनमें क्रमश ६० हजार, ५० हजार एव ४० हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे।

उस समय के बोधिसत्व चक्रवर्ती राजा ने शास्ता सुजात एव उनके सघ को सात रत्न एव ४ महाद्वीप तथा भोजन दान दिया था। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप भविष्य मे बुद्ध होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य सुदर्शन एव देव थे तथा नारद उपचारक थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ नागा और नागसमाला थी। इनको महावेणु वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ५० हाथ और इनकी आयु ९० हजार वर्ष थी।

(१३) भगवान् प्रियदर्शी

भगवान् सुजात के पश्चात् लोकनायक प्रियदर्शी नामक बुद्ध हुए, वे स्वयभू, दुराक्रमणीय, अनुपम और महायशस्वी थे।[२] भगवान् सुजात के बाद १८ सौ कल्प बीतने पर एक ही कल्प मे तीन बुद्ध—प्रियदर्शी, अर्थदर्शी और धर्मदर्शी हुए। भगवान् प्रियदर्शी का जन्म अनोम नगर के राजा सुदिन्न के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम चन्द्रा था।

भगवान् ने अपने तीन धर्म सम्मेलनो मे सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ को धर्मोपदेश दिया, जिनकी सख्या १० खरब, ९० करोड तथा ८० करोड थी।

---

१ "तत्थेव मण्डकप्पम्हि, सुजातो नाम नायको।
सीहहनूसभक्खन्धो, अप्पमेय्यो दुरासदो॥"
—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० २९९

२. "सुजातस्स अपरेन, सयम्भू लोक नायको।
दुरासदो असमसमो, पियदस्सी महायसो॥"
—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० ३११

उस समय तीनो वेदो के पारगत बोधिसत्व काश्यप ने शास्ता का धर्मोपदेश सुना, जिससे प्रभावित होकर काश्यप ने एक सघाराम (विहार) बनवाया और स्वय त्रिरत्नो की शरण मे आश्रय ग्रहण किया। तत्पश्चात् शास्ता ने कहा कि १८ सौ कल्पो के व्यतीत होने के बाद आप 'बुद्ध' होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य पालित और सर्वदर्शी थे और परिचारक शोभित थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ सुजाता एव धर्मदिन्ना थी। इनको प्रियगु वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ८० हाथ तथा इनकी आयु ९० हजार वर्ष थी।

(१४) भगवान् अर्थदर्शी

भगवान् प्रियदर्शी के बाद मनुष्यो में श्रेष्ठ अर्थदर्शी हुए, जिन्होने उस मण्डकल्प मे घोर अन्धकार को विनष्ट कर सम्बोधि (बुद्धत्व) पद को प्राप्त किया।[1]

भगवान् अर्थदर्शी का जन्म शोभित नगर के राजा सागर के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम सुदर्शना था।

भगवान् ने तीन धर्म सम्मेलनो मे धर्मोपदेश दिया, जिनमे एकत्रित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश ९८ लाख, ८८ लाख एव ८८ लाख थी।

उस समय बोधिसत्व सुसीम नाम के ऋद्धिसम्पन्न तपस्वी ने देवलोक से मदार पुष्प लाकर शास्ता अर्थदर्शी की पूजा-अर्चना की। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप भविष्य मे 'बुद्ध' होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य शान्त एव उपशान्त थे तथा परिचारक अभय थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ धर्मा एवं सुधर्मा थी। इनको चम्पक वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ८० हाथ और आयु एक लाख वर्ष थी।

(१५) भगवान् धर्मदर्शी

भगवान् अर्थदर्शी के पश्चात् उसी कल्प में धर्मदर्शी नामक शास्ता

---

१ "तत्थेव मण्डकप्पम्हि, अत्थदस्सी महायसो।
महातम निहन्त्वान, पत्तो सम्बोधिमुत्तम॥"

—बुद्धवसअट्ठकथा, पृ० ३१६

हुए, वे अन्धकार को विनष्ट कर देवताओ सहित लोक में प्रकाशित हुए।[1] भगवान् धर्मदर्शी का जन्म शरण नगर के राजा शरण के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम सुनन्दा था। भगवान् धर्मदर्शी ने तीन धर्म सम्मेलनो मे भिक्षुओ को धर्मोपदेश दिया। इन तीन सम्मेलनो में सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश एक अरब, ७० करोड, ८० करोड थी।

उस समय के बोधिसत्व देवताओ के राजा शक्र ने गन्ध, पुष्प एव वाद्यो से शास्ता धर्मदर्शी की पूजा अर्चना की। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में 'बुद्ध' होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य पद्म तथा स्पर्शदेव थे तथा परिचारक सुनेत्र थे। इनकी प्रधान शिष्यायें क्षेमा तथा सर्वनामा थी। इनको रक्त-कुरवक वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊचाई ८० हाथ और इनकी आयु एक लाख वर्ष थी।

(१६) भगवान् सिद्धत्थ

जिस प्रकार सूर्य के निकलने से अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भगवान् धर्मदर्शी के बाद ससार में दु.खरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सिद्धत्थ नामक बुद्ध उत्पन्न हुए।[2] भगवान् सिद्धत्थ का जन्म वैभार नगर के राजा जयसेन के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम सुस्पर्शा था। भगवान् सिद्धत्थ ने भी तीन धर्म सम्मेलनो में भिक्षुओ को धर्मोपदेश दिया। उन सम्मेलनो में एकत्रित होने वाले भिक्षुओं की सख्या क्रमश १० अरब, ९ खरब तथा ८ खरब थी।

उस समय के बोधिसत्व मगल नामक तपस्वी ने तथागत सिद्धत्थ को जम्बुफल प्रदान किये। तत्पश्चात् तथागत ने कहा कि आप ९४ कल्प बीतने के बाद बुद्ध होंगे।

भगवान् के सघ में दो प्रधान शिष्य सम्बहुल तथा सुमित्र थे तथा परिचारक रेवत थे। इनकी प्रधान शिष्यायें सीवली तथा सुरामा थी।

---

१. "तत्थेव मण्डकप्पम्हि, धम्मदस्सी महायसो।
तमन्धकार विधमित्वा, अतिरोचति सदेवके॥"

—बुद्धवसअट्ठकथा, पृ० ३२१

२. "धम्मदस्सिस्स अपरेन, सिद्धत्थो लोक नायको।
निहनित्वा तम सब्ब, सुरियो अब्भुग्गतो यथा"

—बुद्धवसअट्ठकथा, पृ० ३२७

इनको कर्णिकार वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ६० हाथ तथा इनकी आयु १ लाख वर्ष थी।

(१७) भगवान् तिष्य

भगवान् सिद्धत्थ के बाद अनन्त शील-सम्पन्न, अमित यश वाले, अनुपम, अद्वितीय तिष्य नामक बुद्ध हुए।[1] भगवान् तिष्य का जन्म क्षेम नगर के जनसन्ध नामक क्षत्रिय के यहाँ हुआ था इनकी माता का नाम पद्मा था।

उस समय के बोधिसत्व महाऐश्वर्यसम्पन्न सुजात नामक क्षत्रिय ने मन्दार, पद्म तथा पारिजात पुष्पों से चारो परिषदो के बीच शास्ता की पूजा की तथा आकाश मे फूलो की चांदनी लगवा दी। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप इस कल्प से ९२ कल्प बीतने पर 'बुद्ध' होगे।

भगवान् तिष्य ने भी तीन धर्मसम्मेलनो मे भिक्षुओ को धर्मोपदेश दिया। उन सम्मेलनो मे एकत्रित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमशः १ अरब, ९० करोड़ तथा ८० करोड़ थी।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य ब्रह्मदेव और उदय थे और परिचारक सम्भव थे। इनकी प्रधान शिष्यायें फुस्स और सुदत्ता थी। इनको असम वृक्ष के नीचे बोधिलाभ प्राप्त हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ६० हाथ एव इनकी आयु १ लाख वर्ष थी।

(१८) भगवान् पुष्य

भगवान् तिष्य के पश्चात् अनुपम, अलौकिक, अद्वितीय लोकनायक पुष्य नामक बुद्ध हुए।[2]

भगवान् पुष्य का जन्म काशी नगरी के राजा जयसेन के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम सिरिमा था।

---

१ "सिद्धत्थस्स अपरेन, असमो अप्पटिपुग्गलो।
अनन्ततेजो अमितयसो, तिस्सो लोकग्गनायको॥"

—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० ३३४

२ "तत्थेव मण्डकप्पम्हि, आहु सत्था अनुत्तरो।
अनुपमो असमसमो, फुस्सो लोकग्गनायको॥"

—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० ३४०

भगवान् पुष्य ने भी तीन धर्मसम्मेलनो मे धर्मोपदेश दिया। उन तीन धर्मसम्मेलनो मे एकत्र होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश ६० लाख, ५० लाख तया ३२ लाख थी।

उस समय के बोधिसत्व क्षत्रिय राजा विजितावी ने विशाल राज्य का परित्याग कर, त्रिपिटको का अध्ययन किया एव शील पारमिताओ को पूरा कर श्रमण धर्म मे प्रव्रजित हो गए। तत्पश्चात् शास्ता ने कहा कि आप भविष्य मे बुद्ध होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य सुरक्षित एव धर्मसेन थे और परिचारक सभिय थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ चाला एव उपचाला थी। इनको आमलक (आँवला) वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ५८ हाथ तथा उनकी आयु ९० हजार वर्ष थी।

(१९) भगवान् विपश्यी

भगवान् पुष्य के पश्चात् मनुष्यो मे श्रेष्ठ, चक्षुमान, लोकनायक, विपश्यी नामक बुद्ध हुए।[1]

भगवान् विपश्यी का जन्म बन्धुमती नगर के राजा बन्धुमान् के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम बन्धुमती था।

भगवान् विपश्यी ने भी तीन धर्मसम्मेलनो मे धर्मोपदेश दिया। उन तीन धर्मसम्मेलनो मे सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश-६८ लाख, १ लाख तथा ८० हजार थी।

उस समय के बोधिसत्व महाप्रतापी राजा नाग ने सात रत्नो से सुसज्जित सिहासन शास्ता का भेंट किया। शास्ता ने कहा कि आप इस कल्प से ९१ कल्प के बाद बुद्ध होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य खण्ड तथा तिष्य थे और पारिचारक अशोक थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ चन्द्रा तथा चन्द्रमित्रा थी। इनको पाटलि वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके ८० हाथ ऊँचाई वाले शरीर की आभा सदैव सात योजन तक व्याप्त रहती थी और उनको आयु ८० हजार वर्ष थी।

---

१ "फुस्सस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
विपस्सी नाम नामेन, लोके उप्पज्जि चक्खुमा ॥"

—वही, पृ० ३४६

(२०) भगवान् शिखी

भगवान् विपश्यी के बाद अनुपम, अद्वितीय, नरश्रेष्ठ शिखी नामक बुद्ध हुए।[1]

भगवान् शिखी का जन्म अरुणवती नगर के राजा अरुण के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम प्रभावती था।

भगवान् शिखी ने भी तीन धर्मसम्मेलनो मे धर्मोपदेश दिया था, उन तीनो धर्मसम्मेलनो मे सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ की संख्या क्रमश· १ लाख, ८० हजार तथा ७० हजार थी।

तत्कालीन बोधिसत्व राजा अरिन्दम ने शास्ता एव संघ को चीवर, भोजन, हस्तिरत्न एवं अन्यान्य अमूल्य वस्तुएँ प्रदान की। शास्ता ने कहा कि आप इस कल्प से ३१ कल्प के बाद बुद्ध होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य अभिभू एवं संभव थे और इनके परिचारक क्षेमकर थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ सखिला और पद्मा थी। इनको पुण्डरीक वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके ३७ हाथ ऊँचाई वाले शरीर का प्रभाव ३ योजन तक प्रस्फुटित होता था तथा इनकी आयु ३७ हजार वर्ष थी।

(२१) भगवान् विश्वभू

भगवान् शिखी के पश्चात् उसी कल्प मे अतुलनीय एव लोक मे अद्वितीय विश्वभू नामक बुद्ध हुए।[2]

भगवान् विश्वभू का जन्म अनुपम नगर के राजा सुप्रतीत के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम यशवती था।

भगवान् विश्वभू ने भी तीन धर्मसम्मेलनो मे धर्मोपदेश दिया था, उन तीनो सम्मेलनो मे सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ की सख्या क्रमश· ८० लाख, ७० हजार तथा ६० हजार थी।

---

१ "विपस्सिस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
सिखिव्हयो आसि जिनो, असमो अप्पटिपुग्गलो॥"
—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० ३५५

२ "तत्थेव मण्डकप्पम्हि, असमो अप्पटिपुग्गलो।
वेस्सभू नाम नामेन, लोके उप्पज्जि नायको॥" —वही, पृ० ३६२

तत्कालीन बोधिसत्व राजा सुदर्शन ने शास्ता एव उनके सघ को चीवर एव भोजन प्रदान किया था। शास्ता ने कहा कि आप इस कल्प से ३१ कल्प पूर्ण होने पर बुद्ध होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य सोण एव उत्तर थे और इनके परिचारक उपशान्त थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ दामा तथा समाला थी। इनको शाल वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ६० हाथ और आयु ६० हजार वर्ष थी।

(२२) भगवान् ककुसन्ध

भगवान् विश्वभू के बाद पुरुषो मे श्रेष्ठ एवं अप्रमेय ककुसन्ध नामक बुद्ध हुए।[1]

भगवान् ककुसन्ध का जन्म क्षेमनगर के अग्निदत्त नामक ब्राह्मण के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम विशाखा था।

भगवान् ककुसन्ध ने एक ही बार धर्मोपदेश दिया, उस धर्मसम्मेलन मे एकत्र होने वाले भिक्षुओ की सख्या ४० हजार थी।

उस समय के बोधिसत्व राजा क्षेम ने शास्ता एव उनके सघ को चीवर, पात्र और भोजन प्रदान किया। शास्ता ने कहा कि आप भविष्य मे बुद्ध होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य विधुर एव सजीव थे और इनके परिचारक वुद्धिज थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ श्यामा एव चम्पका थी। महा शिरीष वृक्ष इनका बोधि वृक्ष था। इनके शरीर की लम्बाई ४० हाथ एव आयु ४० हजार वर्ष थी।

(२३) भगवान् कोणागमन

भगवान् ककुसन्ध के बाद नरश्रेष्ठ कोणागमन नामक बुद्ध हुए।[2]

---

१ "वेस्सभुस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
ककुसन्धो नाम नामेन, अप्पमेय्यो दुरासदो॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० ३७०

२ "ककुसन्धस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
कोणागमनो नाम जिनो, लोकजेट्ठो नरासभो॥"

—वही, पृ० ३७१

भगवान् कोणागमन का जन्म शोभावती नगर मे ब्राह्मण यज्ञदत्त के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम उत्तरा था।

भगवान् कोणागमन ने भी एक ही बार धर्मोपदेश दिया और उसमें सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ की संख्या ३० हजार थी।

उस समय के बोधिसत्व पर्वत नामक राजा ने शास्ता से धर्मोपदेश श्रवण कर प्रव्रज्या ग्रहण की। उन्होने शास्ता एव उनके सघ को भोजन, वस्त्र, कम्बल तथा स्वर्ण आदि प्रदान किया। तत्पश्चात् शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य भोयस एवं उत्तर थे और पारिचारक स्वस्तिज थे। इनकी दो प्रधान शिष्याएँ सुभद्रा तथा उत्तरा थी। इनको उदुम्बर वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ३० हाथ तथा आयु ३० हजार वर्ष थी।

(२४) भगवान् काश्यप

भगवान् कोणागमन के बाद मनुष्यो मे श्रेष्ठ, धर्मराज प्रभकर 'काश्यप' नामक बुद्ध हुए।[१]

भगवान् काश्यप का जन्म वाराणसी नगरी में ब्राह्मण ब्रह्मदत्त के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम धनवती था।

भगवान् काश्यप ने भी एक ही बार धर्मोपदेश दिया उसमे सम्मिलित होने वाले भिक्षुओ की सख्या २० हजार थी।

उस समय वेदो के पारगत ब्राह्मण ज्योतिपाल ने शास्ता से धर्मोपदेश श्रवण कर प्रव्रज्या ग्रहण की, त्रिपिटको का अध्ययन किया तथा बुद्ध शासन में रहे। शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होगे।

भगवान् काश्यप के दो प्रधान शिष्य तिष्य और भारद्वाज थे एव परिचारक सर्वमित्र थे। उनकी दो प्रधान शिष्याएँ अनुला और उरुवेला थी। इनको न्यग्रोध वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई २० हाथ तथा आयु २० हजार वर्ष थी।

---

१ "कोणागमनस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।
कस्सपो नाम सो जिनो धम्मराजा पभङ्करो॥"

—बुद्धवस अट्ठकथा, पृ० ३८१

१५. परिनिर्वाण के बाद बुद्ध की स्थिति

बौद्ध दर्शन मे यह प्रश्न भी सदैव उठता रहा है कि जिन पच स्कन्धों से व्यक्तित्व बनता है, अत निर्वाण की अवस्था मे उनका अत्यन्त निरोध होने पर क्या शेष रहता है ? तथागत ने उच्छेदवाद का स्पष्ट निरोध किया है, अत यह माना जा सकता है कि कुछ शेष अवश्य रहता है। यद्यपि बुद्ध ने इस प्रश्न को कि "तथागत का परिनिर्वाण के बाद क्या होता है"– अव्याकृत कोटि मे हो रखा था, किन्तु बौद्ध परम्परा मे परिनिर्वाण के अनन्तर तथागत की अनिर्वचनीय सत्ता को स्वीकार कर लिया गया। सर्वास्तिवादी परम्परा यह मानती है कि बुद्ध का भौतिक (सम्भोग) काय तो नश्वर है किन्तु उनका धर्मरूपी शरीर अनश्वर है। महायान मे बुद्ध को अपरिमित आयु वाला मानकर उनको पारमार्थिक सत्ता को उसी प्रकार अनिर्वचनीय मान लिया गया, जिस प्रकार उपनिषदो मे ब्रह्म को अनिर्वचनीय माना गया था, साथ ही उनका तादात्म्य धर्मकाय या स्वभावकाय कर दिया और मानुषी बुद्ध को निर्माणकाय कहकर नश्वर कहा गया।

१६. बौद्ध धर्म में भक्ति का स्थान

बौद्ध धर्म मे भक्ति का उदय भागवत् धर्म के प्रभाव से प्रतिफलित प्रतीत होता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे वासुदेव की भक्ति का उल्लेख देखने को मिलता है।[१] उसका काल ई० पू० छठी शताब्दी माना गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि छठी शताब्दी ई० पू० में वैष्णव धर्म का उदय हो चुका था।[२] पालि निकाय के प्राचीन ग्रन्थो मे "सद्धा" शब्द मिलता है, पालि निकाय के प्राचीनतम भाग का समय ई० पू० ५वी शती माना गया है। पालि निकाय मे सर्वप्रथम भक्ति शब्द का उल्लेख थेरीगाथा मे मिलता है।[३] थेरीगाथा का रचना काल विद्वानो ने ई० पू० तीसरी शताब्दी माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध साहित्य मे "भक्ति" की अवधारणा का उदय भागवत् धर्म के उदय के समकालीन है। यहाँ यह प्रश्न उठना

---

१ पाणिनि अष्टाध्यायी (४,३,९८,४,३,९९,४,१,११४)

२ भागवत सम्प्रदाय, पृ० ९२

३. थेरीगाथा, गाथा ४१३

स्वाभाविक हो है कि अगर बौद्धो ने भागवतो की "भक्ति" की अवधारणा को अपनाया तो उनके देवताओ को क्यो नही अपनाया ? बौद्ध धर्म में बोधिसत्व की कल्पना उनकी अपनी कल्पना है। फिर भी इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बोधिसत्व की अवधारणा एक प्रकार से अवतारवाद का बौद्धधर्मीय संस्करण ही है। इस संदर्भ मे भी बौद्ध धर्म पर भागवत धर्म का प्रभाव देखा जा सकता है।[1]

श्री गोकुल दास डे ने अपनी पुस्तक 'सिग्निफिकेंस एण्ड इम्पोर्टेन्स आफ जातकाज' के अन्तिम अध्याय मे बौद्धो और भागवतो के सम्बन्ध को जातको के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं—"पूर्ववर्ती बौद्ध धर्म जातको के आधार पर भागवत धर्म से प्रभावित रहा है, क्यो कि भागवत धर्म का मूल आधार भक्तितत्व जातको एवं महायान ग्रन्थो में सर्वत्र व्याप्त है। गृहस्थो के लिए स्वर्ग (सग्ग) और संन्यासियो के लिए मोक्ष भी दोनो मे सामान्य रूप से मान्य है।"[2] अत यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म पर भागवत धर्म का प्रभाव पडा होगा।

१७. बुद्ध और लोक कल्याण

निवृत्ति प्रधान बौद्ध-दर्शन मे लोक कल्याण की उत्कृष्ट भावना के दर्शन होते हैं, जिसका चरमोत्कर्ष 'बोधिचर्यावतार' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में परिलक्षित होता है। स्वय भगवान् बुद्ध ने बोधि प्राप्त करने के बाद समाधि सुख का परित्याग कर लोकहितार्थ एव लोक कल्याण के लिए कार्य करना ही श्रेयस्कर समझा और उन्होने अपने भिक्षुओ को लोकहित का ही सन्देश दिया। वे कहते हैं— 'चरथ भिक्खवे चारिक बहुजनहिताय बहुजन-सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान" अर्थात् हे भिक्षुओ, "बहुजनो के हित के लिए, बहुजनो के सुख के लिए, लोक अनुकम्पा के लिए, देव और मनुष्यो के सुख और हित के लिए परिचारण करते रहो।"[3]

---

१ दी बोधिसत्व डाक्ट्रिन, पृ० ३२ · उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ५

२. सिग्निफिकेंस ऐण्ड इम्पोर्टेन्स आफ जातकाज, पृ० १५६-१५९ उद्धृत वही, पृ० ६

३ महावग्ग १/१०/३२, पृ० २३

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का साधक तो अपने निर्वाण सुख की भी उपेक्षा कर लोक कल्याण के आदर्श को श्रेष्ठ मानता है। वह कहता है कि दूसरे प्राणियो को दु ख मुक्त कराने मे जो आनन्द मिलता है वही पर्याप्त है अपने लिए निर्वाण प्राप्त करना नीरस है, उससे हमे क्या लेना देना।[१]

लकावतारसूत्र मे बोधिसत्व यहाँ तक कहते हैं कि मैं तब तक परिनिर्वाण मे प्रवेश नही करूँगा जब तक विश्व के सभी प्राणी निर्वाण प्राप्त न कर लें।[२] यहाँ पर साधक पर-दु ख-विमुक्ति से मिलने वाले आनन्द को स्व-निर्वाण के आनन्द से श्रेष्ठ समझकर अपने निर्वाण का त्याग कर देता है।

आचार्य शान्तिदेव ने अपने ग्रन्थ शिक्षा-समुच्चय और बोधिचर्यावतार मे बुद्ध की लोक-हितकारी दृष्टि का अनूठे ढंग से वर्णन किया है। बोधिचर्यावतार मे बोधिसत्व लोक सेवा की भावना से अनुप्राणित होकर कहते हैं—"मैं व्याधि दूर होने तक रोगियो के लिए औषधि बनूँगा, वैद्य बनूँगा और परिचारक भी बनूँगा, अन्न-पान की वर्षा से भूख और प्यास से होने वाली व्यथा मिटाऊँगा तथा दुर्भिक्षान्तर कल्पो मे भोजन-पान बनूँगा दरिद्र प्राणियो के लिए अक्षय निधि बनूँगा और नाना प्रकार के उपकरणो से उनके सामने उपस्थित रहूँगा।"[३] आगे वह कहते हैं—"मै अनाथो का नाथ, यात्रियो का सार्थवाह, पार जाने की इच्छा वालो के नाव, सेतु और बेडा बनूँगा। दीपक चाहने वालो के लिए दीपक, शय्या चाहने वालो के लिए शय्या, जिनके लिए दास की आवश्यकता है उनके लिये दास बनूँगा, इस प्रकार जगत के सभी प्राणियो की सेवा करूँगा।"[४] "जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भौतिक वस्तुयें सम्पूर्ण आकाश (विश्व मण्डल) मे बसे सभी प्राणियो के सुख का कारण होती हैं, उसी प्रकार आकाश के नीचे रहने वाले सभी प्राणियो का उपजीव्य बनकर तब तक रहना चाहता हूँ, जब तक सभी प्राणी मुक्ति प्राप्त न कर लें।"[५]

इस प्रकार व्यक्तिगत सुख की उपेक्षा कर दूसरे के दु ख को दूर करना ही बोधिसत्व का चरम लक्ष्य रहा है और वे कहते हैं कि—"अपने सुख

---

१ बोधिचर्यावतार, ८।१०८

२ लंकावतारसूत्र, ६६।६

३ बोधिचर्यावतार, ३/७–९

४ वही, ३/१७–८

५ वही, ३/२०–२१

को अलग रख और दूसरो के दु ख (दूर करने) मे लग, दूसरो का सेवक बनकर इस काया मे जो कुछ वस्तु देख, उससे दूसरो का हित कर।"[1] फिर वह कहते हैं—'दूसरे के दु ख से अपने सुख को बिना बदले बुद्धत्व की सिद्धि नही हो सकती, फिर ससार मे सुख है ही कहाँ ?[2] यदि एक के दु ख उठाने से बहुतो का दु.ख चला जाय तो अपने और पराये पर कृपा करके वह दु ख उठाना ही चाहिए।[3]

बोधिचर्यावतार मे नि स्वार्थ होकर कर्म करने की अवधारणा पर बल दिया गया है। जिस प्रकार कि शरीर के अवयव पैर में काँटा लगने पर हाथ उसको निकालकर दु ख दूर करता है जबकि हाथ को पैर का दु ख नही होता।[4] उसी प्रकार सभी प्राणियो को दूसरो को दु ख से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योकि परोपकार करके हम अपने समाज रूपी शरीर की ही सन्तुष्टि करते हैं। "जिस प्रकार स्वय को भोजन कराकर फल की आशा नही होती है उसी प्रकार परार्थ करके न गर्व हो सकती है, न विस्मय।"[5] "इसलिए एकमात्र परोपकार की अभिलाषा से परोपकार करके भी न गर्व करना चाहिए और न विस्मय और न विपाक फल की इच्छा ही।"[6]

बोधिसत्वकी लोककल्याणकारी अभिलाषा इतनी महान है कि उनके रोम-रोम से उच्चरित होता है कि ससार का कोई प्राणी दु खी न हो, पापी न हो, रोगी न हो, हीन न हो, तिरस्कृत और दुष्ट चित्त न हो।[7] जगत का जो दु ख है वह सब मैं भोगूँ और मेरे सब पुण्यो से जगत सुखी हो।[8]

यही लोक मंगल का उत्कृष्ट रूप है जहाँ दूसरे के हित के लिए अपने हित का भी त्याग कर दिया जाता है।

---

१ बोधिचर्यावतार, ८/१६१, १५९
२ वही, ८/१३२
३ वही, ८/१०५
४ वही, ८/९९
५ वही, ८/११६
६ वही, ८/१०९
७ वही, १०/४५
८ वही, १०/५६

१८. बौद्ध धर्म में कृपा और पुरुषार्थ

जब हम कृपा और पुरुषार्थ के प्रत्ययो की बात करते है तो हमारी मूल समस्या यह होती है कि मनुष्य के दु ख और पीडाएँ उसके अपने प्रयत्नो से दूर होती हैं या किसी दैवी शक्ति की कृपा से । सामान्यतया ईश्वरवादी दर्शनो मे ईश्वरीय कृपा को ही दु ख विमुक्ति का एकमात्र आधार माना गया है, उनमे व्यक्ति के प्रयत्न या पुरुषार्थ का कोई स्थान हो सकता है तो मात्र इतना ही कि वह अपने को ईश्वरीय या दैवी कृपा प्राप्त करने का पात्र बना सके । इसके विपरीत अनीश्वरवादी धर्मो मे विशेष रूप से बौद्ध और जैन धर्म मे ईश्वरीय कृपा को अस्वीकार ही किया गया है । प्रारम्भिक बौद्ध धर्म मे हम स्पष्ट रूप से पुरुषार्थवाद का ही समर्थन पाते हैं । यद्यपि बौद्ध धर्म मे बुद्ध, धर्म और सघ की शरण ग्रहण करने का विधान है किन्तु यह विधान किसी कृपा को प्राप्त करने के लिए नही है बल्कि साधन के क्षेत्र मे मनोबल से आगे बढने के लिए है । महापरिनिब्बानसुत्त मे बुद्ध स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हे आनन्द, तुम अपनी शरण ग्रहण करो, आत्म-दीप होकर के विचरण करो ।[1] तथागत तो केवल मार्ग-दर्शन कराने वाले हैं, कार्य तो तुम्हे स्वय करना होगा ।[2] बुद्ध यहाँ कोई ऐसा स्पष्ट आश्वासन नही देते है कि तुम मेरी शरण ग्रहण करो, मैं अपनी कृपा से तुम्हारे सब दु ख दूर कर दूँगा । बौद्ध धर्म के अनुसार सत्वशुद्धि का जो परिपाक होना है वह अपने स्वय के प्रयत्नो से ही होना है, उसमे दूसरा कोई सहायक नही हो सकता । किन्तु यदि हम इस अवधारणा को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर बौद्ध धर्म मे बुद्ध की करुणा का क्या स्थान रहेगा ? प्रारम्भिक बौद्ध धर्म और जैन धर्म मे भी बुद्ध और तीर्थंकर को परम कारुणिक कहा गया है, वे करुणा के अवतार हैं । तीर्थंकर समस्त लोक की पीडा को जानकर धर्म का उपदेश देते हैं, उसी प्रकार बुद्ध भी प्राणियो के दु ख को दूर करने के लिए धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं ।

बोधिलाभ करने के पश्चात् स्वय बुद्ध के मन मे भी यह विचार आया

---

१ "आनन्दा अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा"

—दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, पृ० १११

२ "तुम्हे हि किच्च आतपा अक्खातारा तथागता ।"

—धम्मपद २०/४

था कि मैं समाधिलाभ प्राप्त करके आत्म विहरण करूँ। किन्तु लोक की पीड़ा को जानकर ही वे धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए समुद्यत हुए। उन्होंने अपने भिक्षुओं को भी यह उपदेश दिया कि हे भिक्षुओ, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए, देव और मनुष्य के सुख और हित के लिए परिचारण करो।[1]

किन्तु बुद्ध की यह करुणा साधक के लिए कृपा या वरदान लेकर आती है। क्या बुद्ध की कारुणिक दृष्टिमात्र से बिना पुरुषार्थ के दुःख विमुक्ति सम्भव है? यहाँ हम देखते हैं कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में यह कल्याण-भावना ईश्वरीय कृपा का प्रतीक नहीं कही जा सकती, उसमें सत्व-शुद्धि तो व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ का ही फल कही गई है। किन्तु धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में बुद्ध की यह करुणा कृपा का यह रूप लेने लगती है। सर्वप्रथम तो बौद्ध धर्म में यह मान लिया गया है कि व्यक्ति अपने कुशल या पुण्य का दान दूसरे के हित के लिए कर सकता है और इससे वे लोग लाभान्वित भी होते है। बोधिचर्यावतार में हम देखते है कि बोधिसत्व अपने शुभ क्रियाओं (कृत्यों) को प्राणियों के हित के लिए प्रस्तुत कर देता है और यह कामना करता है कि मेरे पुण्य के बल पर यह प्राणी दुःखों से मुक्त हो जावे।[2] यदि बोधिसत्व या बुद्ध अपनी पुण्य परिणामना के द्वारा लोक मंगल कर सकते हैं तो हमें यह मानना होगा कि बौद्ध धर्म मे किसी सीमा तक कृपा का प्रवेश हो गया है।

१९. अनात्मवाद और बुद्धत्व की अवधारणा

बुद्धत्व की अवधारणा में सबसे महत्वपूर्ण असंगति बौद्ध धर्म का अनात्मवाद का सिद्धान्त कहा जाता है। बुद्ध ने तृष्णा के समग्र उच्छेद के लिए अनात्मवाद का उपदेश दिया। यह बात प्रथम दृष्टि में ठीक तो लगती है, किन्तु आलोचकों का कथन है कि यदि बौद्ध दर्शन ईश्वर एवं आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता तो फिर उसमें बुद्धत्व और बोधिसत्व की अवधारणायें किस प्रकार से संगतिपूर्ण हो सकती हैं? जब तक किसी

---

१ "चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं" —महावग्ग, (१/१०/३२), पृ० २३

२ "यत्किञ्चिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यताम्।
बोधिसत्वशुभैः सर्वजगत् सुखितमस्तु च॥"

—बोधिचर्यावतार १०/५६

नित्य आत्म सत्ता को स्वीकार नही किया जाता तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति बोधिसत्व हो सकता है, बुद्धत्व को प्राप्त हो सकता है ? यदि आत्मा नही है तो फिर बोधिचित्त का उत्पाद कौन प्राप्त करेगा ? पुन एक ओर बौद्ध दर्शन यह मानकर भी चलता है कि प्रत्येक सत्व बुद्ध-बीज है किन्तु यदि कोई नित्य अस्तित्व ही नही है तो फिर वह बुद्ध बीज कैसे होगा और कैसे वह बोधिसत्व होकर विभिन्न जन्मो में पारमिताओं को पार करता हुआ बुद्धत्व को प्राप्त करेगा ? महासांघिको ने बुद्ध के रूपकाय को अमर और उनकी आयु को अनन्त माना है।[1] सद्धर्मपुण्डरीक[2] मे भी यह कहा गया है कि बुद्ध की आयु अपरिमित है। यदि बुद्ध का रूपकाय अनन्त, अमर एव अपरिमित है तो फिर क्षणिक-वाद की अवधारणा कैसे सुसगत सिद्ध होगी ? पुन जब यह मान लिया जाता है कि बुद्ध निर्माणकाय के द्वारा नाना रूपो मे प्रकट होकर लोक हित के लिए उपदेश करते हैं, तो फिर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न होता है कि किसी नित्य तत्व को माने बिना यह निर्माणकाय की रचना कौन करता है ! एक बार सामान्य व्यक्ति के सन्दर्भ मे यह बात बोधगम्य हो सकती है कि वह क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, किन्तु बुद्ध की परिवर्तनशीलता किस आधार पर सिद्ध होगी ? इस प्रकार हम देखते हैं कि अनात्मवादी और क्षणिकवादी दार्शनिक ढांचे मे बुद्धत्व और बोधि-सत्व की अवधारणायें सुसगत नही लगती हैं, यदि हम विशुद्धिमग्ग की भाषा मे कहे कि क्रिया तो है कर्ता नही, मार्ग तो है चलने वाला नही, तो फिर मार्ग का उपदेशक कैसे हो सकता है ? वह कौन-सा सत्व या चित्त है जो बुद्धत्व को प्राप्त करता है और परम कारुणिक होकर जन-जन के कल्याण के लिए युग युग तक प्रयत्नशील बना रहता है ? महायानसूत्रा-लकार मे यह भी कहा गया है कि बुद्ध के तीनो काय आशय, आश्रय और कर्म से निर्विशेष हैं, अत तीनो कायो मे तीन प्रकार की नित्यता समझनी चाहिए जिसके कारण तथागत नित्य कहलाते हैं। स्वाभाविक-काय की स्वभाव से नित्य होने के कारण प्रकृति से नित्यता है साम्भोगिक-काय का धर्म सम्भोग के अविच्छेद के कारण असस्रनत (अच्युतित) नित्यता है, नैर्माणिक की अन्तर्व्यय मे पुन-पुनः निर्मित द्रष्ट होने के

---

१. उद्धृत—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४९

२. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० २०६-२०७ द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३५१।

कारण प्रवन्ध-नित्यता है ।[1] प्रश्न यह होता है कि एकान्त रूप से क्षणिक-वादी दर्शन मे वुद्ध के त्रिकायो की तीन नित्यतायें कैसे सम्भव हो सकती हैं ? इनमे चाहे किसी भी रूप में नित्यता को स्वीकार किया जाये, निश्चित ही हमे क्षणिकवाद से पीछे हटना होगा । जब कोई आत्म-सत्ता ही नही है तो फिर वोधिसत्व कौन वनेगा और वुद्धत्व को कौन प्राप्त करेगा और कौन दस पारमिताओ की साधना करेगा ? यदि वह चित्त जिसने वोधि को प्राप्त किया, जिसने विभिन्न पारमिताओ की साधना की और जो अन्त मे वुद्धत्व को प्राप्त करता है, यदि किसी प्रकार के एकत्व से रहित है अर्थात् स्रोतापन्न होकर विभिन्न पारमिताओ की साधना करते हुए वुद्धत्व को प्राप्त करने वाला "वही" नही है तो फिर वुद्धत्व का सारा दर्शन चरमरा जायेगा ।

मेरी दृष्टि मे वौद्ध दर्शन की ओर से उपरोक्त असगतियो का यदि कोई प्रत्युत्तर हो सकता है 'तो वह यहा होगा कि इन सवकी संगतिपूर्ण विवेचना चित्त सतति या चित्त धारा के रूप मे की जा सकती है । फिर भी इस चित्त धारा मे भी कोई एक ऐसा योजक सूत्र अवश्य मानना होगा जिसके आधार पर वे चित्तक्षण एक दूसरे से पृथक् होकर भी पृथक् नही रहते हैं ।

उपर्युक्त प्रश्नो को लेकर हमने वौद्ध धर्म और दर्शन के वरिष्ठ विद्वान् स्व० प० जगन्नाथ जी उपाध्याय से चर्चा की थी, इस सम्बन्ध में उनके जो प्रत्युत्तर थे उन्हें हम अपने शब्दो में प्रस्तुत कर रहे हैं । उनका कहना था कि वुद्ध के सम्बन्ध मे जो त्रिकायो की अवधारणा है उसका अर्थ यह नही है कि कोई नित्य आत्मसत्ता है, जो कायो को धारण करती है । वस्तुत ये काय परार्थ के उपाय या साधन माने गये हैं । जिस चित्त धारा से वोधिचित्त का उत्पाद होता है । वह वोधिचित्त इन कायो के माध्यम से परार्थ करता है, इसलिए वुद्धत्व कोई एक व्यक्ति नही है, अपितु एक प्रक्रिया है । जब हम धर्मकाय की नित्यता मानते हैं, तो वह व्यक्ति की नित्यता नही, प्रक्रिया की नित्यता है । धर्म को नित्यता मार्ग नित्यता है । धर्मकाय नित्य है इसका तात्पर्य है कि धर्म या परिनिर्वाण के उपाय नित्य हैं । अत इन कायो की अवधारणा को हमे न तो कोई नित्य आत्मा के रूप मे समझना चाहिए और न ये किसी ऐसे तत्व के रूप मे जो

---

१ सूत्रालंकार, पृ० ४५-४६ द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३५४.

शाश्वत है अपितु इन्हे परार्थ क्रियाकारित्व के उपायो के रूप मे समझना चाहिए और यह परार्थ क्रियाकारित्व ही बुद्धत्व है। बुद्धत्व के नित्य होने का अर्थ इतना ही है कि परार्थ क्रिया सदैव-सदैव चलती रहती है। वह चित्त जिसने लोक मगल का सकल्प ले रखा है, जब तक वह सकल्प पूर्ण नही होता है अपने इस सकल्प की क्रियान्विति के रूप मे परार्थ क्रिया करता रहता है और वह सकल्प लेने वाला चित्त आपकी, हमारी या किसी की भी चित्त धारा की सन्तान हो सकता है। उसका यह सकल्प कि जब तक समस्त प्राणी निर्वाण लाभ न कर लें या दु ख से मुक्त नही हा जाते, तब तक लोक मगल के लिए प्रयत्नशील रहूँगा, अपनी चित्त-सन्तति-धारा को प्रवाह रूप से बनाए भी रखता है।

इस प्रकार अनात्मवादी बौद्ध दर्शन मे बुद्धत्व की यही अवधारणा अधिक समीचीन और तर्कसगत हो सकती है कि हम बुद्ध को व्यक्ति न मानें, अपितु परार्थ क्रियाकारित्व की एक प्रक्रिया मानें। बुद्ध नित्य व्यक्तित्व नही अपितु प्रक्रिया हैं और जो बुद्ध के तीन या चार काय माने गये हैं वे इस प्रक्रिया के उपाय या साधन हैं। धर्मकाय की नित्यता की जो बात कही जाती है वह भी स्थितिगत नित्यता नही अपितु प्रक्रियागत नित्यता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह युगो-युगो तक चलता रहता है यद्यपि उसमे क्षण-क्षण परिवर्तनशीलता और नवीनता होती है, उसी प्रकार बुद्धत्व या बोधिमन्त्र भी एक चित्तधारा है, जो कायो अर्थात् उपायो के माध्यम से सदैव परार्थ मे लगी रहती है।

पुन बुद्ध न तो निर्वाण मे स्थित हैं और न ससार मे। महायान मे बुद्ध के दो प्रमुख लक्षण प्रज्ञा और करुणा कहे गये हैं। प्रज्ञा के कारण वे ससार मे प्रतिष्ठित नही हैं और करुणा के कारण निर्वाण मे प्रतिष्ठित नही हैं, अर्थात् करुणा उन्हे निर्वाण मे प्रतिष्ठित नही होने देती और प्रज्ञा उन्हे ससार मे प्रतिष्ठित नही होने देती। अत वे दोनो मे अप्रतिष्ठित होकर कार्य करते हैं।

महायान मे जो अनन्त बुद्धो की कल्पना है वह कल्पना भी प्रक्रिया की कल्पना है क्योकि यदि प्रक्रिया को सतत चलना है तो हमे अनन्त बुद्धो की अवधारणा को स्वीकार करना होगा, क्योकि प्रत्येक चित्त से बोधिचित्त का उत्पाद हो सकता है और ऐसी स्थिति मे बुद्ध एक नही अनन्त हो सकते हैं। प्रक्रिया के रूप में एकत्व हैं, प्रक्रिया के घटको के रूप मे अनेकत्व हैं। बुद्ध अनेक रूपो मे प्रकट होते हैं इसका तात्पर्य यह

नही है कि कोई एक व्यक्ति अनेक रूपो मे प्रकट होता है, अपितु एक प्रक्रिया है जो अनेक रूपो मे अभिव्यक्त होती है। इसे हम लोक मगलकारी चित्त धारा कह सकते हैं जो अनेक रूपो मे अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकारो से लोक-मगल करती है। वुद्ध के द्वारा अनेक सम्भोग-काय के धारण करने का मतलव (अभिप्राय) यह है कि वुद्धत्व की प्रक्रिया या वोधि-चित्त-धारा के अनेकानेक चित्त-क्षण अनेकानेक कायो अर्थात् उपायो से लोक का हित साधन करते हैं।

पुन जिस प्रकार पचरात्र और वैष्णव दर्शन मे विष्णु के व्यूहो की कल्पना है उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में कायो की कल्पना है। जिस प्रकार विष्णु अपने व्यूहो के माध्यम से लोकमगल करते हैं उसी प्रकार वुद्ध भी अपने कायो के माध्यम से लोकमगल करते हैं। फिर भी जहाँ विष्णु और उसके व्यूहो मे अश-अंशी भाव है वहाँ वुद्ध और उनके कायो में ऐसा कोई सम्वन्ध नही है। काय तो वोधिचित्त के द्वारा किए जाने वाले परार्थ के उपाय या साधन मात्र हैं अस्तित्व नही। अवतारवाद की अवधारणा के मूल मे आत्मवाद या किसी नित्य तत्त्व की अवधारणा रहती है, वौद्ध दर्शन के मूल मे आत्मवाद ऐसा कोई नित्य तत्त्व नही है। यही दोनो का मूलभूत अन्तर है।

●

चतुर्थ अध्याय

अवतार की अवधारणा

१. अवतार शब्द की व्याख्या

प्राचीनकाल से ही भारतीय साहित्य में अवतार शब्द का प्रयोग होता रहा है। "अवतार" शब्द अव + तृ + घञ् से बना है—

"अवे तृस्त्रोर्घञ्"

इस सूत्र से निष्पन्न अवतार शब्द का अर्थ होता है कि किसी उच्च स्थल से नीचे उतरना अर्थात् किसी दैवीय शक्ति का दिव्य लोक से भूतल पर उतरना। सामान्यतया "अवतार" शब्द का प्रयोग सामान्य व्यक्ति के जन्म लेने के अर्थ में न होकर ईश्वर के शरीर धारण करने के अर्थ में ही किया जाता है।

भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में 'अवतार' शब्द के स्थान पर अवतृ से बनने वाले 'अवतारी' और 'अवत्तर' शब्दों का प्रयोग है। सायण के अनुसार ऋग्वेद में प्रयुक्त "अवतारी" शब्द का अर्थ संकट दूर करना है। उसमें कहा गया है कि हे इन्द्र ! तुम हमारी स्तुतियों से, शत्रु सेनाओं को नष्ट करने वाली हमारी सेना की रक्षा करते हुए संग्राम में विद्यमान शत्रु के कोप को नष्ट करो। यज्ञादि कार्य करने वाले यजमान के लिए तुम उनके कार्यों को विनष्ट करने वाली सम्पूर्ण प्रजाओं को स्तुतियों द्वारा विनष्ट करो।[1] अवतारी के अनन्तर "अवतृ" से बनने वाला 'अवत्त' शब्द अथर्ववेद में मिलता है।[2] सायण ने कहा है कि जिसमें रक्षण का सारभूत अंग विद्यमान हो वही "अवत्तर" है। "अवत" शब्द पुन यजुर्वेद में उतरने के

---

१ "अभि स्पृधो मिथतीररिषण्यन्न मित्रस्य व्यथया मन्युमिन्द्र आभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरार्याय विशो ऽवतारीर्दासी ।"

—ऋग्वेद, ६/३/२५/२

२. "उपद्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम् । अग्ने पित्तमपामसि ॥"

—अथर्ववेद, १८/३/५

अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[१] यजुर्वेद के अंग्रेजी टीकाकार ग्रिफिथ ने अवतर का अर्थ 'descend' अर्थात् उतरना किया है।[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] मे 'अवतारी' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[४] के समान ही रक्षा करने के अर्थ में ही हुआ है, उसमे मन्त्र की समानता के कारण अर्थ वैषम्य की सम्भावना नही है। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण[५] तथा मैत्रायणी संहिता[६] मे प्रयुक्त अवतर शब्द यजुर्वेद[७] मे प्रयुक्त "अवत्तर" शब्द के समान ही अर्थ रखते हैं।

पाणिनि ने "अवतार" शब्द का प्रयोग नीचे उतरने के अर्थ मे किया है—

"अवे तृस्त्रोर्घञ, अवतार· कूपादि। अवस्तारो जवनिका।"

अष्टाध्यायी ३ ३ १२०

गीता मे "अवतार" की अपेक्षा "आत्म सृजन और "दिव्य जन्म" का प्रयोग हुआ है।[८] वाल्मीकि रामायण, महाभारत और विष्णुपुराण के अवतार सम्बन्धी उल्लेख मे विष्णु के शरीर धारण करने या भूतल पर अवतीर्ण होने से अधिक सम्बन्धित है।[९] श्रीमद्भागवत मे "अवतार" शब्द के स्थान पर "सृजन", "सृष्टि" और "जायमान" शब्द व्यवहृत हुए हैं।[१०]

इस प्रकार अवतार शब्द सृजन, जायमान, प्रभृति, उत्पत्ति सूचक

---

१ "उपज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा। अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकिताभिरागहि सेम नो यज्ञ पावक वर्ण भूषिव कृधि ॥—यजुर्वेद १७/६

२ "Descend upon the earth, the road, rivers, Thou art the gall, O Agni of the waters"

३ तैत्तिरीयब्राह्मण २/८/३/३

४ ऋग्वेद ६/३/२५/२

५ शतपथब्राह्मण ९/१/२/२७

६ मैत्रायणी संहिता २/१०/१

७ यजुर्वेद १७/६

८. गीता, ४/६–९

९ वाल्मीकि रामायण १/१६/३, महाभारत १/६४/५४, विष्णुपुराण ५/१/६०–६५

१० "यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ् नरादय ॥" —भागवत १/३/५
"निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।" —भागवत १०/३/८

शब्दो का ही पर्यायवाची है। फिर भी सामान्यतया विष्णु या ईश्वर के जन्म लेने को ही अवतार कहा गया है। अवतार की अवधारणा में यह सिद्धान्त निहित है कि ईश्वर भूतल पर शरीरधारी बनकर जन्म लेता है।

बौद्ध और जैन धर्मों के अनीश्वरवादी होने के कारण उनमे अवतार की अवधारणा को स्पष्टरूप से स्वीकार नही किया गया है फिर भी कुछ ऐसे शब्द के प्रयोग मिलते है जो इस अवधारणा से सम्बन्धित प्रतीत होते है।

महायानी बौद्ध साहित्य के विख्यात ग्रन्थ "सद्धर्मपुण्डरीक" मे क्रमश अवतीर्य, अवतारिता, जात, उत्पन्न, प्रादुर्भाव शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[1] इनमे प्रादुर्भाव शब्द सर्वाधिक प्रचलित है। "तथागत-गुह्यक" मे निर्माण, निष्क्रान्त, कायधारण तथा अवधारण जैसे शब्द मिलते हैं।[2] "मजूश्री-मूलकल्प" मे अवतारयेत्, अवतारार्थ के अतिरिक्त समागत और आविष्ट शब्द प्रयुक्त हुये है।[3] "बौद्धगानओदोहा" मे अवतरित, निर्माणकाय, जायते आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[4] बौद्ध धर्म का निर्माणकाय शब्द अवतार की अवधारणा के निकट है। सिद्ध-सरहपाद के दोहाकोश मे "विशिष्ट निर्माणकायो च जायते" जैसे शब्द प्रयुक्त हुए है। इसी ग्रन्थ मे एक जगह "णिअ-पहुधर-वेस" (निज-प्रभुधर-वेश) का व्यवहार हुआ है।[5] दोहाकोश मे "बोधिसत्व अकम्पित अवतरे", 'कायधारण" और "सगुणपहसे" जैसे अवतार की अवधारणा को सूचित करने वाले शब्द मिलते हैं।[6] यद्यपि ये शब्द बुद्ध के अवतरण या शरीर धारण से सम्बन्धित हैं फिर भी इनका वह अर्थ नही है जो हिन्दू परम्परा मे ईश्वर के अवतरण का है।

---

१ सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० १३६, ३०१, १२८, १२५, २४०, द्रष्टव्य मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पीठिका, पृ० ७ (डॉ० कपिल देव पाण्डेय)

२ तथागतगुह्यक, पृ० २,५९, १२८ द्रष्टव्य—वही

३ मजूश्रीमूलकल्प, पृ० ५०२, २०२, २१६, २३६, २३७ ॰ द्रष्टव्य—वही

४ बौद्धगानओदोहा, पृ० ११२, ९१, ९३ ॰ द्रष्टव्य—वही

५ दोहाकोश, पृ० ९४, ९६, १५९ द्रष्टव्य-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद पीठिका, पृ० ८

६, दोहाकोश (सिद्धसरहपाद), पृ०० २३७, ०९९, ३३ द्रष्टव्य-वही

जैन साहित्य मे "अवतार" शब्द के ही प्राकृत एव अपभ्रश रूप प्रचलित रहे हैं। जैन ग्रन्थो मे अवइण्णु (अवतीर्ण हुए) एव "पयडगउ" (प्रकट शरीरा) शब्द प्रयुक्त हुए है।[1] यहाँ इन शब्दो का अर्थ जन्म ग्रहण अथवा स्वर्ग से अवतरण से है, किन्तु इन्हें 'अवतार' का पर्यायवाची नही माना जा सकता, क्योकि जैन दर्शन ईश्वर के अवतरण के अर्थ में अवतारवाद नही मानता है।

२. अवतार शब्द का सामान्य तात्पर्य विष्णु के अवतार

एनीवेसेन्ट, अरविन्द, डॉ० राधाकृष्णन् आदि ने अवतारवाद पर विचार करते हुये अवतार का शाब्दिक अर्थ ईश्वर के अवतरण से ही माना है।[2]

हिन्दू परम्परा मे इस अवतरण का अर्थ किसी सामान्य व्यक्ति के अवतरण या जन्म से न होकर विष्णु अर्थात् ईश्वर के अवतरण से है। जबकि जैन और बौद्ध परम्पराओ मे अवतरण शब्द व्यक्ति के बोधिसत्व, बुद्ध या तीर्थंकर के रूप मे जन्म लेने को सूचित करता है, यहाँ अवतरण शब्द भी विकास का ही सूचक है। मूलत. जैन और बौद्ध परम्परायें अवतारवाद के स्थान पर उत्तारवाद की सूचक हैं, जबकि वैदिक परम्परा विशेष रूप मे अवतारवाद की सूचक है।

विष्णु के जन्म लेने का विवरण वैदिक साहित्य में विरल या नगण्य ही है, किन्तु जिन उपादानो से पौराणिक विष्णु एवं उनके अवतारो की अवधारणा का विकास हुआ उनमे से अधिकाश का सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा इन्द्र और प्रजापति से अधिक रहा है। कालान्तर मे सर्वश्रेष्ठ होने पर उन सभी को विष्णु पर आरोपित किया गया।

वैदिक विष्णु प्रारम्भ मे अन्य देवो के समतुल्य थे, फिर वे कुछ विशेषताओ के कारण महान् एव सर्वश्रेष्ठ बन गये और अवतरण की सारी कथायें उनके साथ जोडी जाने लगी। इस प्रकार अवतार शब्द विष्णु के अवतार का पर्यायवाची बन गया। अत अवतार की अवधारणा को स्पष्ट करते समय हमें विष्णु की अवधारणा को भी समझ लेना होगा।

---

१ पउमचरिउ (स्वयम्भू), भाग १,—१।१६।५, हरिवशपुराण ९२।३

२ दी मैसेज आफ गीता, पृ० ७०, अवतार, पृ० ९,
दि भगवद्गीता, (डॉ० राधाकृष्णन्) पृ० ३४

३. विष्णु शब्द की व्याख्या

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति विश् प्रवेश करना अथवा अश्—व्याप्त करना धातु से की गई है—"विष्णुर्विशतर्वा व्यश्नोतर्वा।" विष्णुपुराण मे भी 'विश्' धातु का अर्थ प्रवेश करना है, सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा मे व्याप्त है।[1] ऋग्वेद मे विष्णु को सौर देवता कहा है और वे सूर्य के रूप हैं। आचार्य यास्क के अनुसार रश्मियो द्वारा समग्र ससार को व्याप्त करने के कारण सूर्य ही विष्णु नाम से अभिहित हुये हैं। ऋग्वेद मे "स्यन्दन्ता कुल्या विपिता पुरस्तात्" कहकर विष्णु की इन्द्र से तुलना की गई है।[2] ऋग्वेद मे विष्णु इन्द्र के सहायक देवता हैं वहाँ उन्हें वृत्रवध मे इन्द्र की सहायता करते हुए दिखाया गया है। साथ ही वे जल को पृथ्वी की ओर प्रवाहित करने तथा बलपूर्वक बन्दी बनाई गयी गायो को मुक्त करने मे भी इन्द्र की सहायता करते हुए वर्णित हैं। कठोपनिषद् मे विष्णु को व्यापक या व्यापनशील कहा गया है।

विष्णु शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो ने भी अपने मत व्यक्त किये हैं। ब्लूमफील्ड का मत है कि विष्णु यौगिक शब्द "वि+स्नु" से बना है। 'स्नु' शब्द का अर्थ है शिखर या ऊपरी धरातल 'वि' उपसर्ग "से होकर" (अंग्रेजी का शब्द Through) का भाव व्यक्त करता है, इस प्रकार इस शब्द का अथ हुआ कि वह देवता जो पृथ्वी के पृष्ठ-भाग या धरातल से होकर जाता है।[3]

ओल्डेनवर्ग ने भी इस व्युत्पत्ति के अनुसार विष्णु का अर्थ 'विस्तृत क्षेत्रो का अधिपति' (Herr der weiten Flachen) अथवा 'भूमि के विस्तीर्ण क्षेत्र को पार करने वाला' माना है।[4]

इसी प्रकार एक अन्य जर्मन विद्वान् ग्युन्टर्ट ने विष्णु शब्द का भाव

---

१ यस्लाद्विष्टमिद विश्व तस्य शक्त्या महात्मन ।
तस्मात्स प्रोत्यते विष्णुर्विशेर्धातो प्रवेशनात् ॥

—विष्णुपुराण ३।१।४५

२ ऋग्वेद ५।८३।८

३ "अव्यक्तात्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।

—कठोपनिषद् २/३/८

४ ओल्डेनवर्ग, रिलीगियोन डेर वेद, पृ० २१०

पृथ्वी को चपटा कर फैलाने वाले के सन्दर्भ मे किया है (Wer die Flache auseinander gebeitet) ।[1]

थॉमस ब्लाक तथा जोहान्सन ने विष्णु शब्द मे "जिष्णु" (विजयी) शब्द की भाँति "स्नु" प्रत्यय की उपस्थिति मानी है, "जि" की भाँति मूल "वि" कोई धातु नही है । इन विद्वानो ने 'वि' शब्द के 'पक्षी' अर्थ के अनुसार यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विष्णु शब्द मूलत. 'श्रेष्ठ पक्षी' का अर्थ रखता है और इस रूप मे सूर्य को दर्शाता होगा। ऋग्वेद में प्रात सूर्य को सुपर्ण या गरुत्मत कहा गया है।[2] जोहान्सन ने इसकी ग्रीक शब्द "औइस्नस" (Oisnos) अर्थात् "बडा पक्षी" से तुलना की है ।

हॉपकिन्स ने विष्णु के गति से विशेष सम्बन्ध को ध्यान मे रखते हुए गत्यर्थक वि अथवा वी से इसकी व्युत्पत्ति मानने का आग्रह किया है ।[3] मैकडानल ने कहा है कि गमन करने या 'त्रेधा विचक्रमण' के कारण ऋग्वेद में विष्णु का विशेष महत्व है अत विष्णु शब्द अवश्य ही गत्यर्थक धातु से सम्बद्ध रहा होगा । इस सम्बन्ध मे उसने क्र्यादिगण की 'विष्' (विप्रयोगे धातुपाठ, १५२७) धातु का सुझाव दिया है । ऋग्वेद मे यह धातु पर्याप्त स्थानो पर प्रयुक्त हुई है और पीटर्सबर्ग के कोश के अनुसार इसका मूल अर्थ क्रियाशील या गतिमान होना है ।[4]

कुछ भाषा वैज्ञानिको का यह मत है कि विष्णु शब्द मूलत आर्य भाषा का न होकर द्रविड भाषा से लिया गया है, महाराष्ट्र के प्रसिद्ध देवता का नाम विठोवा या विट्ठल है जो ध्वनि परिवर्तनो के बाद आर्य भाषा संस्कृत मे अपना लिया गया, क्योकि विष्णु संस्कृत शब्द-संपदा का शब्द नही है । एफ० डब्ल्यू० थामस का मत है कि जिस प्रकार कृष्ण शब्द का तमिल रूप आज (क्रुस्टना या क्रिस्टना) है । उसी प्रकार विष्णु

---

१ डेउर आरिशे वेल्टक्योनिख् उन्ट हाइलण्ट, पृ० ३०६

२ ऋग्वेद १/४७/३

३ जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी, भाग ६, पृ० २६४
(वी गतिव्याप्ति प्रजनकान्त्यसनखादनेषु, धातुपाठ—१०४८)

४ 'आक्तद्यु कार्ग्रे ऐतरनासियोनाल् देज् ओरियन्तलिस्त'
(अष्टादश अधिवेशन, १९३१), पृ० १५४
'आरखींव ओरियन्टालनी, भाग ४ (१९३२), पृ० २३१

का 'मूलरूप' विश्टनु (विस्टनु) रहा होगा, जिसका संस्कृतीकरण 'विष्णु' के रूप में कर लिया गया।[१]

विष्णु की आदित्यगण में गणना किये जाने से इनका मूलरूप मे सूर्य से किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध अवश्य था।

प्रकृति की प्रत्येक वस्तु प्रकाश मे आवृत दिखाई पडती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व मे भी सूर्य की सर्वत्रगामिनी किरणें प्रविष्ट रहती हैं। इस कारण ही वैदिक महर्षियो की दृष्टि इस ओर गई।

४. विष्णु और सूर्य

विष्णु का सूर्य से सम्बन्ध अनेक वैदिक तथा अवैदिक दृष्टान्तो से स्पष्ट होता है। जिस प्रकार सूर्य देव ने अपनी शक्ति से समस्त पार्थिव लोक को नापा, उसी प्रकार विष्णु ने पृथ्वीमडल को नाप लिया था। विष्णु की यही विशेषता निश्चित रूप से सूर्य के पृथ्वीमडल के चारो ओर परिभ्रमण को सकेतित करती है। विष्णु का ताप से विशेष सम्बन्ध बताया गया है।

"विष्णुर्यनक्तु बहुधा तपासि"।[२]

वर्ष, मास और ऋतुओ का नियामक सूर्य ही है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ऋग्वेद मे कहा गया है कि विष्णु अपने ९० अश्वो को एक चक्र की भांति घुमाते हैं।[3] प्राचीन वैदिक साहित्य मे प्राय ४ ऋतुओ का उल्लेख है, प्रत्येक ऋतु के ३ मास के ९० दिनो को ये ९० अश्व प्रदर्शित करते हैं। श्रीमदभागवत् मे वर्ष का कालचक्र के रूप में अतीव सुन्दर वर्णन उपलब्ध है।[४]

विष्णु से सूर्य की उत्पत्ति के बारे में शतपथब्राह्मण,[५] तैत्तिरीय आर-

---

१ "एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतय"

—भागवतपुराण, १२/११/४५

२. अथर्ववेद ५/२६/७

३ चतुर्भि साकं नवतिं च नामभि चक्रं न वृत्तं व्यतीरवीविपत्।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमार प्रत्येत्याहवम्॥

४ श्रीमद्भागवत् ५/२१/१३

५. शतपथब्राह्मण १४/१/१

ण्यक[1] और पंचविंशब्राह्मण[2] में एक विचित्र कथानक है कि एक बार विष्णु अपने धनुष पर सिर रखकर निद्रा में निमग्न थे, दीमकों ने धनुष की डोरी काट दी जिसके कारण धनुष वेग से उछला और विष्णु का सिर कटकर आकाश में जाकर स्थिर हो गया। परवर्ती साहित्य में विष्णु के वाहन गरुड़ को गरुत्मत तथा सुपर्ण भी कहा गया है। ये दोनों विशेषण सूर्य के लिए प्रयुक्त किये गये हैं और उसे एक शीघ्रगामी पक्षी के रूप में चित्रित भी किया गया है।[3]

महाभारत के अनुशासनपर्व[4] में विष्णु के जिन नामों का उल्लेख है उनमें सहस्रांशु—हजारों किरणों वाले सूर्यरूप, गभस्तिनेमि—किरणों के बीच में सूर्यरूप से स्थित, विहायसगति—आकाश में गमन करने वाले, रवि—समस्त रसों का शोषण करने वाले सूर्य, विरोचन—विविध प्रकार के प्रकाश फैलाने वाले, सूर्य—शोभा को प्रकट करने वाले, सविता—समस्त जगत् को प्रसव यानी उत्पन्न करने वाले आदि विशेषण निश्चित रूप से विष्णु का सूर्य से सम्बन्ध दर्शाते हैं।

विष्णुपुराण[5] में कहा गया है कि विष्णु ज्योतिपिण्डों के अधिपति हैं। सूर्य ही विष्णु और उनकी आभा लक्ष्मी है।

ब्रह्मपुराण सशक्त शब्दों में कहता है कि सूर्य ही विष्णु है और विष्णु ही सूर्य हैं।[6]

एक ही तत्व आधिभौतिक दृष्टि से सूर्य और आधिदैविक दृष्टि से विष्णु हैं।[7]

---

१. तैत्तिरीयआरण्यक ५/१/१

२ पंचविंशब्राह्मण ७/५/६-१६

३ उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥

—ऋग्वेद १/४७/३

४ महाभारत-अनुशासन पर्व, विष्णुसहस्रनाम, पृ० १४८७-१५००

५ साद्रिद्वीपसमुद्रश्च सज्योतिर्लोकसंग्रहः।

—विष्णुपुराण १/२/५८

६. यश्च सूर्यः स वै विष्णुः यश्च विष्णुः स भास्करः।

—ब्रह्मपुराण १५८/२४

७ पद्मपुराण-सृष्टि खण्ड २०/१७३

मत्स्यपुराण के अनुसार भगवान् नारायण ही सत्वगुण से सूर्य का रूप धारण कर जल का शोषण करते हैं।[1] श्रीमद्भागवत् मे सूर्य को विष्णु के प्रत्यक्ष रूप मे माना गया है।[2]

लोक कल्याण के लिए सृष्टि को धारण करनेवाले आदि-पुरुष नारायण का साक्षात् स्वरूप ऋतुओ का विभाजन करने वाले सूर्य को बताया गया है, साथ ही यह भी कहा गया है कि वेद और विद्वान् लोग जिनकी गति को जानने के लिए उत्सुक रहते है वे साक्षात् आदि पुरुष भगवान् नारायण ही लोको के कल्याण और कर्मो की शुद्धि के लिए अपने वेदमय विग्रह काल को बारह मासा मे विभक्त कर वसन्तादि ६ ऋतुओ मे उनके गुणो का विधान करते हैं।[3] वेदोक्त यज्ञ यागादि क्रियाओ के आधार पर सूर्य और विष्णु मे कोई अन्तर नही है परन्तु ऋषियो ने वैदिक क्रियाओ के अनुसार सूर्य का विभिन्न रूपो मे वर्णन किया है।[4]

इस प्रकार विष्णु की कल्पना सूर्य के प्रकाश रूप से न करके तीव्र गति से विचरते सूर्य बिम्ब से की गई।[5] आकाश मे पूर्व से पश्चिम तीव्र गति से जाने के कारण ही विष्णु को उरुगाय तथा उरुक्रम नाम से विभूषित किया गया है। तीव्र गति के कारण एष, एवया तथा एवयावान् आदि उनके विशेषण कहे गये हैं।[6]

दैत्यो के विनाश के लिए ही उग्र तपस्या कर विष्णु ने शिव से सुदर्शन नामक चक्र को प्राप्त किया। विष्णु को उनकी शैव भक्ति के कारण शैवराट को सज्ञा से भी अलकृत किया गया है।

---

१ भूत्वा नारायणो योगी सत्वमूर्तिर्विभावसु ।
गभस्तिभि प्रदीप्ताभि' संशोषयति सागरान् ॥ —मत्स्यपुराण १६६/१

२ प्रत्नस्य विष्णो रूप यत्सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मण ।
अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमहीति ॥ —भागवत् ५/२०/५

३ स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकाना स्वस्त्य आत्मान त्रयीमय कर्मविशुद्धिनिमित्त कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षटसु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति ॥
—भागवत् ५/२२/३

४ एक एव हि लोकाना सूर्य आत्माऽऽदिकृद्धरि ।
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदित ॥ —वही, १२/११/३०

५. वैदिक माइथोलोजी, पृ० ३९

६ वही, पृ० ३८

वेदो से प्रारम्भ होकर ब्राह्मणो, आरण्यको, उपनिषदो, रामायण, महाभारत एवं पुराणो मे विष्णु की महत्ता एव लोक ख्याति उसी प्रकार वृद्धिगत होती रही है, जिस प्रकार गगा का जल समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते वृद्धि को ही प्राप्त होता रहता है। ब्रह्मा का महत्व वैदिक साहित्य में प्रजापति के रूप में सुविख्यात था किन्तु कालान्तर मे वह ह्रास को प्राप्त हो गया। वैदिक साहित्य मे रुद्र विशेष ख्याति प्राप्त देवता नही रहे, किन्तु विष्णु लोक-कल्याणकारी देवता के रूप मे विशेष ख्याति को प्राप्त होते रहे हैं। विष्णु को लोक की विपत्ति मे सहायक माना गया है। इसी विराट् भावना के कारण शैव पुराणो मे भी विष्णु का महत्व स्वीकार किया गया है। प्रारम्भ मे विष्णु इन्द्र तथा प्रजापति के समकक्ष देवता रहे, किन्तु कालान्तर मे विष्णु का महत्व बढ़ जाने के कारण इन्द्र तथा प्रजापति भी उन्ही मे अगीभूत हो गये।

५. शिवपुराण के अनुसार विष्णु की उत्पत्ति

शिवमहापुराण के अनुसार विष्णु का आविर्भाव (उत्पत्ति) इस प्रकार है—कहा जाता कि महाप्रलय के समय चारो ओर अन्धकार ही अन्धकार व्याप्त था, उस समय एकमात्र 'तत्सद् ब्रह्म' ही शेष था। कुछ कालोपरान्त उसके मन मे एक से दो होने की इच्छा जागृत हुई[1] और उस निराकार परमात्मा ने लीला शक्ति से अपने लिए एक मूर्ति या आकार की कल्पना की।[2] वह मूर्ति सर्वगुणसम्पन्न, सर्वज्ञ एवं शुभस्वरूपा थी। इसी को सदाशिव या परमात्म-शिव कहा गया है। कहा जाता है कि उस समय एकाकी एव स्वेच्छा विहार करने वाले परमात्माशिव ने अपने विग्रह से स्वयं ही एक स्वरूपभूता शक्ति की सृष्टि की और पुन उस शक्ति के साथ सदाशिव या परमात्म-शिव ने "शिवलोक" का निर्माण किया जो कि 'काशी' के नाम से विख्यात है। इस काशी को निर्वाण अथवा मोक्ष का धाम कहा गया है साथ ही इसको सबके ऊपर विराज-

---

१ "क्रियता चैव कालेन द्वितीयेच्छाऽभवत् किल।"

—शिवपुराण २/१/६/१४

२ अमूर्तेन स्वमूर्तिश्च तेनाकल्पि स्वलीलया।
सर्वैश्वर्यगुणोपेता सर्वज्ञानमयी शुभा॥

—शिवपुराण, २/१/६/१५

मान बताया गया है ।[1] काशी क्षेत्र आनन्द को प्रदान करने वाला है इस कारण धनुषधारी शिव ने पहले इसका नाम "आनन्दवन" रखा था उसके बाद इसका नाम 'अविमुक्त' पड़ा ।

एक समय आनन्दवन मे रमण करने वाले शिव एवं शक्ति के मन मे यह विचार आया कि किसी दूसरे पुरुष को उत्पन्न करना चाहिए, ताकि इस सृष्टि के संचालन का महान् भार उस पर छोडकर हम दोनो काशी में इच्छानुसार विचरण करें और निर्वाण धारण करें ।[2]

अत वही पुरुष हमारे अनुग्रह से सृष्टि उत्पन्न करे, उसका पालन करे और अन्त मे उसका सहार करे ।[3] इस प्रकार निश्चय करके सर्वव्यापी परमेश्वर शिव ने अपने वामभाग के दसवें अग पर अमृत मला तो वहाँ से तीनो लोको मे अति सुन्दर पुरुष प्रकट हो गया ।[4] इस प्रकार उस दिव्य, सर्वगुणसम्पन्न, पीताम्बरधारी पुरुष ने अपने नाम और कार्य के विषय मे भगवान् शकर से जिज्ञासा प्रकट की, तो परमात्म शिव अर्थात् भगवान् शकर ने उत्तर दिया—'व्यापक होने के कारण तुम्हारा "विष्णु" नाम विख्यात होगा,[5] इसके अतिरिक्त और भी विभिन्न नाम होगे । तुम सुस्थिर होकर तप करो क्योकि वही समस्त कार्यों का साधक

---

१ युगपच्च तया शक्त्यासाक कालस्वरूपिणा ।
शिवलोकाभिध क्षेत्र निर्मित तेन ब्रह्मणा ॥
तदेव काशिकेत्येतत्प्रोच्यते क्षेत्रमुत्तमम् ।
पर निर्वाण सख्यान सर्वोपरि विराजितम् ॥ —शिवपुराण २/१/६/२७-२८

२ अथानन्दवने तस्मिञ्छवयो रममाणयो ।
इच्छेत्यभूत् सुरर्षेहि सृज्य कोऽप्यपर किल ॥
यस्मिन्न्यस्य महाभारमावा स्वस्वैरचारिणी ।
निर्वाणधारण कुर्व केवल काशिशायिनो ॥ —वही २/१/६/३३

३ स एव सर्व कुरुता स एव परिपातु च ।
स एव सवृणोत्वन्ते मदनुग्रहता सदा ॥ —वही २/१/६/३४

४ सप्रधार्येति स विभुस्तया शक्त्या परमेश्वर ।
सव्ये व्यापारयाचक्रे दशमेऽङ्गे सुधासवम् ॥ —वही २/१/६/३७
तत पुमानाविरासीदेकस्त्रैलोक्यसुन्दर ॥ —वही २/१/६/३८

५. विष्ण्विति व्यापकत्वात्ते नाम ख्यात भविष्यति ।
—वही २/१/६/४३

है।' ऐसा कहकर भगवान् शिव ने श्वास मार्ग से, विष्णु को वेदो का ज्ञान प्रदान किया।[१] तदन्तर विष्णु ने तप किया। तप के प्रभाव से भगवान् विष्णु के अग से जल की धारायें प्रकट हुईं। वह जल सम्पूर्ण शून्याकाश मे व्याप्त हो गया। वह जल समग्र पापो का नाश करने वाला सिद्ध हुआ। नार अर्थात् जल म शयन करने के कारण वे 'नारायण' नाम से अभिहित हुए।[२]

६. अवतार एवं उनका प्रयोजन

(क) वाल्मीकिरामायण

वाल्मीकिरामायण के अनुसार विष्णु देव-शत्रुओ के विनाश के लिए ही अवतरित हुए थे। राक्षसराज रावण के अत्याचारो से घबराकर देवता ब्रह्मा के पास जाते हैं। उसी समय शख, चक्र, गदा और पद्म से विभूषित एव पीताम्बर धारण करने वाले विष्णु उपस्थित होते हैं।[३] सभी देवता मिलकर विष्णु से मनुष्य लोक मे अवतार लेने का अनुरोध करते हैं।

वाल्मीकिरामायण के अनुसार राम, विष्णु के अवतार नही है, किन्तु विष्णु के समान वीर्यवान हैं।[४] यद्यपि विष्णु के समान पराक्रमी होने का एक अर्थ विष्णु का अवतार हो सकता है, क्योकि अवतारवाद की अवधारणा मे सदैव वीर्य (पौरुष) महत्वपूर्ण है। अपनी पराक्रमशीलता के कारण ही विष्णु वैदिककाल से ही विख्यात रहे हैं।

वाल्मीकिरामायण मे परशुराम के अवतारत्व-शक्ति से हीन होने के प्रसग में स्पष्ट कहा गया है कि राम के धनुष चढाने के पश्चात् परशुराम तेज और वीर्य से हीन होकर जड के समान हो गये।[५] इससे स्पष्ट होता है कि तेज और वीर्य ही अवतार के प्रमुख लक्षण हैं।

---

१ इत्युक्त्वा श्वासमार्गेण ददौ च निगम तत। —शिवपुराण २/१/६/४४

२ सुष्वाप परमप्रीतो बहुकाल विमोहित।
नारायणेति नामापि तस्यासीच्छ्रुतिसम्मतम्॥

—वही २/१/६/५३–५४

३ वाल्मीकि रामायण १/१५/१४–२२

४ "विष्णुना सदृशो वीर्ये।"—वही १/१/१८

५ "तेजोभिर्गत वीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृत।"—वही १/७६/१२

यह भी सम्भव है कि प्रारम्भ मे राम विष्णु के समान तेज एव वीर्य से युक्त माने गये हो, और कालान्तर मे इन्ही गुणो के कारण उनमें अवतारत्व का आरोपण कर दिया हो। विष्णु के सदृश राम ने भी अवतार के रूप में देवताओ की सहायता की। वेदो मे जिस प्रकार इन्द्र एव विष्णु का आपसी सहयोग रहा है उसी प्रकार वाल्मीकि रामायण मे भी इन्द्र राम को विष्णु-धनुष प्रदान कर सहयोग करते हैं।[1] जिस प्रकार शतपथब्राह्मण मे विष्णु अपने तीन पदो द्वारा सभी वैदिक देवताओ की शक्ति प्राप्तकर श्रेष्ठ बन जाते हैं उसी प्रकार रामायण में भी राम अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण--इन पाँच दवताओ के गुण, प्रताप, पराक्रम, सौम्य, दड एव प्रसन्नता को प्राप्तकर श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं।[2]

वाल्मीकिरामायण मे राम के जन्म का मुख्य प्रयोजन असुरो का विनाश है और इसी कारण उन्हे विष्णु का अवतार कहा गया। वाल्मीकिरामायण मे विष्णु के अवतार के साथ अन्य देवताओ के सामूहिक अवतरण की बात भी कही गई है।[3] इसमे राम का मुख्य प्रयोजन देवशत्रुओ का विनाश करना ही है।

(ख) महाभारत

वाल्मीकिरामायण एव महाभारत दोनो महाकाव्यो मे अवतार का मुख्य उद्देश्य दैवी शक्ति को विजयो बनाना है। महाभारत के "अशावतरण पर्व" से विदित होता है कि उस समय सभी देव और दानव मनुष्य और राक्षस रूप मे अवतरित हुए। विष्णु या नारायण श्रीकृष्ण के रूप मे और इन्द्र अर्जुन के रूप मे अवतरित हुए। यहाँ पर श्रीकृष्ण अर्जुन के सखा है। ऋग्वेद मे भी विष्णु को इन्द्र का सखा या मित्र कहा गया है।[4]

विष्णु और इन्द्र किसी समय समश्रेणी के देवता थे किन्तु महाभारत काल मे विष्णु (कृष्ण) प्रमुख स्थान ग्रहण कर चुके थे। शतपथब्राह्मण मे भी कुरुक्षेत्र मे तपस्या के कारण विष्णु को श्रेष्ठ कहा गया है।[5] केनोप-

---

१ वाल्मीकिरामायण ३/१२/३३
२ शतपथब्राह्मण १/९/३/९
३ वाल्मीकिरामायण १/१७/१-२३, ६/३०/२०-३३
४ ऋग्वेद १/२२/१९
५ शतपथब्राह्मण १४/१/१-५

निषद् के तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड की यक्षकथा मे देवताओ मे श्रेष्ठ इन्द्र एकेश्वरवादी ब्रह्म की तुलना मे गौण विदित होते हैं किन्तु महाभारत काल तक आते-आते देवाधिपति इन्द्र विष्णु की अपेक्षा भी गौण हो जाते हैं। महाभारत के श्रीकृष्ण विष्णु या नारायण के अवतार कहे गये हैं और जहाँ कही भी उनके अवतारत्व में सन्देह किया गया, वहाँ उन्होने अपने विराट् रूप का प्रदर्शन किया है।

महाभारत मे विष्णु को श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेकर रणभूमि मे दानवो और दैत्यो का सहार करते हुए प्रस्तुत किया गया है।[1] इस प्रकार महाभारत मे उनके अवतार का प्रयोजन दैत्यो का सहार है। द्रौपदी के कथनानुसार विष्णु (श्रीकृष्ण) इन्द्र को सर्वेश्वर पद प्रदान कर मनुष्य रूप मे प्रकट हुए हैं, साथ ही इसी प्रसग मे इनके प्राचीनतम अवतार आदित्य रूप की चर्चा हुई है[2] जो अदिति के ऐश्वरमय कुण्डल के लिए नरकासुर का वध करते हैं।[3] आदित्य अवतार से विष्णु की प्राचीन अवतार परम्परा का पता चलता है। इस प्रकार विष्णु के अवतार का मुख्य प्रयोजन इन्द्र और देवताओ की सहायता एव उनके उत्थान के लिए असुरो का विनाश ही रहा है, क्योकि महाभारत मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आपने सहस्रो बार अवतार धारण कर अधर्म मे रुचि रखने वाले असुरो का वध किया है।[4] उसके अनुसार परमात्मा जिस-जिस शरीर को धारण करना चाहता है उस-उस शरीर मे अपनी आत्मा निवे-

---

१ कृत्वा तत्कर्म लोकानामृषभ' सर्वलोकजित्।
अवधीस्त्व रणे सर्वान्समेतान्दैत्यदानवान्॥
तत सर्वेश्वरत्व च सप्रदाय शचीपते।
मानुषेषु महावाहोप्रादुर्भूतोषि केशव॥

—महाभारत, वनपर्व १२/१८-१९

२ वही १२/२०

३ निहत्य नरक भौममाहृत्यमणिकुण्डले।
प्रथमोत्पादित कृष्णमेध्यमश्वमवासृज॥

—वही १२/१८

४ पादुर्भवसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो।
अधर्मरुचय कृष्ण निहत शतशो सुरा॥

—वही १२/२८

नित कर[1] पापियों को दंड देने, सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने तथा आक्रान्त पृथ्वी का भार हरण करने के लिए नाना प्रकार के अवतार ग्रहण करता है।[2] महाभारत की मान्यता है कि धर्म की रक्षा एवं स्थापना के लिए ईश्वर विविध योनियों में अवतार ग्रहण करते हैं।[3] महाभारत में श्रीकृष्ण ने स्वयं को विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, स्रष्टा एवं संहर्ता कहा है।[4] वे ही युग-युग में विभिन्न योनियों में प्रकट होकर धर्म-सेतु का निर्माण करते हैं[5] एवं देव, गन्धर्व, नाग, यक्ष, राक्षस और मनुष्य योनि में जन्म लेकर उसी के अनुरूप व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार महाभारत में विष्णु के अवतार का मुख्य प्रयोजन समय-समय पर आसुरी शक्तियों का विनाश, साधुजनों की रक्षा एवं धर्म की संस्थापना है।

(ग) गीता

गीता के चतुर्थ अध्याय में अवतारवाद के तत्त्व मिलते हैं। गीता में पुनर्जन्म और साधारण जन्म से भिन्न ईश्वर की उत्पत्ति के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया गया है। कृष्ण स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि "मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं किन्तु मैं उनको जानता हूँ और तू उन्हें नहीं जानता। मैं अज, अव्ययात्मा और भूतों का ईश्वर होते हुए भी अपनी

---

१. यां यामिच्छेत्तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौक्वचित् ।
तां तां कुर्याद्विकुर्वाणः स्वयमात्मानमात्मना ॥
—महाभारत, शान्तिपर्व ३४७/७९

२. तत्र स्थाप्यमिदं कर्तुं भारावतरणं मया ।
अघनाना वसुद्भूतैर्वसुधाया यथाक्रमम् ॥
निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च ।
इयं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी ॥
—वही, २४९/३३-३४

३. बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम ।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥
—महाभारत आश्वमेधिकपर्व ५४/१३

४. तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव ।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥ —वही ५४/१४

५. धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे ।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ॥ —वही ५४/१६

प्रकृति में स्थित रहकर अपनी माया से उत्पन्न होता हूँ" ।[१] यहाँ पर ईश्वर और मनुष्य के जन्म में पर्याप्त अन्तर दिखाई पडता है । मनुष्य की अपेक्षा ईश्वर अपने ईश्वर रूप में रहकर माया से उत्पन्न होता है, वह अपने अनेक जन्मो के बारे में जानता है जबकि मनुष्य नही । गीता में भी ईश्वर के अवतार का प्रयोजन या मुख्य उद्देश्य धर्म की स्थापना, साधुओ की रक्षा और दुष्टो का विनाश कहा गया है[२] और उसके जन्म और कर्म दोनो को दिव्य या मनुष्येत्तर कहा गया है ।

भगवान् ही संसार की सब वस्तुओ का एकमात्र अवलम्बन है । उनमें सब कुछ पिरोया हुआ है—"मयि सर्वमिद प्रोतम् ।" उन्ही मे सब कुछ प्रवर्तित होता है—"मत्त सर्वम् प्रवर्तते ।"

गीता के विभिन्न अध्यायो मे भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपनी विभूतियो को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—मैं "पृथ्वी मे गन्ध हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा मे प्रकाश हूँ, सब भूतो का जीवन हूँ और तपस्वियो का तप हूँ ।[३] मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषधियाँ हूँ, मन्त्र, घृत, अग्नि और हव्य पदार्थ मै ही हूँ । ससार की गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवासस्थान, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, आधार और अविनाशी बीज मैं ही हूँ ।[४] मैं सब भूतो के भीतर स्थित हूँ मैं उनका आदि, अन्त और साध्य हूँ । आदित्यो मे मैं विष्णु, ज्योतियो मे सूर्य, मरुद्गणो मे मरोचि और नक्षत्रो

---

१ वहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यह वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परतप ॥ —गीता ४/५

२ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥ —वही ४/७-८

३ पुण्यो गन्ध' पृथिव्या च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवन सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ —गीता ७/९

४ अह क्रतुरह यज्ञ स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरह हुतम् ॥ —वही९/१६
गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवास शरण सुहृत् ।
प्रभवः प्रलय स्थान निधान बीजमव्ययम् ॥ —वही ९/१८

मे चन्द्रमा हूँ। मै अक्षरो मे "अकार" तथा समासो मे द्वन्द्व समास हूँ। मै अक्षय काल हूँ, मै सबको धारण करने वाला विश्वतोमुख हूँ। सबका हरण करने वाली मृत्यु भी मै ही हूँ। मै भविष्य के पदार्थों की उत्पत्ति-स्थल हूँ, तथा स्त्रियो की कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और सहनशीलता हूँ"।[१] ग्यारहवें अध्याय मे विश्वरूप दिखलाकर भगवान् ने अर्जुन को अपनी विभूतियो और ससार का अपने ऊपर अवलम्बित होने का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। इस प्रकार गीता के विराट् स्वरूप दर्शन मे साख्यो के प्रकृतिवाद, उपनिषदो के ब्रह्मवाद और भागवतो के ईश्वरवाद तीनो का समन्वय है।

(घ) विष्णुपुराण

विष्णुपुराण मे कहा गया है कि विष्णु के अवतारी रूप की इन्द्र एव देवगण उपासना करते है,[२] उनके परम-तत्त्व रूप को कोई नही जानता है।[३] इस प्रकार विष्णु के पर रूप से व्यक्त सभी अवतार पूज्य माने गये हैं। परब्रह्म विष्णु के स्वरूपगत भेद दृष्टि से पुरुष एव प्रकृति[४] ये दो अभिव्यक्त रूप माने गये है। इस प्रकार सभी रूपो को धारणकर्ता ब्रह्म व्यक्त और अव्यक्त एव समष्टि और व्यष्टि रूप है। यह सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान एव समस्त ऐश्वर्य से युक्त है। परब्रह्म अकारण शरीर ग्रहण नही करते, अपितु धर्म की रक्षा के लिए शरीर ग्रहण करते है।[५] विष्णु के पुरुष एव प्रकृति रूपो को उनकी क्रीडा या लीला कहते हैं।[६]

उपरोक्त तथ्यो से ज्ञात होता है कि एक ओर तो परब्रह्म विष्णु धर्मार्थ प्रयोजन के निमित्त सत्वाश से प्रकट होते हैं।[७] यह इनका परम्परा रूप विदित होता है। दूसरा इनका एक पुरुष-प्रकृति के रूप मे अभिव्यक्त रूप है जिसके द्वारा निष्प्रयोजन लीला के निमित्त क्रीडा करते है। भागवत् मे विष्णु के लीलावतार का ही सर्वाधिक विवरण मिलता है।

---

१ गीता १०/२०-२१, ३४, ३८
२ विष्णुपुराण ५/७/६७
३ वही, १/४/१७
४ वही, १/२/२३
५ वही, ५/१/५०
६ वही, १/२/१८
७. वही, ५/१/२२

अवतारवाद की अवधारणा के अन्तर्गत सर्वप्रथम विष्णुपुराण मे विष्णु-लक्ष्मी के युगल अवतारो की चर्चा हुई है[1], देव, तिर्यक् और मनुष्य मे पुरुष रूप भगवान् हरि और स्त्री रूप लक्ष्मी हैं।[2] जब-जब विष्णु ने अवतार धारण किया है लक्ष्मी भी उनके साथ अवतरित हुई है।[3] हरि-पद्मा, परशुराम-पृथ्वी, राम-सीता और कृष्ण-रुक्मिणी आदि रूपो मे भगवान् देव और लक्ष्मी देवी रूप मे अवतरित हुए हैं।[4]

विष्णुपुराण मे अनेक अशावतारो के अतिरिक्त हरिवश की परम्परा में कृष्ण एव उनके सहयोगी गोप-गोपियो, देवता-देवियो के अशावतरण का उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

इस प्रकार यहाँ अवतार का मुख्य प्रयोजन भूभार हरण है।

७. अवतार की अवधारणा का विकास

यद्यपि वर्तमान मे हम अवतार से तात्पर्य विष्णु के अवतार से ही लेते हैं किन्तु प्राचीन वैदिक साहित्य मे सर्वप्रथम हमे इन्द्र तथा प्रजापति के अवतरित होने की सूचना प्राप्त होती है। कालान्तर मे जब विष्णु महत्वपूर्ण देवता बन गये तो अवतरण की यह कल्पना उनके साथ जोड दी गई। वैदिक साहित्य मे विष्णु इन्द्र के समकक्ष ही एक देवता रहे हैं, उन्हे इन्द्र का सखा कहा गया है और विभिन्न ऋचाओ में उनकी स्तुति भी की गई है, किन्तु धीरे-धीरे वैदिक इन्द्र का स्थान देवमडल में क्षीण होता गया और उनके स्थान पर विष्णु प्रमुख बनते गये और परिणाम-स्वरूप विष्णु के अवतरण को ही मुख्य माना गया। यद्यपि आगे चलकर विष्णु के साथ साथ अन्य देवताओ के अवतरण की कल्पना भी आई, किन्तु उन्हें विष्णु के अधीन ही माना गया। विष्णु के अवतार का प्रारम्भिक परिचय हमे महाभारत और पुराण साहित्य मे प्राप्त होता है। सर्वप्रथम महाभारत मे पहले विष्णु के छ अवतारो की चर्चा हुई है—वराह,

---

१ विष्णुपुराण १/८/१७–३३
२ वही, १/८/३४–३५
३ वही, १/९/१४२
४ वही, १/९/१४३–१४४
५, वही, ५/७/३८, ४०

नरसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण[१]। पुन महाभारत के अगले अध्याय में छ अवतारो के साथ चार अवतार[२]—हस, कूम, मत्स्य और कल्कि को मिलाकर दस की सख्या पूरी की गई है। यद्यपि अवतरण का सम्बन्ध विष्णु से जोडा गया है, किन्तु आश्चर्य यह है कि पौराणिक साहित्य विष्णुपुराण में विष्णु के दशावतारो का कोई उल्लेख नही मिलता है जबकि अन्य पुराणो में विष्णु के अवतारो का उल्लेख है, किन्तु अग्नि, वराह आदि परवर्ती पुराणो में मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि यह क्रम मिलता है। विभिन्न पुराणो में विष्णु के दस अवतारो की सूचियाँ कुछ अन्तर के साथ मिलती है, जिन्हे अग्रलिखित सारणी में दर्शाया गया है।

तालिका सारिणी परिशिष्ट में देखें।

अब हम दस-अवतारो की विशद व्याख्या करेंगे—

(१) मत्स्य अवतार

मत्स्य अवतार को प्राय विष्णु का प्रथम अवतार माना गया है, परन्तु शतपथब्राह्मण में इनको प्रजापति का अवतार कहा गया है।[३] इनके अवतार के सम्बन्ध में एक कथानक इस प्रकार है कि मनु महाराज एक दिन प्रात काल आचमन कर रहे थे तो उनके हाथ मे एक मछली आ गई और उसने कहा, "महाराज, मेरी रक्षा करें, महाजल प्लावन के समय मैं आपकी रक्षा करूँगी।" मनु ने उसे एक पात्र में रख दिया, ज्यो-ज्यो वह बढती गई उसे क्रमश बडे पात्रो में रखते गये, अन्त में महा-समुद्र में डाल दिया। प्रलय होने के पूर्व मनु ने सभी सृष्टि बीजो को एकत्र किया और अपनी नाव को उसी मत्स्य के सीग में बाँध दिया जिससे प्रलयकाल में वे सुरक्षित रह सकें और प्रलय के अन्त में पुन सृष्टि का विकास प्रारम्भ किया।

महाभारत के वनपर्व में पुन मत्स्यावतार की एक अन्य कथा वर्णित है।[४] वहाँ मत्स्य स्वय को प्रजापति बताते हुए मनु को मनुष्य, असुर, देवता तथा सम्पूर्ण जगत की सृष्टि का आदेश देता है। इस प्रकार हम

---

१ महाभारत-शान्तिपर्व (३३९/७७–९८)

२ वही, (३४०/३–४)

३ शतपथब्राह्मण १/८/१

४ महाभारत-वनपर्व, पृ० ३०४–३०५

देखते हैं कि महाभारत के काल तक मत्स्यावतार का सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा प्रजापति से अधिक प्रतीत होता है।

विष्णुपुराण[1] में मत्स्य, कूर्म एव वराह का शरीर धारण करना प्रजापति के द्वारा बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि पुरातन साहित्य में मत्स्यावतार का सम्बन्ध प्रजापति से रहा है। आगे चलकर भागवत में चाक्षुप मन्वन्तर के अन्त में जल प्लावन के समय श्रीहरि द्वारा अवतार के रूप में मत्स्य का रूप ग्रहण कर वैवस्वत मनु के रक्षा की कथा मिलती है।[2] पुन भागवत की दूसरी सूची में मत्स्यावतार से लेकर चाक्षुषमन्वन्तर के अन्त में सत्यव्रत मनु की रक्षा के साथ-साथ वेदो की रक्षा का भी प्रसग मिलता है। अन्तर केवल इतना है, प्रथम सूची के वैवस्वत मनु के स्थान पर द्वितीय सूची में सत्यव्रत का नाम है।[3] भागवत की तीसरी सूची में भगवान् द्वारा प्रलय के समय मत्स्यावतार लेकर भावी मनु सत्यव्रत, पृथ्वी, औषधि एव धान्यादि की रक्षा करने का उल्लेख मिलता है।[4] भागवत के आठवें स्कन्ध के २४वें अध्याय मे मत्स्यावतार का विस्तार से उल्लेख मिलता है उसमे भी सत्यव्रत मनु एव प्रलय कथा का वर्णन है।

मत्स्यपुराण मे भी भगवान् हरि द्वारा मत्स्यावतार लेने का उल्लेख मिलता है, वहाँ मत्स्य रूप भगवान् मनु से प्रलय के अनन्तर सृष्टि रचना एव वेदो के प्रवर्तन की बात कहते हैं।[5]

अग्निपुराण मे भी मनु की रक्षा एवं हयग्रीव-वध की कथा मिलती है।[6] स्कन्धपुराण में विष्णु द्वारा मत्स्यरूप लेकर वेदो के उद्धार के लिए शखासुर का वध करने का वर्णन मिलता है[7] किन्तु पद्मपुराण में विष्णु के मत्स्यावतार का प्रयोजन हयग्रीव के स्थान पर मधुकैटभ का वध करना बताया गया है।

---

१ विष्णुपुराण १/४/७-८
२ भागवत १/३/१५
३ वही, २/७/१२
४ वही, ११/४/१८
५ मत्स्यपुराण २/३-१६
६ अग्निपुराण-अध्याय २
७ स्कन्धपुराण-उत्तरखण्ड ९२/९

इस प्रकार हम देखते हैं कि मत्स्यावतार का प्रयोजन मुख्यत' मनु की रक्षा से सम्बन्धित है।

(२) कूर्म अवतार

कूर्मावतार मे विष्णु का प्रयोजन अन्य अवतारो की तरह राक्षस वध एव पृथ्वी का उद्धार न होकर प्रजा की सृष्टि करना रहा है। शतपथ-ब्राह्मण[1] एव जैमिनिब्राह्मण[2] मे प्रजापति के द्वारा कूर्म रूप धारण कर प्रजा की सृष्टि करने का उल्लेख मिलता है।

जे० गोद ने अपनी पुस्तक 'आस्पैक्ट्स आफ वैष्णविज्म' मे कूर्म को जल देवता वरुण से सम्बन्धित किया है। उन्होने विष्णु एव वरुण दोनो को पृथ्वी का पति माना है। इस कारण से कूर्म का विष्णु से सम्बन्ध होने की सम्भावना प्रतीत होती है।[3]

इस प्रकार वैदिक ग्रन्थो मे मत्स्य, वराह एव कूर्म का सम्बन्ध प्रजापति से रहा है। विष्णुपुराण मे भी मत्स्य, वराह एव कूर्म को प्रजा-पति का रूप कहा गया है।[4]

"ऐतरेयब्राह्मण"[5] मे देवो एवं असुरो के द्वारा समुद्र-मन्थन का प्रकरण मिलता है, परन्तु महाभारत[6] मे देवताओ के द्वारा समुद्र मन्थन के लिए कूर्म से अपनी पीठ पर मन्दराचल को धारण करने के आग्रह का उल्लेख है। लेकिन यहाँ कूर्म का सम्बन्ध प्रजापति या विष्णु से नही बताया गया है।

वाल्मीकि रामायण मे भगवान् के कूर्म रूप धारण एव समुद्र-मन्थन की कथा का प्रसंग मिलता है।[7] पुन विष्णुपुराण[8] मे भगवान् के कर्मरूप धारण एवं क्षीरसागर मे मन्दराचल को धारण करने की कथा मिलती

---

१ शतपथब्राह्मण ७/९/१/५
२ जैमिनिब्राह्मण ३/२७२
३ आस्पैक्ट्स आफ वैष्णविज्म, पृ० १२७ दृष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४१९
४ विष्णुपुराण १/४।७–८
५ ऐतरेयब्राह्मण ५/२/१०
६ महाभारत—आदिपर्व १/१८/११–१२
७ वाल्मीकि रामायण १ ४५.२९
८ विष्णुपुराण १ ९ ८८

है। भागवत्[1], अग्निपुराण[2], पद्मपुराण[3] मे कूर्म रूप मे विष्णु के अवतार का प्रयोजन समुद्र मन्थन के समय मन्दराचल को धारण करने का आधार रहा है।

इस प्रकार कूर्मावतार का मुख्य प्रयोजन देव और असुरो के मध्य समुद्र-मन्थन के समय मन्दराचल पर्वत को आधार प्रदान करना था ताकि वह पर्वत मथानी के रूप मे कार्य कर सके।

(३) वराह . अवतार

अवतार की अवधारणा का विकास जन्तु, पशु, पशु-मानव एव मानव इन चार श्रेणियो मे पाया जाता है। इसमे वराह को पशु अवतार कहा गया है। ऋग्वेद मे विभिन्न स्थानो पर वराह का उल्लेख मिलता है। उसमे इन्द्र द्वारा वराह के वध का वर्णन है।[4] इन्द्र "एमुष" नामक वराह को मारते हैं।[5] आगे चलकर ऋग्वेद मे इन्द्र एवं वराह का सम्बन्ध वताया गया है।[6] सम्भवत ऋग्वेद का वराह और कालान्तर मे विकसित वराहावतार दो भिन्न-भिन्न कथाएँ हैं, क्योकि अवतार का वध किसी भी दशा मे सम्भव नही। यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक मैक्डोनल ने अपनी पुस्तक एपिक माइथोलोजी मे "ऋग्वेद" के एमुष नाम के वराह से वराहावतार के वीज का अनुमान किया है।[7] परन्तु कीथ ने वराह-कथा को वृत्रवध की कथा का रूपान्तर कहा है।[8]

अथर्ववेद मे कहा गया है कि वह पृथ्वी, जो वडे-वडे पदार्थों, शत्रुओ एव पाप-पुण्य के करने वालो के शव को सहन करती है, वराह को प्राप्त

---

१ भागवत १ ३.१६, २ ७ १३, ११ ४ १८

२ अग्निपुराण अध्याय ३ द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४२०

३ पद्मपुराण, उत्तर खण्ड अध्याय २६० द्रष्टव्य—वही, पृ० ४२०

४ ऋग्वेद १ ६१ ७

५ वही, ८ ७७ १०

६ वही, १० ८६ ४

७ एपिक माइथोलाजी, पृ० ४१

८ रीलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ ऋग्वेद एण्ड उपनिषद्, भूमिका, पृ० ३

हुई ।[१] विकसित वराहावतार की कथा का वीज इसमे ढूँढा जा सकता है। वराह का अवतार लेने का मुख्य उद्देश्य ही पृथ्वी को मुक्त करना था ।

तैत्तिरीय सहिता मे वराह का सम्बन्ध प्रजापति से वताया गया है[२] उसमे कहा गया कि विश्व मे सर्वत्र जल ही जल था, एक कमल पत्र को जल मे देख प्रजापति ब्रह्मा ने विचार किया कि अवश्य ही इसका कोई आधार होगा, उसी समय ब्रह्मा की नासिका से वराहरूप जीव निकला और जल मे प्रविष्ट हो गया और उस वराह ने जल के नीचे दवी हुई पृथ्वी को तोडकर, एक खड को ऊपर लाकर फैलाया इसी से इसका नाम पृथ्वी पड गया ।[३] एक कृष्णवराह ने अपनी शत-बाहुओ द्वारा पृथ्वी को ऊपर उठाया, ऐसा आख्यान तैत्तिरीय आरण्यक मे मिलता है ।[४] "शतपथ ब्राह्मण" मे "एमुष" नामक वराह द्वारा प्रजापति की पृथ्वी को ऊपर उठाने का वर्णन किया गया है, इससे वराह का प्रजापति से सम्वन्ध द्योतित होता है ।[५] महाभारत के वनपर्व मे विष्णु द्वारा वराह रूप धारण करने की कथा मिलती है। पृथ्वी जव प्राणियो के भार से दवने के कारण सैकडो योजन नीचे चली गई तो भगवान् नारायण से वह अपने उद्धार के लिए विनती करती है तव भगवान् विष्णु ने एक दाँत वाले वराह का रूप धारण कर पृथ्वी को सौ योजन ऊपर उठा दिया । महाभारत मे वराहा-वतार धारण करने का प्रयोजन पृथ्वी को जल से ऊपर लाने का है। परन्तु नारायणीयोपाख्यान मे वराहावतार का उद्देश्य पृथ्वी को ऊपर उठाने तथा हिरण्याक्ष वध की भी चर्चा मिलती है ।[६]

---

१ मल्व विभ्रती गुरुभृद भद्रपापस्य निधन तितिक्षु ।
वराहेण पृथिवी सविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ।।
—अथर्ववेद १२ १ ४८

२ तैत्तिरीय सहिता ७ १ ५ १

३ वही, १ १ ३ ५

४ उद्धृताऽसि बराहेण कृष्णेन शत बाहुना ।
भूमिर्धेनुर्धरणी लोक धारिणी, इति ।।—वही १० १ ८

५ शतपथ ब्राह्मण १४ १ २ ११ . द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४१३

६ महाभारत, वनपर्व २३९ ७६–७८

वाल्मीकि रामायण मे वराह का सम्बन्ध विष्णु या राम से बताया गया है।[१] विष्णुपुराणकार ने वराह को प्रजापति का अवतार कहा है।[२] भागवत में वराहावतार का प्रयोजन जल मे डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर लाना बताया गया है,[३] परन्तु अन्यत्र उसमे लीलावतारो के प्रसंग मे वराहावतार का हिरण्याक्ष वध से सम्बन्ध बताया गया है।[४]

इस प्रकार हम देखते है कि वराहावतार का मुख्य प्रयोजन जल मे डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर लाना तथा उसका उद्धार करना है।

(४) नृसिह-अवतार

नृसिह नाम से ही पशु एव मानव के सम्मिलित रूप का आभास मिलता है। भगवान् विष्णु ने अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा एव उसके दुष्ट पिता हिरण्यकश्प का वध करने के लिए पशु-मानव के संयुक्त नृसिह रूप मे अवतार धारण किया था। वैसे भारोपीय देशो मे पशु एव मानव के सयुक्त रूप मे देवताओ का उल्लेख अप्राप्य नही है।[५] प्राचीन साहित्य मे देवताओ को बल एव शौर्य की तुलना के लिए सिह, व्याघ्र आदि नाम विशेषण के रूप में प्रयोग किये गये हैं।[६]

कीथ ने अपनी पुस्तक मे यजुर्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण मे प्रयुक्त "पुरुष व्याघ्राय" को नृसिहावतार का बीज माना है।[७] महाभारत मे विष्णु के लिए "पुरुष व्याघ्र" का विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[८] ऋग्वेद एव यजुर्वेद

---

१ वाल्मीकि रामायण ६ १२० २२ द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतार-वाद, पृ० ४१५

२ विष्णुपुराण १ ४ ७

३ भागवत १.३ ७, ११ ४ १८

४ वही २ ७ १

५ प्राइमर आफ हिन्दूइज्म में फर्कुहर ने ईजिप्ट, असीरिया आदि देशो में मैन-लोऐन, मैन-वर्ड और मैन फिश आदि रूपो में उपलब्ध देवताओं का उल्लेख किया है। द्रष्टव्य वही, पृ० ४२२

६ शुक्ल यजुर्वेद १९/९१–९२ में इन्द्र की सिंह आदि से तुलना की गई है।

७ रेलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ दी अथर्ववेद एण्ड उपनिषद्, पृ० १९३ तथा यजुर्वेद २९/८ शतपथ ब्राह्मण १३/२/४/२ द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य अवतारवाद पृ० ४२३

८ महाभारत वनपर्व १८८/१८

के एक कथानक मे नमुची इन्द्र से प्रार्थना करता है कि वे उसे ऐसा वरदान दें जिससे वह न वज्र से मरे, न सूखे स्थान, न गीले स्थान में, न रात, न दिन मे मरे।[१] सम्भवत ऋग्वेद का उपर्युक्त कथानक ही नृसिहावतार की पृष्ठभूमि बना। भागवत मे इन्द्र द्वारा नमुची के वध की कथा है। जिसमे इन्द्र सूखी व गीली वस्तु से न मारकर फेन द्वारा मारते है जो न सूखा होता है, न गीला होता है। हिरण्यकश्यप के वध की कथा इससे प्रभावित होती है।

महाभारत मे भी नृसिह द्वारा हिरण्यकश्यप के वध की कथा मिलती है।[२] विष्णुपुराण मे भी प्रह्लाद के निमित्त विष्णु द्वारा हिरण्यकश्यप वध की कथा है।[३] भागवत मे विभिन्न स्थलो पर भी नृसिह-हिरण्यकश्यप कथा सूक्ष्म अन्तर से परिलक्षित है।[४]

इस प्रकार हम देखते है कि विष्णु के नृसिहावतार को कथा का मुख्य प्रयोजन अपने भक्त का उद्धार एव दुष्ट का वध रहा है।

(५) वामन अवतार

वामन एव विष्णु का सम्बन्ध उनके नाम की अपेक्षा उनके "तीन पगो" के पराक्रम से अधिक सम्बद्ध प्रतीत होता है। वामन का "त्रिविक्रम" और विष्णु का "उरुक्रम" उनके तीन पगो की ओर सकेत करते हैं। ऋग्वेद मे विष्णु द्वारा तीन पगो से सम्पूर्ण पृथ्वी को नापने का उल्लेख है। उनके तोन पगो के बीच सम्पूर्ण विश्व निवास करता है वे तीनो लोको को धारण करने वाले हैं।[५]

यजुर्वेद एव अथर्ववेद मे विष्णु के तीन पगो के सम्बन्ध मे ऋचायें मिलती हैं।[६] इन ऋचाओ मे प्रयुक्त तीन पदाक्रम का भाव निरुक्त-कार ने पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग से, दुर्गाचार्य ने से अग्नि, वायु और सूर्य और अरुणाभ ने सूर्य के उदय-मध्य और अस्त से लिया है। किन्तु भाष्य-

---

१ ऋग्वेद ८/१४/१३ यजुर्वेद १९/७१, भागवत् ८/११/३२–४०
२ महाभारत, शान्तिपर्व ३३९/७८
३ विष्णुपुराण १/१६–२०
४ भागवत १/३१८, २/७/१, ११/४/१९
५ ऋग्वेद १/२२/१६–१९, १/१५४/१, ३, ४
६ यजुर्वेद ३/१, ३४/४३, अथर्ववेद ७/२६/४

कार सायण ने इन्हे विष्णु से वामनावतार के तीन पग माने हैं ।[1] तैत्ति-रीय सहिता मे इन्द्र द्वारा लोमडी का रूप धारण कर तीन पगो में सारी पृथ्वी को नापकर देवताओ को दे देने का उल्लेख है।[2] इसी मे एक अन्य स्थल पर तीन पग से विष्णु द्वारा वामन रूप धारण कर तीनो लोको को जीत लेने का उल्लेख है ।[3] शतपथ ब्राह्मण मे देवासुर सग्राम मे असुर विष्णु के शरीर के बराबर भाग देने को तैयार हुए तो विष्णु ने सारी पृथ्वी नाप ली, ऐसा कथानक प्राप्त होता है ।[4] विष्णुपुराण एव भागवत मे वामन द्वारा बलि से तीन पग भूमि माँगने का कथानक मिलता है ।[5]

इस प्रकार पौराणिक वामन की अपेक्षा वैदिक वामन का सम्बन्ध विष्णु या सूर्य से अधिक निकट प्रतीत होता है ।[6] महाभारत के "नारा-यणीयोपाख्यान" मे विष्णु का सम्बन्ध अदिति और आदित्यो से बताया गया है तो दूसरी ओर देवताओ का कार्य करने के लिए बलि को पाताल भेजने का उल्लेख मिलता है ।[7]

इस प्रकार वामनावतार का मुख्य प्रयोजन देवताओ की सहायता करना रहा है ।

६ परशुराम अवतार

दशावतारो के विकास क्रम मे पाँच पौराणिक अवतारो के अतिरिक्त परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि को ऐतिहासिक महापुरुष कहा गया है। इनका विकास क्रम पौराणिक अवतारो की अपेक्षा विशिष्ट स्थान रखता है। ऐतिहासिक महापुरुषो के विकास मे उनके व्यक्तिगत चरित्र एव गुण का विशेष योग रहता है। अवतारवाद के विकास क्रम में साधु एव धर्म की रक्षा तथा दुष्टो का नाश करना आवश्यक माना गया है। ऋग्वेद मे जामदग्नेय राम का उल्लेख मिलता है। पुन इसमे जो इक्ष्वाकु

---

१. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४२७
२ तैत्तिरीय संहिता ६/२/४, १/८/१
३ वही, ११/१/३/१, द्रष्टव्य—म० सा० अवतारवाद, पृ० ४२८
४. शतपथ ब्राह्मण १/२/५/५ ,
५ भा० ११/४/२०, २/७/१७, १/३/१९
६ विष्णुपुराण ३/१/४२–४३
७. महाभारत शान्तिपर्व ३३९/८१–८३

या पृथुवशी राम का उल्लेख मिलता है सम्भवत वह जामदग्नेय राम ही रहे होगे।[१] श्री के० एम० मुशी ने "अथर्ववेद" के एक उद्धरण के आधार पर परशुराम के अवतार का एक प्रयोजन भृगु और हैहयवशी लोगो के साथ सघर्ष तथा गोरक्षा बताया है।[२]

अवतारत्व का विकास

परशुराम को भी राम-कृष्ण की तरह विष्णु का अशावतार कहा गया है। कालान्तर मे राम-कृष्ण तो पूर्णावतार कहलाये, परन्तु वही तेज एव वीर्य जब राम के पराक्रम के द्वारा क्षीण हो जाता है तो वे अवतारत्व से च्युत हो जाते हैं।[३] श्री शुकथकर एव के० एम० मुशी का कहना है कि गीता मे जिस राम को विभूतियो मे ग्रहण किया गया है वे "भार्गव राम" हैं। इससे उनके विष्णु के अवतार होने मे सहायता मिलती है।[४] वाल्मीकि रामायण मे वे राम की परीक्षा लेते देखे गये हैं।[५] महाभारत के एक कथानक के अनुसार इन्द्र कार्तवीर्य के पराक्रम से घबराकर विष्णु से उसके वध की प्रार्थना करते हैं। पुन हैहयराज के इन्द्र पर आक्रमण के कारण इन्द्र विष्णु से मन्त्रणा करते हैं तथा अवतार के निमित्त बदरिकाश्रम की यात्रा करते हैं।[६] महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' मे विष्णु से स्वय कहल्वाया गया है कि मैं त्रेता मे भृगकुल में परशुराम रूप मे उत्पन्न होकर क्षत्रियो का संहार करूंगा।[७] विष्णुपुराण मे परशुराम को कार्तवीर्यार्जुन का वध करने वाला नारायण का अशावतार कहा गया है।[८] आगे चलकर भागवत मे विष्णु के

---

१ ऋग्वेद १०/११०, १०/९३/१४

२ न्यु इण्डियन एन्टीक्वेरी जी० ६, पृ० २२० : और दी अर्ली आर्यन्स इन गुजरात, पृ० ५९ द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४३३

३ वाल्मीकि रामायण १/७६/११–१२

४ मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४३३

५ वाल्मीकि रामायण १/७६/१२

६ महाभारत, वनपर्व ११५/१५–१८

७ वही, शान्तिपर्व ३३९/१७

८ विष्णुपुराण ४/७/३६

अंशावतार परशुराम को हैहयवश एव दुष्ट क्षत्रियो का नाश करने वाला कहा गया है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परशुरामावतार का मुख्य प्रयोजन भूतल पर दुष्ट क्षत्रियो का नाश करना कहा गया है।

७ राम अवतार

वैदिक साहित्य ऋग्वेद[2] मे यजमान राम, ऐतेरेय ब्राह्मण[3] मे भार्गवेय राम, शतपथ ब्राह्मण[4] मे तपस्वनी राम, जेमिनी उ० ब्राह्मण[5] मे क्रनुजातेय राम, अथर्वसंहिता[6] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[7] मे राम-कृष्ण का एक साथ उल्लेख हुआ है। हम देखते हैं कि वैदिक साहित्य मे राम का बहुश उल्लेख हुआ परन्तु कालान्तर मे विकसित रामावतार की कथा का वैदिक राम से कोई सम्बन्ध है या नही, यह प्रश्न विचारणीय है। श्री जौकोबी ने 'वाल्मीकि रामायण' की समीक्षा कर राम का इन्द्र से सम्बन्ध स्थापित किया है।[8] राम की कथा वाल्मीकि रामायण और महाभारत दोनो मे पायी जाती है। इन दोनो में कौन सा प्राचीनतम आख्यान है उसके बारे मे विद्वानो मे मतभेद है। 'महाभारत' के नारायणीयोपाख्यान मे ६ एवं १० अवतारो की सूची मे राम का नाम पाया जाता है।[9] वाल्मीकि रामायण मे राम को विष्णु के सदृश वीर्यवान कहा गया है।[10] वाल्मीकि रामायण के प्रथम खण्ड मे राम को विष्णु का अंशा-

---

१ भागवत ९/१५/१५, १/३/२०, २/७/२२, ११/४/२१
२ ऋग्वेद १०/९३/१४
३ ऐतरेय ब्राह्मण ७/२७/३४
४ शतपथ ब्राह्मण ४/६१/७
५ जैमिनी उ० ब्राह्मण
६ अथर्ववेद सहिता १/१३/१
७ तैत्तिरीय ब्राह्मण २/४/४/१
८ हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० १३
९ महाभारत, शान्तिपर्व, ३३९/७०–९०, १०३–१०४
१० "विष्णुना सदृशोवीर्ये।" —वाल्मीकि रामायण १/१/१८

वतार कहा गया है।[१] पुन छठें अध्याय मे उनके पूर्णावतार का भान होता है।[२] विष्णुपुराण मे राम को अशावतार कहा गया है।[३]

पालि साहित्य मे बुद्ध को राम का अवतार माना गया है तथा जैनो ने भी राम को आठवें बलदेव के रूप मे माना है।

अवतार का हेतु

ऋग्वेद मे विष्णु को जगत् का रक्षक एव समस्त धर्मो का धारक कहा गया है।[४] वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण मे देव शत्रुओ अर्थात् असुरो का वध विष्णु के अवतार का मुख्य प्रयोजन माना गया है।[५] गीता मे भी अवतारवाद का मुख्य प्रयोजन धर्म रक्षा ही प्रतीत होता है अर्थात् जब धर्म का पतन तथा असुरो की वृद्धि होती है तो अवतार की आवश्यकता होती है। "गीता" कहती है कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब साधुओ का दु ख दूर करने एव दुष्टो का विनाश करने तथा धर्म की स्थापना के लिए भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं।[६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम के अवतार का मुख्य प्रयोजन दुष्ट व्यक्तियो या असुरो का वध करना रहा है।

८. कृष्ण अवतार

वैदिक साहित्य से लेकर भागवत तक विभिन्न ग्रन्थो मे श्रीकृष्ण के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। ऋग्वेद मे कृष्ण आगिरस ऋषि का

---

१ "तत पद्मपलासाक्ष कृत्वाऽऽत्मान चतुर्विधम्।
पितर रोचयामास तदा दशरथ नृपम् ॥"
—वाल्मीकि रामायण १/१५/३१

२ वही ६/१२०

३ "तस्यापि भगवानब्जनाभो जगत स्थित्यर्थमात्माशेन।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नरूपेण चतुर्द्धा पुत्रत्वमायासीत् ॥"
—विष्णुपुराण ४/४/८७

४ ऋग्वेद १/२२/१८

५ "वधाय देवशत्रूणा नृणा लोके मन कुरु।
एव स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुगव ॥ —वाल्मीकि रामायण १/१५/७६
मानुषेण मृतिस्तस्य मया कल्याण कल्पिता।
अतस्त्व मानुषो भूत्वा जहि देवरिपु प्रभो ॥—अध्यात्म रामायण १/२/२४

६ गीता ४/७–८

नाम सूक्त के कर्ता के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।[१] कृष्ण आङ्गिरस का नाम "कौषीतकि ब्राह्मण" मे भी प्राप्य है।[२] "छान्दोग्योपनिषद्" मे देवकी के पुत्र एव आगिरस के शिष्य के रूप मे कृष्ण का उल्लेख मिलता है।[३] छान्दोग्योपनिषद् की यह कथा कालान्तर मे विकसित कृष्णावतार की कथा का मूल बीज प्रतीत होती है। क्योंकि अवतारी कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप मे ही विख्यात हुये हैं। "पाणिनिके अष्टाध्यायी" मे भी कृष्ण का नाम आया है।[४] ऋग्वेद मे इन्द्र और कृष्ण नाम के असुर के संघर्ष का उल्लेख मिलता है।[५] डा० राधाकृष्णन् ने कृष्ण को उस दल का दैवीकृत वीर पुरुष माना है।[६]

विष्णुपुराण मे इन्द्र कृष्ण युद्ध और भागवत मे कृष्ण द्वारा इन्द्र की पूजा का विरोध करने का उल्लेख है।[७] इस प्रकार हम देखते है कि ऋग्वेद के कृष्ण को पुराणो के कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की गई है। महाभारत मे कृष्ण का अर्जुन से सम्बन्ध बताया गया है। ऋग्वेद मे कृष्ण और अर्जुन तथा अथर्ववेद मे राम और कृष्ण का उल्लेख पाया जाता है।[८]

इस प्रकार वैदिक साहित्य के अनुशीलन से हमे कृष्ण नाम के व्यक्ति का अस्तित्व नि सदिग्ध स्पष्ट होता है। उपर्युक्त तथ्यो के अध्ययन से तीन प्रकार के कृष्ण का उल्लेख प्राप्त होता है प्रथम आगिरस कृष्ण, द्वितीय आर्येत्तर सस्कृति से सम्बद्ध कृष्णासुर, तृतीय महाभारत क कृष्ण। "छान्दोग्योपनिषद" के कृष्ण का सम्बन्ध गीता के कृष्ण से है क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् के बहुत से उपदेश गीता के श्लोको से साम्य रखते हैं।

---

१ ऋग्वेद ८/८५–८७
२. कौषीतकि ब्राह्मण ३०/९
३. छान्दोग्योपनिषद् ३/१७/६
४. पाणिनि अष्टाध्यायी ५४/१/९९
५ ऋग्वेद १/१३०/८, २/२०/७, ८/२५/१३
६ इण्डियन फिलोसोफी राधाकृष्णन् भाग १, पृ० ८७
७. विष्णुपुराण ५/३०/९५ . भागवत १०/२५
८ "अहश्च कृष्णमहरर्जुन च विवर्तते रजसी वेद्याभि।" ऋग्वेद ६/९/१
"नक्त जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। अथर्ववेद द० १/२३/१

उपरोक्त तीनो कृष्णो के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे पौराणिको ने वैदिक कृष्ण का कृष्णावतार से एकीकरण का प्रयत्न किया है ।

महाभारत के आदिपर्व मे सामूहिक अवतारो के प्रकरण मे श्रीकृष्ण को नारायण का अशावतार कहा गया है ।[१] परमेश्वर के काले और सफेद दो केश कृष्ण और बलराम के रूप मे अवतीर्ण हुए और वे परमेश्वर के अश कहलाते हैं ।[२] भागवत मे पृथ्वी का भार उतारने के लिए भगवान् के अपने श्वेत एव काले बालो से बलराम और कृष्ण के रूप मे अशावतार लेने का प्रकरण मिलता है ।[३] भागवत के दशम स्कन्ध मे भी बलराम और कृष्ण के रूप मे अशावतार का वर्णन मिलता है ।[४] यहाँ पर भी कृष्णावतार का मुख्य प्रयोजन असुर-सहार ही रहा है ।

९ बुद्ध-अवतार

बुद्ध ऐतिहासिक महापुरुष हैं जिनकी ऐतिहासिकता सिद्ध की जा चुकी है । इतिहासकार इनका जन्म ई० पू० छठी शताब्दी मे मानते हैं । जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनो धर्मों का एक दूसरे पर अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है, जिसके कारण वैष्णव अवतारवाद का विकास कुछ लोग छठी शताब्दी के पूर्व के भागवत धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म से मानते हैं ।[५] श्री गोकुल डे बौद्धो मे भक्ति के प्रादुर्भाव को भागवत् मानते हैं । वैष्णव धर्म मे बुद्ध के गृहीत होने के पूर्व ही बुद्ध के अवतार, अवतारी और उपास्य तीनो रूपो की पूजा का उल्लेख मिलता है ।[६]

भगवान् बुद्ध की पूजा उनके जीवनकाल मे भी प्रचलित हो गई थी ।[७] बौद्ध धर्म मे भागवत धर्म के प्रसिद्ध षड्गुण के सदृश छ पारमिताओ- दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान एव प्रज्ञा की साधना द्वारा ही बुद्ध ने

---

१ महाभारत आदिपर्व ६७/१५१
२ "पर ज्योतिरचिन्त्य यत्तदश परमेश्वर. ।–विष्णुपुराण ५/१/६०,६४,७६
३ भागवत २/७/२५
४ भागवत १०/१/२
५ दी बोधिसत्व डाक्टरीन, पृ० ३१–३२ उद्धृत–म०सा० अवतारवाद, पृ० ४३७
६ मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद, पृ० ४३७
७ दी वैदिक एज, भाग १, पृ० ४५०

बुद्धत्व प्राप्त किया था।[1] इसी साधना के बल पर बुद्ध सिद्ध हुए और उन्ही शक्तियो के कारण लोगो ने बुद्ध को लोकोत्तर और सिद्ध माना एव परिनिर्वाण के बाद अनेक लोकोत्तर एव चमत्कारपूर्ण बातें उनके जीवन से जुड गईं।[2] सम्भवत आगे चलकर बोधिसत्व की अवधारणा के कारण बुद्ध बोधिसत्व माने जाने लगे, जब बुद्ध को विष्णु का अवतार स्वीकार कर लिया गया, तब विष्णु के अनेक गुणों का बुद्ध मे समावेश कर दिया गया। विष्णु के निवास "नित्यलोक" के समान बुद्ध का निवास "तुषितलोक" माना गया जहाँ सहस्रो देव-दासियाँ इनकी सेवा करती हैं। बुद्धो के जन्मो के पूर्व उनकी मातायें प्रतीकात्मक स्वप्न देखती हैं, जिस प्रकार तीर्थंकरो के जन्म के पूर्व इनकी मातायें देखती हैं। जिस प्रकार विष्णु के अवतारो की सख्या मे क्रमश वृद्धि होती गई, उसी प्रकार बौद्धो मे भी बुद्धो एव बोधिसत्वो की सख्या मे वृद्धि होती गई। एक बुद्ध से चौबीस बुद्ध और फिर विष्णु के अनन्त अवतारो के सदृश बुद्धो की संख्या भी अनन्त होती गई।[3]

बुद्धवस मे गौतम बुद्ध के पूर्व चौबीस बुद्धो का वर्णन है और गौतम बुद्ध को २५ वें स्थान पर रखा गया है तथा २६ वें बुद्ध के रूप मे मैत्रेय माने गये हैं।[4] "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" की भावना के सदृश ही बुद्ध पृथ्वी के क्षत्रियाक्रान्त होने पर क्षत्रिय कुल मे एवं ब्राह्मणाक्रान्त होने पर ब्राह्मण कुल में जन्म लेते हैं।

बुद्ध जो पहले अर्हत् मात्र कहलाते थे, वैष्णव अवतारवाद के प्रभाव से स्वयभू, सर्वशक्तिमान एव ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर और सूर्य-चन्द्र के रूप कहलाने लगे। कुछ लोग ऋषियो का अवतार, दशबल, राम, इन्द्र तथा वरुण कहते हैं और कुछ लोग बुद्ध को धर्मकाय, निर्माणकाय आदि शाश्वत रूपो मे भी देखते हैं।[5] बलदेव उपाध्याय बुद्ध के धर्मकाय की

---

१ बौद्ध दर्शन, पृ० १२८

२ महायान, पृ० ६०

३ मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४३८

४. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५८५

५ बुद्धिष्ट बाइबिल (गोडार्ड, पृ० १५८) द्रष्टव्य-म०सा० अवतारवाद, पृ० ४३९

तुलना वेदान्त के ब्रह्म एव सम्भोगकाय की ईश्वर से करते हैं।[१] परन्तु भदन्त शान्तिभिक्षु के अनुसार धर्मकाय और निर्माणकाय साधना एव विकास की अवस्थाये है। बुद्ध का निर्माणकाय नारायण के अनन्त अवतारो के सदृश है।[३] ऐतिहासिक बुद्ध को शक्यसिंह का अवतार या निर्माणकाय कहा है, जो धर्मकाय का अवतरित रूप है।[४] दीपकर, कश्यप, गौतम बुद्ध, मैत्रेय और अन्य मानुषी बुद्ध निर्माणकार्य के रूप हैं।[५] सम्भोगकाय के रूप मे बुद्ध बोधिसत्वो को उपदेश देते हैं।[६]

बौद्ध जातको मे उपलब्ध राम कथाओ मे बुद्ध को राम का पुनरावतार माना गया है।[७] कामिल बुल्के ने अपनी पुस्तक रामकथा मे बुद्ध को राम का अवतार माना है।[८] भदन्त शान्तिभिक्षु बुद्ध को विष्णु का निदोष रूप कहते है। विष्णु के समान बुद्ध के विराट रूप का उल्लेख "करण्ड व्यूह" मे मिलता है। इनको सहस्रबाहु कहा गया है। इनके नेत्रो को सूर्य एव चन्द्र कहा गया है, ब्रह्मा और अन्य देवता इनके कन्धे और नारायण इनके हृदय है। दातो को सरस्वती एव इनके अनन्त रोमो से अनन्त बुद्धो की सज्ञा दो गई है।[९] इस प्रकार बुद्ध को विष्णु के सदृश माना गया है।

महाभारत के दशावतारो मे बुद्ध का उल्लेख नही मिलता है किन्तु भागवत की तीनो सूचियो मे बुद्ध का नाम मिलता है। इसमे बुद्ध को असुरो को मोहित करने एव उन्हे वेद के विरुद्ध करनेवाला कहा गया

---

१ बौद्ध दर्शन (प० बलदेव उपाध्याय), पृ० १६५
२ महायान, पृ० ७३
३ बौद्ध दर्शन, पृ० १६२
४ इन्ट्रोडक्सन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १२-१३ द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४४०
५ महायान, पृ० ७४
६ बौद्ध दर्शन, पृ० १५४-१६५
७ पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २९३ में उद्धृत—दशरथ जातक ४६१ और देवधम्म जातक ५१३
८ रामकथा (बुल्के) पृ० १०४
९ दी बोधिसत्व डाक्टरीन, ४९ और करण्डव्यूह, पृ० ६२

है।[1] अर्थात् असुरो के यज्ञ मे विघ्न डालने हेतु विष्णु, बुद्ध रूप मे अवतार लेते हैं।[2]

१० कल्कि-अवतार

दशावतारो मे कल्कि के अवतार के भविष्य मे होने वाले अवतार हैं, इस कारण उनका ऐतिहासिक रूप अस्पष्ट है। फिर भी साहित्यिक साक्ष्यो मे कल्कि से सम्बन्धित राजाओ के नाम मिलते हैं। जैन एव बौद्ध साहित्य मे भी कल्कि का उल्लेख हुआ है। श्री के० बी० पाठक ने जैन ग्रन्थो के आधार पर कल्कि को अत्याचारी कहा है क्योकि इसने जैनो पर कर लगाया था। इसको "चतुर्मुख कल्कि" एव ' कल्किराज" के नाम से पुकारा गया है।[3] बौद्ध साहित्य मे ह्वेनसाग ने बौद्ध भिक्षुओ पर मिहरकुल के अत्याचारो की व्याख्या की है। इस प्रकार जैनो एव बौद्धो पर अत्याचारी के रूप मे कल्कि या मिहरकुल का उल्लेख ५२० ई० मे मिलता है।[4]

"सेकोद्देशटीका" मे कल्क (पाप) का सम्बन्ध मैत्रेय से मानते हुए ब्राह्मण वर्ण के कल्क (पाप) का निवारण मैत्रेय द्वारा कराया गया है।[5]

---

१ २ तत कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाजनसुत कीकटेषुभविष्यति ॥ —भागवत् १/३/२४
देवद्विषा निगमवर्त्मनि निष्ठिताना पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भि' ।
लोकाना घ्नता मतिविमोहमलिप्रलोभ वेष विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥
—वही, २/७/३७
भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा जात करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान् शूद्रान् कलौ क्षितिभुजोऽन्यहनिष्यदन्ते ॥
—वही, ११/४/२२

३ मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ०४४६

४ इन्डियन एटीक्वेरी जि०४७ (१९१८), पृ० १८-१९ उद्धृत-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४४६

५ ब्रह्मणादिवर्णनामेककल्कत्वाभिप्रायेणमुक्तवज्र इति नामकरणान्मैत्र्यादिचतुर्ब्रह्मविहार परिपूर्त्या सर्वकाल रागद्वेषादिविशिद्धिनिवारणत्वेनेति नामाभिषेक षष्ठ ।
—सेकोद्देशटीका, पृ० २१ उद्धृत वही, पृ० ४४८

जैन ग्रन्थो मे कल्काचार्य नाम के एक ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है[1] जिसका पौराणिक कल्कि से कुछ साम्य दृष्टिगत होता है। कल्काचार्य बुद्धि से ब्राह्मण, पराक्रम से क्षत्रिय कहे गये हैं, इनका जन्म मध्य प्रदेश के धारानगरी मे हुआ बताते हैं, जबकि पौराणिक कल्कि का जन्म सम्भल ग्राम, जो कि मध्य प्रदेश दमोह मे बताया गया है।[2]

इस प्रकार प्रभावकचरित की कल्कि कथा चरित्र और व्यक्तिगत गुणो के कारण पौराणिक कल्कि के अधिक निकट प्रतीत होता है और पौराणिक कल्कि का विवरास प्रभावक चरित्र माना जा सकता है।

उक्त रूपो के अलावा कल्कि का एक पौराणिक रूप महाभारत से लेकर कल्कि पुराण तक लगभग एक सा ही प्रतीत होता है। महाभारत मे कहा गया है कि जब कलियुग मे पापो की अत्यधिक वृद्धि हो जायगी तो एक महान् शक्तिशाली बालक ब्राह्मण परिवार मे पैदा होगा, जो "विष्णुयशा कल्कि" कहलायेगा। जो स्वेच्छया अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करके दुष्टो का नाश एव धर्म की स्थापना करेगा।[3] विष्णुपुराण भविष्य मे जन्म लेने वाले सम्भल निवासी विष्णुयश के पुत्र को वासुदेव का अशावतार रूप कल्कि मानता है जो दुष्टो का नाश करने के लिए अवतरित होगे।[4]

भागवत की सभी सूचियो मे विष्णुयश के पुत्र को कल्कि का अवतार कहा गया है एव उनका प्रयोजन दुष्टो का नाश कर धर्म की स्थापना करना बताया गया है।[5]

८. अवतारो के विभिन्न प्रकार

यहा पर अवतारो के विभिन्न प्रकार से तात्पर्य ईश्वर ने किन-किन रूपो अथवा योनियो मे जन्म लिया उससे है। मुख्यतया ईश्वर ने चार योनियो मे अवतार ग्रहण किया है, दशावतार की अवधारणानुसार—

१—जन्तु मत्स्य, कूर्म

२—पशु · वाराह

---

१ प्रभावकचरित, कालकसूरिचरित०, पृ० २२-२७

२ न्यू इण्डियन एन्टीक्वेरी, जि० । पृ०४६३

३ महाभारत-वनपर्व १९०/९३-९४ ९६/९७ शातिपर्व ३४९/-३८

४ विष्णुपुराण ४/२४/९८

५ भागवत १/३/२५, २/७/३८, ११/४/२२, १२/२/१८-२३

३—मानव-पशु : नरसिंह

४—मानव रूप · वामन, परशुराराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि

परन्तु भागवत् के २४ अवतार की अवधारणानुसार निम्न योनियो या कोटियो मे ईश्वर ने अवतार ग्रहण किया है—

१—जन्तु . मत्स्य, कूर्म

२—पशु वाराह

३—पक्षी : हस

४—मानव-पशु : नरसिंह, हयग्रीव

५—मानवरूप · सनकादि, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, राजा पृथु, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, व्यास, राम, बलराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, और कल्कि ।

९ अवतार की अवधारणा के सम्बन्ध में एनीबेसेंट के विचार

डॉ० एनीबेसेंट ने अपनी पुस्तक 'अवतार' में अवतार की अवधारणा के विकास मे सत्व, रज और तम गुणो को महत्वपूर्ण बतलाया है, क्योकि प्रकृति मे तीनो गुणो का सन्तुलित होना आवश्यक होता है। जैसे कि रजो गुण और तमो गुण का प्रभाव अधिक हो जाता है तो इन दोनो के मिश्रित प्रभाव से सतोगुण का ह्रास होने लगता है जिससे सत् गुण से सम्बन्धित सुख एव शान्ति क्षीण होने लगती है। इस प्रकार प्रकृति मे असन्तुलन की अवस्था के कारण अन्याय, अत्याचार, अनाचार आदि गुणो का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी असन्तुलन की अवस्था को सन्तुलित करने के लिए ईश्वर अवतार लेता है।

खनिज, वनस्पति एव पशु आदि के अपने-अपने विकास के नियम होते हैं। नियम एक प्रकार का बल होता है जिससे सभी वस्तुओ पर नियन्त्रण किया जा सकता है और अपने को सुरक्षित रखा जा सकता है। मनुष्य के विकास के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए ईश्वर स्वयं मनुष्य रूप में अवतरित हो मनुष्योचित व्यवहार करते हुए अपने जीवन को उच्च आदर्श की ओर ले जाते हैं। जिससे कि मनुष्य उनका अनुसरण करके अपने जीवन को आदर्श बना सकता है।

अवतारो के निम्न क्रम से 'Evolution Theory' अर्थात् विकासवाद की झलक दिखाई पडती है। प्रथम मत्स्य अवतार जल मे रहने वाला, कूर्म अवतार जल एव थल मे रहने वाला या चलने वाला, उसके बाद पूर्ण पशु अवतार वराह का हुआ, उसके पश्चात् आधा पशु और आधा मानव

मिश्रित नरसिंह का अवतार हुआ। तत्पश्चात् पूर्ण पुरुष का बौना रूप वामनावतार होता है। परशुराम पुरुष के विकसित रूप तो हुए परन्तु स्वभाव से पशुओ की तरह हिंसक वृत्ति के थे। उनके बाद धनुष-बाण से स्वयं एव पर की रक्षा करने वाले राम का अवतार होता है, जिन्होंने अन्याय का प्रतिकार करने के लिए रावण के विरुद्ध बाण चलाये तथा मर्यादापूर्वक राज्य का सचालन किया, इसी से राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है। फिर आठवें अवतार के रूप मे श्रीकृष्ण हुए हैं जिन्होंने अपने वात्सल्य से सभी को अपने वश मे कर लिया तथा युद्ध में पाण्डवो की सहायता की। काका कालेलकर ने एनीबेसेंट के उपरोक्त लेख के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है कि—इसके बाद हिन्दू धर्म का विकास क्रम रुक गया। लेखक के मत एव भारतीय दार्शनिको के विचार का यह परिणाम रहा कि तथागत बुद्ध को नवें अवतार के रूप में अपना लिया, जिन्होने थोडी अहिंसा चलाई। काका साहब ने मत व्यक्त किया कि इसके बाद पूर्ण अहिंसक समाज की रचना के लिहाज से भगवान् महावीर को १०वें अवतार मे होना चाहिए, परन्तु हिन्दू धर्म ने कल्कि को १०वा स्थान दे दिया। तात्पर्य यह है कि विकास का जो क्रम अवतारवाद मे था वह टूट गया। इसमे मानव के विकास की कथा रूपक और अलकार के शब्द मे प्रस्तुत हुई, इसमे शका नही है। खोजा सम्प्रदाय के पीर सदाअलदीन ने अपनी पुस्तक मे १०वा अवतार अली को बताया है।[1] इस प्रकार खोजा सम्प्रदाय मे भी विष्णु के दशावतार परम्परा को मान्यता दी गयी है।

जो कमियाँ हैं, वे वास्तव मे हमारे विकास मे प्रेरणा का कार्य करती है। मनुष्यो की इच्छायें भिन्न-भिन्न होती हैं और वे इच्छायें उन मानवो को अवनति की ओर ले जाती हैं। इसी को ठीक करने के लिए ईश्वर के अवतार की आवश्यकता होती है।

यो तो सभी प्राणी ईश्वर की अभिव्यक्तियाँ हैं परन्तु उन सभी अभिव्यक्तियो को न लेकर कुछ विशेष गुणो से युक्त अभिव्यक्तियो को हम लेते हैं और उन्हे हम अवतार कहते हैं। मुख्य दस अवतार माने गये हैं क्योंकि यह जीवन के विकास के रास्ते दिखाते हैं।

---

१ प्रीचिंग आफ इस्लाम द्रष्टव्य अभिनन्दन ग्रन्थ (श्री पुष्कर मुनि उपाध्याय) पृ० ३२३।

१०. राधास्वामी मत में दस अवतार की अवधारणा

राधास्वामी मतावलम्बियो ने भी दशावतार के बारे में लिखा है। राधास्वामी मत के अनुयायी बाबूजी महाराज ने कहा है[1] कि हिन्दू शास्त्रो के अनुसार पहले मच्छ, कच्छ और वाराह अवतार हुए। फिर नरसिंह अवतार हुआ। पहले तीन पशु रूप मे थे। चौथा अवतार नर और पशु सन्धि का था और इसके बाद नर रूप मे अवतार हुए। अन्त मे श्रीकृष्ण महाराज ब्रह्म के पूर्ण अवतार हुए। ब्रह्म और ब्रह्माण्ड देश के अवतार जब खत्म हो चुके तब इस समय कलियुग मे निर्मल चैतन्य देश के सन्त अवतार हुए।

बाबूजी महाराज का कहना है[2] कि पिण्ड (शरीर) मे छ चक्र हैं, ब्रह्माण्ड में छ कमल हैं और दयाल देश (निर्मल चैतन्य देश) मे छ. पद्म हैं। दसो अवतार जो जगत् में आये ब्रह्म ही के अवतार थे, मगर पहले तीन अवतार मच्छ, कच्छ वाराह पशुपन के थे और उनका ताल्लुक नीचे के तीन चक्रो से था जिसमें हैवानी ताकतों का जोर बहुत ज्यादा है। मच्छ अवतार गुदा चक्र का, कच्छ अवतार इन्द्रिय (जननेन्द्रिय) चक्र का, वाराह अवतार नाभि चक्र का शूकर रूप मे था। हृदय चक्र पशु और नर का सन्धि स्थल है। हृदय चक्र पर सिमट कर आने से पशुओ की मृत्यु हो जाती है और अगर वहाँ बैठकर बहोश कार्यवाही (अप्रमत्तभाव मे कर्म) कर सके तो नर नर-श्रेणी मे आ जाता है। नृसिंह यानी नर और पशु का अवतार हृदय-चक्र का था। इसके बाद ऊपर के चक्रो और कमलो के अवतार आये और सबसे आखिर मे श्रीकृष्ण महाराज ब्रह्म के पूर्ण अवतार हुए। सतयुग से लेकर द्वापर के अन्त तक पिण्ड देश और ब्रह्माण्ड देश के अवतार हो चुके, तब कलियुग मे ब्रह्माण्ड के ऊपर निर्मल चैतन्य देश और दयाल देश के सन्त अवतार होने का समय आया। इससे पहले सन्तो को अवतार लेकर आने की जरूरत नही थी, क्योकि जीवो का अधिकार नही था, उसी कायदे से जिससे कि सतयुग और त्रेतायुग मे कृष्ण नही आ सकते थे।

इस प्रकार राधास्वामी मत के अनुयायी भी ईश्वर के दस अवतारो मे विश्वास करते हैं मात्र अन्तर यह है कि उन्होने कलियुग मे कल्कि अवतार की जगह सन्त अवतार की अवधारणा प्रस्तुत की है।

१ बचन बाबूजी महाराज—भाग १, पृ० ३५७, बचन ७४, ८ १२ ४०

२ वही, पृ० ३६९, बचन ७७, १२.१२ ४०

११. पारसियो में दस अवतार की अवधारणा

पारसियो के धर्मग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता', जिसे ईसा पूर्व छठी शताब्दी का माना जाता है, मे वेरेथ्रघ्न (वृत्रहन् = इन्द्र) के दस अवतारो का वर्णन मिलता है[1]—१ वायु, २ ऋषभ या वृषभ, ३ अश्व, ४ ऊँट, ५ वराह, ६ कुमार, ७ कौआ, ८ मेष, ९ मृग, १० पुरुष।

इन अवतारो मे से कुछ का वर्णन प्राचीन सस्कृत साहित्य मे आया है—वायु, वृषभ या ऋषभ, अश्व या 'हयग्रीव', वराह, कुमार या 'वामन' और पुरुष।

'सहि प्रत्यक्ष वरुणस्य पमुर्यन्मेष ।'[2]

'वारुणी च हि त्वाष्टी चावि ।'[3]

वरुण और त्वष्टा दोनो इन्द्र (वृत्रहन्), प्रजापति और विष्णु से अभिन्न कहे गये हैं। अत 'जेन्दावेस्ता' के समान 'मेष' का विशिष्ट सम्बन्ध वेरेथ्रघ्न (वृत्रहन् = इन्द्र) के साथ प्राचीन सस्कृत साहित्य में भी प्रतिपादित है।

भागवतपुराण मे वराह, वामन, पुरुष, वृषभ और हयग्रीव का वर्णन मिलता है।[4] उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि पारसी और भारतीय आर्यों की मूल परम्परा एक ही थी, किन्तु कालान्तर मे अलग-अलग देशो मे विकसित होने के कारण उनमे परस्पर भेद हो गया। जेन्दअवेस्ता मे इन्द्र के जिन दस अवतारो का वर्णन मिलता है उनमे ऋषभ, अश्व, हयग्रीव, वराह, कुमार या वामन पुरुष ऐसे नाम हैं, जो वैष्णव परम्परा मे विष्णु के, जिन चौबीस अवतारो की कल्पना की गई है, उनसे मिलते हैं। इन्हे इन्द्र का अवतार मानने से यह भी सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में इन्द्र ही महत्वपूर्ण देवता थे किन्तु कालान्तर मे जब विष्णु महत्वपूर्ण देवता बन गए और अन्य सभी देवताओ को उनके अधीन मान लिया गया तब अवतारो की यह कल्पना भी उनके साथ जोड दी गई। वैसे जेन्दअवेस्ता मे उल्लिखित इन अवतारो मे परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के नाम नही मिलते हैं, इससे ऐसा लगता है कि ये सभी आर्यों के

---

१ बहरामयस्त १/२७, डार्मेस्टेटर कृत अंग्रेजी अनुवाद

२ शतपथब्राह्मण २/५/२/१६

३ वही, ७/५/२/२०

४. भागवतपुराण १/३/१-२६ · २/६/४१-४२ ११/४/३ . १०/१२/२०

भारत निवास के बाद अवतार रूप में कल्पित किए गए, यद्यपि इससे एक बात तो सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है कि अवतारो की अवधारणा का विकास आर्यों के भारत मे आने के पूर्व हो चुका था। यदि हम ऋषभ के अवतार की अवधारणा को लें, तो हम पाते है कि ऋषभ को वेदो मे तो स्थान मिला ही है किन्तु उन्हे जैन परम्परा मे प्रथम तीर्थंकर के रूप मे स्वीकार किया गया है और इस प्रकार उन्हे सम्पूर्ण आर्य सस्कृति का आदि पुरूष माना जा सकता हैं।

निष्कर्ष रूप मे मात्र हम इतना ही कहना चाहेंगे कि अवतारवाद की इस अवधारणा के बीज भारत के बाहर भी अत्यन्त प्राचीनकाल मे उपस्थित थे।

१२. अवतारो की चौबीस संख्या की अवधारणा

पुराणो मे सर्वाधिक प्रचलित दशावतारो के अतिरिक्त 'भागवतपुराण' मे भगवान् के असख्य अवतार बताये गये हैं। कभी इनकी सख्या 'बाइस', 'चौबीस'[१] और कभी सोलह[२] बताई गई है। भागवत के दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय मे दस और चालीसवें अध्याय मे वुद्ध को जोडकर ग्यारह अवतार बताये हैं।[३]

भागवत के आधार पर लिखे गये एक अन्य ग्रन्थ "लघुभागवतामृत" मे अवतारो की सख्या पच्चीस मानी गयी है।[४] सात्वत तन्त्र तो इससे भी आगे बढकर लगभग इकतालिस अवतारो की सूची प्रस्तुत करता है।[५]

भागवत में दशावतारो की अवधारणा के अतिरिक्त चौबीस अवतारो की अवधारणा भी प्रचलित रही है। भागवत की चौबीस अवतारो की इस कल्पना को इतिहासकारो ने बौद्धो और जैनो से प्रभावित माना है। श्री गौरीशकर हीराचन्द ओझा का कथन है–बुद्ध एव ऋषभ को हिन्दुओ के अवतार मे स्थान देने से प्रतीत होता है कि बौद्ध एवं जैन धर्म का प्रभाव हिन्दू धर्म पर पडा था इसलिए उनके प्रवर्तको को विष्णु के अवतारो में सम्मिलित कर लिया गया। इसके चौबीस अवतारो की यह

---

१. श्रीमद्भागवत १/३/१-२६
२ वही ११/४/६, ११/४/१७–२२
३ वही १०/२/४०; १०/४०/१७–२२
४ लघुभागवतामृत पृ० ७०, श्लोक ३२
५ सात्वत तन्त्र द्वितीय पटल

विद्या का उपदेश देते हुए प्रस्तुत किये गये हैं।[1] महाभारत के शान्तिपर्व मे सन्, सनत्सुजात, सनन्द, सनन्दन, कपिल, सनातन, सनत्कुमार ब्रह्मा के सात मानस-पुत्र कहे गये हैं।[2] इन्हे निवृत्ति धर्मपालक, योग, साख्य, धर्म के आचार्य, मोक्षाभिलाषी एव पशुसिंह का विरोधी बताया गया है।[3] विष्णुपुराण मे एक "कौमार सर्ग" की व्याख्या की गई है।[4] भागवत पुराण मे भगवान् चार ब्राह्मण-सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार के रूप मे अवतरित होकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।[5] भगवान् के तप अर्थवाले "सन" नाम से युक्त सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार रूपो मे अवतरित होकर क्षत्रियो को उपदेश देने का उल्लेख है।[6] पुन भागवत मे विष्णु के हस, दत्तात्रेय, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और ऋषभ कलावतारो का उल्लेख मिलता है।[7]

भागवत की परम्परा मे इन्हे विष्णु के चौबीस अवतारो मे स्थान प्राप्त हुआ है। सनकादि आत्मज्ञानियो की अपेक्षा विष्णु के भक्त अवतार विदित होते हैं।

२ वराह-अवतार

वराहावतार की विशद व्याख्या हम पहले कर चुके हैं।

३ नारद-अवतार

वैदिक और पौराणिक साहित्य मे विभिन्न स्थानो पर नारद का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ सूक्तो के रचयिता "नारद पर्वत" एवं "नारद कण्व" नाम के ऋषि कहे गये हैं।[8] नारद के नाम का परिचय सामवेदीय परम्परा मे भी मिलता है।[9] छान्दोग्यो-

---

१ छान्दोग्योपनिषद् ७/१/१ · द्रष्टव्य- म०सा०अ०, पृ० ४८९
२ महाभारत, शान्तिपर्व ३४०/७२-८२
३ वही, शान्तिपर्व ३४०/७२-८२
४ विष्णुपुराण २/१/२५
५ भागवत १/३/६
६ वही २/७/५
७ वही ११/४/१७
८. ऋग्वेद ८/१३, ९/१०४-१०५, अथर्ववेद ५/१९/१, १२/४/१६
उद्धृत-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४९१
९ द्रष्टव्य-वही, पृ० ४९१

पनिषद् में नारद को अनेक विद्याओं का ज्ञाता कहा गया है।[1] महाभारत शान्तिपर्व में नारद पर्वत ऋषि के मामा कहे गये हैं।[2] महाभारत के इसी पर्व में नारद तपस्या के फलस्वरूप विष्णुदर्शन प्राप्त करते हैं।[3] तथा नारायण ऋषि से "एकान्तिक मत" का ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है।[4] इस प्रकार महाभारत में विष्णु और नारायण-भक्त के रूप में नारद का चरित्र-चित्रण किया गया है। गीता में देवर्षि नारद का उल्लेख दिव्य विभूतियों में है।[5] वैष्णव एवं अन्य धर्मों के प्रवर्तकों के अवतारीकरण के साथ भागवत में देवर्षि नारद का तीसरा अवतार ऋषियों की सृष्टि में माना गया है।[6] कालान्तर में जब वैष्णव एवं अन्य धर्मों में अवतारवाद की अवधारणा विकसित हुई, तब देवर्षि नारद को भी ईश्वर का अवतार मान लिया गया। इस अवतार में नारद के अवतार का मुख्य प्रयोजन सात्वत तन्त्र अथवा नारद पाचरात्र का उपदेश देना बताया गया है, परन्तु चौबीस लीलावतारों में नारद का नामोल्लेख नहीं है।[7]

भागवत में वे दासी के पुत्र बताये गये हैं परन्तु वहीं प्रथम स्कन्ध में इनका सम्बन्ध प्रेमा-भक्ति से परिलक्षित होता है।[8] भक्तों एवं प्रवर्तकों की परम्परा में ही नारद को विष्णु का अवतार माना गया है। अन्य अवतारों की अपेक्षा नारदावतार की अवधारणा अधिक प्रसिद्धि को नहीं प्राप्त हुई।

४ नर-नारायण-अवतार

भागवत की तीनों सूचियों में नर-नारायण की उत्पत्ति धर्म की पत्नी दक्ष प्रजापति की कन्या मूर्ति के गर्भ से बतायी गई है।[9] नर-नारायण ने अवतार लेकर ऋषि रूप में रहकर मन एवं इन्द्रियों पर संयम प्राप्त

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ७/१/१
२ महाभारत, शान्तिपर्व २८
३ वही, शान्तिपर्व १९०
४ वही, २३४/४–३३
५ गीता १०/२६
६ भागवत १/३/८
७. वही, २/७
८ वही, १/५/२३, ३८–३९
९ वही, १/३/९, २/७/६; ११/४/१६

करने के लिये कठिन तप किया। ऋग्वेद के "पुरुष सूक्त" के रचनाकार नारायण ऋषि कहे गये हैं।[1] शतपथ ब्राह्मण में पुरुष से स्वरूपित "पुरुष नारायण" पाञ्चरात्र यज्ञ के कर्ता एवं सबका अतिक्रमण करने वाले सर्वव्यापी और सर्वात्मा कहे गये हैं।[2] तैत्तिरीय आरण्यक में नारायण को विष्णु एवं वासुदेव से सम्बद्ध बताया गया है।[3]

महाभारत में अर्जुन एवं कृष्ण को नर एवं नारायण का अवतार कहा गया है। साथ ही अर्जुन नर के अतिरिक्त इन्द्र के भी अवतार कहे गये हैं।[4] महाभारत में एक अन्य स्थल पर नर के अर्जुनरूप में इन्द्र के अंश से उत्पन्न होने का आख्यान उपलब्ध है, जहाँ वे नारायण के सखा एव पाण्डु पुत्र कहे गये हैं।[5] यहाँ पर हमें नर, इन्द्र एवं अर्जुन का अभिन्न सम्बन्ध प्रतीत होता है।

ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में इन्द्र एव नर की एकरूपता स्पष्ट होती है।[6] इन तथ्यों के अवलोकन से नर-नारायण और इन्द्र-विष्णु इन दोनो शब्दो के योग का परस्पर सम्बन्ध स्पष्टतया स्वरूपित होता है। वैदिक साहित्य में इन्द्र-विष्णु की अपेक्षा नर-नारायण का सम्बन्ध उतना स्पष्ट नहीं है। यदि इनको प्राचीन वैदिक ऋषि मानें तो इनका अस्तित्व भिन्न प्रतीत होता है। कालान्तर मे इन्द्र और नर तथा विष्णु और नारायण के एकीकरण के बाद इन्द्र एव विष्णु के स्थान पर नर नारायण शब्दो का संयुक्त रूप प्रचलित हुआ। इनकी अंशत पुष्टि महाभारत से होती है।[7]

---

१ ऋग्वेद १०/९०/८ उद्धृत-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४७६

२ "पुरुषो ह नारायणोऽकामयत्"—शतपथ ब्राह्मण १३/६/१/१

३ "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णु: प्रचोदयात्,

—तैत्तिरीय आरण्यक १०/१/५

४ "भीमसेन तु वातस्य देवराजस्यचार्जुनम्"

महाभारत, आदिपर्व ६७/१११

५ "ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायण सखा।
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यात पाण्डो पुत्रः प्रतापवान ॥

—महाभारत, आदिपर्व ६७/११६

६ "इन्द्रवो नरः सख्याय सेपुर्महो यन्त' सुमतये चकाना'।
इन्द्र नर' स्तुवन्तो ब्रह्मकारा ॥" —ऋग्वेद ६/२९/१,४

७. महाभारत, आदिपर्व ६७/११७

इस प्रकार दोनो तथ्यो के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि चौबीस अवतारो मे नर-नारायण वैदिक साहित्य मे उल्लिखित नर नारायण की अपेक्षा नारायणीयोपाख्यान मे उल्लिखित नर-नारायण के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। यही नर नारायण अपनी तपस्या के बल पर विष्णु के २४ अवतारो मे मान्य हुये।

५ कपिल-अवतार

ऋग्वेद सहिता मे कपिल वर्ण के ऋषि का उल्लेख मिलता है।[१] श्वेताश्वरउपनिषद् मे भी कपिल के रूप मे कपिल ऋषि का सन्दर्भ मिलता है।[२] पुन इस उपनिषद् मे कपिल को हिरण्यगभ का पर्यायवाची माना गया है।[३] बाल्मीकिरामायण तथा महाभारत के "वनपर्व" मे ६०००० पुत्रो को कपिल के द्वारा भस्म करने की कथा है।[४] महाभारत मे ही उनको वासुदेव से अभिहित किया गया है।[५] महाभारत के "शान्तिपर्व" मे ब्रह्मा के सात मानस पुत्रो मे कपिल का भी नाम विद्यमान है।[६] गीता एव भागवत मे कपिल को सिद्ध कहा गया है।[७] "विष्णुसहस्रनाम" शाकरभाष्य मे महर्षि कपिल को वेदो का ज्ञाता एव उनको साख्यवेत्ता भी कहा गया है।[८] सूर्य-निवास के कारण ये अग्नि के स्वरूप कहे गये है।[९]

---

१ "दशानामेक कपिल समान त हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय।"
—ऋग्वेद १०/२७/१६

२ "ऋषि प्रसूत कपिल यस्तुमग्रे ज्ञाने विर्भात जायमान च पश्येत"
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/२

३ वही, ३/४/४, १२/६/१८ उद्धृत–म० सा० अ०, पृ० ४८५

४ बाल्मीकि रामायण १/४०, महाभारत, वनपर्व ३/१०७

५. "ददृशु कपिल तत्र वासुदेव सनातनम्।"
—बाल्मीकि रा० १/४०/२५

वही, १/४०/२; महाभारत वनपर्व १०७/३२

६ महाभारत, शान्तिपर्व ३४०/७२-८४

७ गीता १०/२६

८ विष्णुसहस्रनाम शाकरभाष्य, पृ० १७७ श्लोक ७०

९ भागवत १/३/१०, २/७/३, २/२१/३२, ३/२४/३०

इस प्रकार महाभारत में कपिल के जो विविध रूप हमें दिखाई देते हैं उनसे यह निश्चित कर पाना कठिन है कि साख्यवेत्ता आग्नेय एव सगर-पुत्रो को भस्म करने वाले कपिल एक ही हैं या भिन्न-भिन्न, क्योंकि विष्णुपुराण एव भागवत मे इनके पृथक्-पृथक् रूपों का वर्णन उपलब्ध है, विष्णुपुराण में कर्दम प्रजापति के 'शंखपाद" नाम के पुत्र का उल्लेख मिलता है।[१] इससे साख्यवेत्ता कपिल का आभास होता है क्योंकि बहुत सम्भव है कि साख्य का विकृत रूप शंख हो गया हो। पुन. विष्णुपुराण में पुरुषोत्तम के अंश रूप कपिल का सगर के पुत्रो को भस्म करने का आख्यान मिलता है।[२] वहाँ उनके सांख्यवेत्ता होने का कोई उल्लेख नही है। भागवत में एक अन्य स्थल पर सिद्धो के स्वामी कपिल द्वारा आसुरि को उपदेश देने का उल्लेख मिलता है।[३] भागवत मे कर्दम प्रजापति के यहाँ कपिलरूप के अवतार ग्रहण करने, साख्य मत का उपदेश तथा साख्यशास्त्र की रचना करने का उल्लेख है।[४] भागवत में सगर के पुत्रो को भस्म करने वाले कपिल को भगवान् का अवतार कहा गया है।[५] इस प्रकार भागवत के इन रूपो मे कोई साम्य नही है।

हम देखते हैं कि महाकाव्यो एव पुराणो मे कपिल की कथा का विकास पृथक्-पृथक् है, परन्तु चौबीस अवतारो मे कर्दम पुत्र एव साख्यवेत्ता कपिल को ही स्थान प्राप्त हुआ है। भागवत के विवरणो से साख्य प्रवर्तक कपिल को ही अवतार माना गया है।[६]

६ दत्तात्रेय-अवतार

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दत्तात्रेय अवतार की अवधारणा नर-नारायण की अपेक्षा अधिक परवर्ती प्रतीत होती है। वैदिक साहित्य एवं वैष्णव महाकाव्यो में इनका उल्लेख नही हुआ है। गीता एव विष्णुसहस्रनाम में भी इनका उल्लेख नही प्राप्त होता है। भागवत की सभी सूचियो मे

---

१ विष्णुपुराण १/२२/१२

२. विष्णुपुराण ४/४/१२-१६

३ भागवत १/३/१०

४ वही, २/७/३, ३/१२/३, ३/२४/३०

५ वही, ९/८

६. वही, १/३/१०, २/७/३

दत्तात्रेय अनुसुइया के वर मांगने पर उसके गर्भ से उत्पन्न हुए।[१] अलर्क एव प्रह्लाद को इन्होने ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दिया। राजा यदु और सहस्त्रार्जुन दोनो ने दत्तात्रेय से योग एव मोक्ष की सिद्धियां प्राप्त की।[२] भागवत के अनुसार दत्तात्रेय ने विष्णु के अन्य कलावतार हंस, सनत्कुमार ऋषभ रूप मे अवतीर्ण होकर आत्मसाक्षात्कार का उपदेश दिया। इस प्रकार दत्तात्रेय को पुराणो मे तपस्वी कहा गया है। सक्षेपत पौराणिक आख्यानो के अनुसार दत्तात्रेय विष्णु के अवतार है।

७ यज्ञ-पुरुष अवतार

ऋग्वेद सहिता मे यज्ञरूप विष्णु का उल्लेख मिलता है तथा तैत्तिरीय सहिता एव शतपथ ब्राह्मण के मन्त्रो से विष्णु और यज्ञ की एकरूपता स्पष्ट होती है।[३]

"यज्ञोवैविष्णु"

विष्णुपुराण मे "आद्य यज्ञ पुरुष" और "यज्ञमूर्तिधर" नाम विष्णु के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[४] विष्णुसहस्रनाम मे भी विष्णु को यज्ञ शब्द मे अभिहित किया गया है। मत्स्यपुराण मे "वेदमय पुरुष" का निवास यज्ञो मे बताया गया है।[५]

परन्तु भागवत के यज्ञावतार का सम्बन्ध स्वायम्भुव मन्वन्तर मे रुचिप्रजापति-आकृति से उत्पन्न यज्ञ पुरुष से है और इन्ही यज्ञ को चौबीस अवतारो मे ग्रहण किया गया है।[६]

इस प्रकार पुराणो मे जो यज्ञ के विभिन्न उपादान प्राप्त हैं उन्ही से यज्ञावतार का विकास परिलक्षित होता है। अवतारो की कोटि मे आने से पूर्व यज्ञ पुरुष रूप के परिवर्तन से मानवीकरण का सकेत मिलता है। वैदिक साहित्य मे भी देवो के आशिक एव पूर्ण प्रकृति रूपो का दर्शन होता है। बृहदारण्यकउपनिषद् एव छान्दोयोपनिषद् ने "आहुति" से

---

१ भागवत १/३/११, २/७/४, ११/४/१७

२ वही १/३/११

३ ऋग्वेद १/५६/३, तैत्तिरीय सहिता १/७/४, श० ब्रा० १/२/१३

४ 'आद्यो यज्ञपुमानोय', 'यज्ञमूर्त्तिधराव्यय'—वि० पु० १/९/६१-६२

५ विष्णुसहस्रनाम शाकरभाष्य, पृ० २५९-२६३, मत्स्यपुराण अ० १५६

६ भागवत १/२ १२, २/७/२, ८/१/६

'यज्ञविष्णु', 'यज्ञपुरुष' और 'गर्भ' एवं पुरुष की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है।[१]

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यज्ञ के मानवीकृत रूप का विकास दृष्टिगोचर होना है। कालान्तर मे इसी को पुराणकारो ने विष्णु का रूप माना। भागवत मे विष्णु के यज्ञ पुरुषावतार का उल्लेख हुआ है इस रूप मे वे यज्ञ की सफलता के प्रतीक ही नही बल्कि उपास्य विष्णु से भी सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।[२]

८ ऋषभ-अवतार

भागवत मे राजा नाभि एव रानी महादेवी के पुत्र ऋषभ को विष्णु का अवतार कहा गया है।[३] इस अवतार मे ऋषभ देव ने इन्द्रिय निग्रह एव योगचर्या द्वारा परम हसो के मार्ग का प्रतिपादन किया, ऐसा उल्लेख है।[४] विष्णुपुराण में नाभिपुत्र ऋषभ का उल्लेख मिलता है।[५] महाभारत मे 'ऋषभ गीता' नाम के प्रकाश मे ऋषभ ऋषि का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनके अवतारी होने का कोई संकेत नही मिलता।[६]

इस प्रकार ऋषभ के अवतारी होने के बारे मे कुछ निश्चित कहना कठिन है।

फर्कुहर ने भागवत का रचनाकाल ९०० ई० माना है।[७] समकालीन जेन साहित्य मे ऋषभ के दिव्य जन्म का उल्लेख मिलता है इससे हम कह सकते हैं कि भागवत में ऋषभ का अवतार रूप ग्रहीत होने के पूर्व ही जैन साहित्य ने ऋषभ के दिव्य जन्म का विवरण उपलब्ध था।

इस सम्बन्ध मे जैन ग्रन्थो का प्रभाव भागवत पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है क्योकि भागवत मे कहा गया है कि ऋषभदेव दिगम्बर

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद् ६/२/१२-१३, छा० उ० ५/८/९-२,
द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४६९

२ भागवत ४/७/१८

३ वही, ८/१३/२०

४ वही, १/३/१३, २/७/१०

५. विष्णुपुराण २/१/२७

६ महाभारत, शान्तिपर्व १२५–१२८

७. फर्कुहर, पृ० २३२, द्रष्टव्य म० सा० अ०, पृ० ४७०

संन्यासी एवं ऊर्ध्वरेता मुनियों को धर्म का उपदेश देने के लिए प्रकट हुए थे।[1]

भागवत के चौबीस अवतारों की सूची में विशिष्ट विभूतियों-धर्म-प्रवर्तक, अन्वेषक, आदर्शराजा, विचारक, तपस्वी का समावेश हुआ है। दिगम्बर मुनियों के धर्मप्रवर्तक ऋषभ को भी इसी प्रयोजन से २४ अवतारों में गृहीत किया गया। इस प्रकार भागवत में उनके अवतार का प्रयोजन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

ऋषभदेव के अपने विशिष्ट आचरण एवं महापुरुषों के लक्षणों से युक्त शरीर के कारण वैष्णवों ने उन्हें विष्णु के अवतार-रूप में स्थान दिया।

९ पृथु-अवतार

ऋग्वेद में राजा पृथु का उल्लेख मिलता है।[2] विष्णुपुराण में पृथु को विष्णु का अवतार कहा गया है।[3] साथ ही विभिन्न पुराणों-विष्णुपुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, ब्रह्मपुराण और मत्स्यपुराण में पृथु की उत्पत्ति अत्याचारी वेन की भुजा से बताई गई है।[4] राजा पृथु के दाहिने हाथ में विद्यमान चक्र के आधार पर उन्हें विष्णु का अंशावतार कहा गया है।[5] राम-कृष्ण अवतारों में दुष्ट व्यक्तियों का संहार ही मुख्य प्रयोजन रहा है, इसके विपरीत पृथु अवतार में वे पृथ्वी को गयनीत कर उससे औषधि का दोहन करते हैं।[6] इस प्रतीकात्मक कथा से राजा पृथु का कृषि एवं खनिज का आदि प्रवर्तक होना सिद्ध होता है। भागवतपुराण में विभिन्न स्थलों पर उनके रूपों एवं कथाओं का एक सा विवरण मिलता है।[7] परन्तु भागवत के चौथे स्कन्ध में वेन की भुजाओं से उत्पन्न स्त्री-पुरुष

---

१. भागवत ५/३/२०
२ ऋग्वेद १०/१४८
३ विष्णुपुराण ४/२४/१३८
४. विष्णुपुराण १/१३, वायुपुराण अ० ६२-६३, अग्निपुराण अ० १८, ब्रह्मपुराण अ० ४; मत्स्यपुराण अ० १०
५. विष्णुपुराण १/१३/४५
६ वही, १/१३/८७-८८
७. भागवत १/३/१४; २/७/९; ४/१४-१६

के जोडे को विष्णु एवं लक्ष्मी का अंशावतार माना है।[1] पृथु की उत्पत्ति का संकेत हमें केवल विष्णुपुराण मे ही परिलक्षित होता है।[2]

सभी अवतारो के अवतारीकरण या अवतरण का कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है। रामकृष्ण, परशुराम, बुद्ध आदि अवतारो का मुख्य उद्देश्य धर्म की स्थापना करना था। इसी प्रकार राजा पृथु को भी कृषि एव खनिज के महत्वपूर्ण अनुसन्धान के कारण अवतार कहा गया। भागवत में पृथु को विष्णु की भुवन-पालिनी कला का एव उनकी पत्नी अर्चि को लक्ष्मी का अवतार कहा गया है।[3] इस प्रकार युगल आविर्भाव के कारण चौबीस अवतारो मे पृथु का अवतार अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

१० मत्स्य-अवतार
११ कच्छप (कूर्म) अवतार

} इन दोनो का विस्तृत विवरण हम दसावतारो के अन्तर्गत दे चुके हैं।

१२ धन्वन्तरि अवतार

वाल्मीकि रामायण एव विष्णुपुराण में उनके आयुर्वेद के ज्ञान श्वेत वस्त्रधारी धन्वन्तरि के रूप मे प्रकट होने का उल्लेख है।[4] यहाँ उन्हे विष्णु से सम्बद्ध नही कहा गया है। मत्स्यपुराण मे भगवान् धन्वन्तरि को आयुर्वेद का प्रजापति कहा गया है।[5]

भागवत में समुद्रमन्थन की कथा मे भगवान् द्वारा धन्वन्तरि के रूप में अमृत लेकर समुद्र से प्रकट हाने का उल्लेख है।[6] पुनः भागवत् में भगवान् द्वारा धन्वन्तरि रूप में अवतरित होकर देवताओ को अमृत पिलाकर अमर करने का उल्लेख है साथ ही दैत्यो से उनके यज्ञभाग को

---

१ भागवत ४/१५/१–३

२ विष्णुपुराण १/१३/३८–३९

३ भागवत ४/१५/३

४ 'ततो धन्वन्तरिर्देव' श्वेताम्बरधरस्सयम्।
विभ्रत्कमण्डलु पूर्णममृतस्य समुत्थित ॥' —विष्णुपुराण १/९/९८
'अथ वर्षसहस्त्रेण आयुर्वेदमय' पुमान्।
पूर्व धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः ॥
—वाल्मीकि रा० १/४५/३१–३३

५ मत्स्यपुराण २५०।१

६, 'धान्वन्तर द्वादशव त्रयोदशमेव च' —भागवत १।३/१७

दिलाने का वर्णन है।[1] इसी अवतार मे उन्होने आयुर्वेद का प्रवर्तन किया। भागवत के एकादश स्कन्ध मे औषधियो की रक्षा के निमित्त धन्वन्तरि अवतार का उल्लेख न कर मत्स्यावतार बताया है।[2]

यहाँ पर यह कहना तो सम्भव नही है कि दोनो धन्वन्तरि का पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहा है अथवा एक। परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि पौराणिक समुद्र-मन्थन से उत्पन्न धन्वन्तरि को ऐतिहासिक काशिराज के पुत्र धन्वन्तरि से सम्बद्ध कर दिया गया होगा।

अत धन्वन्तरि को अवतारवादी दृष्टिकोण से विष्णु के चौबीस अवतारो मे गृहीत किया गया। यहाँ पर उनके अवतरण का मुख्य प्रयोजन सासारिक प्राणियो को दुख-दर्द एवं रोग से विमुक्ति दिलाना रहा है।

१३ मोहिनी-अवतार

भगवान् के मोहिनी रूप मे अवतरित होने का विवरण देवासुर सग्राम के अनन्तर समुद्र-मन्थन की कथा से सम्बद्ध है। समुद्र-मन्थन से उपलब्ध रत्नो मे लक्ष्मी और अमृत की प्राप्ति के लिए देव-दानवो मे पुन सघर्ष की स्थिति होने पर नारायण के मोहिनी-माया द्वारा सुन्दर रूप बनाकर दानवो को छलने का उल्लेख है।[3] विष्णुपुराण मे भी मोहिनी का यही रूप है।[4] भागवत मे मोहिनी को १३वें अवतार के रूप मे माना गया है एव उनका मुख्य प्रयोजन दैत्यो को मोहित कर देवताओ को अमृत पिलाना रहा है।[5]

इस प्रकार मोहिनी अवतार का मुख्य प्रयोजन देवताओ को अमृत प्रदान कर असुरो पर विजय प्राप्त कराना रहा है।

---

१ धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्तिर्नाम्ना नृणा पुरुरुजा रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके॥
—भागवत २/७/२१

२ भागवत ११/४/१८

३ 'ततो नारायणी माया मोहिनी समुपाश्रित।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वादानवानभिसंश्रित' ॥
—महाभारत, आदिपर्व १८/४५

४ विष्णुपुराण १/९/१०७–१०९

५ भागवत १/३/१७

१४. नरसिंह अवतार
१५ वामन अवतार
१६ परशुराम अवतार

} इन सभी की विशद चर्चा पहले की जा चुकी है।

१७ व्यास अवतार

अवतारो की कोटि मे जिन विभूति सम्पन्न व्यक्तियो को ग्रहण किया गया है, उनमे कृष्णद्वैपायन व्यास भी एक हैं। वैसे तो व्यास शब्द भारतीय साहित्य मे एक समुदाय विशेष का बोध कराता है, परन्तु यहा व्यास से तात्पर्य कृष्णद्वैपायन व्यास से है। अथर्ववेद संहिता एव ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण को पौराणिक वेदव्यास से अभिहित किया गया है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक मे व्यास पाराशर्य का उल्लेख मिलता है।[2] डॉ० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी मे कहा है कि "भारतीय परम्परा मे शकर, गोविन्दानन्द वाचस्पति, आनन्दगिरि आदि ने ब्रह्मसूत्र के कर्ता बादरायण और व्यास को एक ही माना है तथा रामानुज, माधव, वल्लभ और बलदेव ने भी उक्त कथानक का समर्थन किया है।[3]

इस प्रकार विभिन्न व्यासो का भान होता है, परन्तु अवतारवाद के विकास क्रम मे किस व्यास को २४ अवतारो की शृ खला मे ग्रहण किया गया है, कहना कठिन है। महाभारत के रचयिता व्यास माने गये हैं, व्यास को भागवत एव विष्णु पुराण में अवतार माना गया है। विष्णुपुराण मे २८ व्यासो की एक परम्परा मिलती है। गीता मे अवतारवाद की दृष्टि से मुनियो मे व्यास को विभूति कहा गया है।[4] विष्णुपुराण के अनुसार भगवान् प्रत्येक द्वापर मे वेदो के विभाजन करने के लिये व्यास रूप में अवतीर्ण होते हैं एव भागवत मे व्यास को योगी तथा भगवान् का कलावतार कहा गया है।[5] पुन भागवत मे भगवान् के व्यासावतार रूपो का वर्णन मिलता है।[6]

---

१ अथर्ववेद संहिता ४/४/७/६१ तथा ७/३९ उद्धृत–म० सा० अ०, पृ० ४५४
२ तैत्तिरीय आरण्यक १/९/२ उद्धृत–वही
३ हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी, जि० २, स० १९२७, पृ० ४३३
४ महाभारत, आदिपर्व ३६/६८, विष्णुपुराण ३/३/८–२०, गीता १०/३७
५ विष्णुपुराण ३/३/५
६ भागवत १/३/२१, २/७/३६

इस प्रकार वेदो के विभाजन के निमित्त ही व्यास का अवतार होना प्रतीत होता है। वेद व्यास, कृष्णद्वैपायन-व्यास एव भागवतकार व्यास सभी के समन्वित रूप पौराणिक व्यास परिलक्षित होते हैं।

१८ राम अवतार

रामावतार की विशद चर्चा पहले की जा चुकी है।

१९ बलराम-अवतार

भागवत मे कहा गया है कि जब पृथ्वी दैत्यो से भाराक्रान्त होती है और जब दैत्य पृथ्वी को रौदते हैं तब भगवान् कृष्ण एव बलराम के कलावतार रूप ग्रहण करते हैं।[1] पुन भागवत् मे बलराम के यदुवश में अवतारो का प्रसग मिलता है।[2]

इस प्रकार बलराम के अवतार का प्रयोजन श्रीकृष्ण को मात्र सहायता पहुँचाना ही मुख्यरूप से कहा जा सकता है।

२० श्रीकृष्ण-अवतार
२१ बुद्ध अवतार
२२. कल्कि अवतार
} इन सभी की विशद चर्चा पहले की जा चुकी है।

२३ हंस अवतार

सामान्यतया सभी पौराणिक अवतारो के रूपो मे भिन्नता पाई जाती है। हसावतार का मुख्य प्रयोजन उपदेश देना बताया गया है। उनके हस रूप धारण करने मे भिन्नता है कही तो वे आदित्य, कही प्रजापति, कही विष्णु और कृष्ण से अभिहित किये गये हैं। अथर्ववेद सहिता मे हस को पक्षी, जीवात्मा एवं आदित्य के प्रतीक रूपो मे दर्शाया गया है।[3] हस रूप मे वे सत्य को ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश देते हैं।[4] शकराचार्य ने हस

---

१ भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दिताया क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेश ।
जात. करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्ग कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥
—भागवत २/७/२६

२ एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥ —वही, १/३/२३

३ अथर्ववेद सहिता ८/७/२४, १०/८/१७; १०/८/१८

४ छान्दोग्योपनिषद् ४/७/२–४

की श्वेतता एव उडने की शक्ति के कारण आदित्य का प्रतीक कहा है। महाभारत मे प्रजापति के अवतार रूप हस साधुओ को उपदेश देते है।[1] छान्दोग्योपनिषद् मे साधुओ का सम्बन्ध ब्रह्मा से बताया गया है।[2] विष्णु सहस्रनाम मे विष्णु के लिए प्रयुक्त हस शब्द की व्याख्या करते हुए शकर कहते हैं कि 'हस' तादात्म्य भावना से ससार का भय नष्ट करते हैं, इसलिए हस हैं अथवा आकाश मे चलने वाले सूर्य के सदृश सभी शरीरो मे व्याप्त हो जाते हैं इसलिए हंस हैं। इस व्याख्या से हस का विष्णु से आत्म-रूपात्मक सम्बन्ध परिलक्षित होता है।[3] श्रीमद्भागवत मे सभी स्थलो पर हसावतार का उल्लेख उपलब्ध नहीं है, फिर भी हसावतार और हंस-उपास्य दोनो का उल्लेख हमे मिलता है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भगवान् नारद को उपदेश देने के लिए हस रूप मे आविर्भूत होते हैं।[4] भागवत के दूसरे स्थल पर ब्रह्मा द्वारा नारद को उपदेश देने का आख्यान उपलब्ध होता है।[5] पुन 'एकादश स्कन्ध' मे श्रीकृष्ण के द्वारा ब्रह्मा जी को परमतत्व का उपदेश देने का उल्लेख मिलता है।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'महाभारत' के अतिरिक्त भागवत मे भी हंस का ब्रह्मा से किसी न किसी रूप मे सम्बन्ध लक्षित होता है। भागवत के अनुसार सत्ययुग के मनुष्य का सम्भवत वैदिककालीन पुरुष, हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, परमपद, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामो से उपास्य का लीलागान करते हैं।[7] अतएव उपास्य

---

१ महाभारत, शान्तिपर्व २९६।३-४

२ छान्दोग्योपनिषद् ३/१०/१-३

३ मरीचिर्दमनो हस सुपर्णोभुजगोत्तम ।
हिरण्यनाभ सुतपा पद्मनाभ प्रजापति ॥ —विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्-३४

४ तुभ्य च नारद भृश भगवान् विवृद्धभावेन साधु परितुष्ट उवाच योगम् ।
ज्ञान च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव ॥
—भा० २/७/१९

५ वही, २/१०/४२-४३

६ स मामचिन्तयद् देव प्रश्नपारतितीर्षया ।
तस्याह हसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥ —वही, ११/१३/१९

७ हस सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोमल ।
ईश्वर पुरुषोव्यक्त परमात्मेति गीयते ॥ —वही, ११/५/२३

विष्णु को हस नाम से अभिहित कर हसावतार की कल्पना असम्भाव्य नही जान पडती।

२४ हयग्रीव-अवतार

दशावतारो मे विष्णु के हयग्रीवावतार का उल्लेख नही मिलता, परन्तु आगे चलकर २४ अवतारो की अवधारणा मे हयग्रीव का नामोल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि विष्णुपुराण मे मत्स्य, वराह, कूर्म के साथ हयग्रीव का वर्णन है।

पौराणिक हयग्रीव वैदिक साहित्य मे उल्लिखित हयग्रीव का विकसित रूप प्रतीत होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद मे 'हर्यश्व' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे हुआ है।[1] अश्वमेध का वैदिक यज्ञो मे प्रमुख स्थान रहा है। 'वृहदारण्यक उपनिषद्' मे यज्ञ की अश्वरूपात्मक कल्पना स्पष्ट दिखाई देती है जहाँ अश्व की हिनहिनाहट को वाणी से अभिहित किया गया है।[2] साथ ही हय से देवताओ, बाजो होकर गन्धर्वो, अर्वा होकर असुरो एव अश्वरूप से मनुष्यो को वहन करने का प्रसग मिलता है। समुद्र को हयग्रीव का बन्धु एव उद्गम स्थान कहा गया है।[3] अत समुद्र से हयग्रीवावतार के बीज लक्षित होते हैं। महाभारत आदिपर्व मे गरुड को स्तुति करते समय उन्हे प्रजापति, शिव, विष्णु एव हयमुख कहा गया है।[4] एक अन्य स्थल पर स्वय भगवान् कहते हैं 'स्वर और वर्णों का उच्चारण' एव वरदान देने वाले हयग्रीव मेरा ही अवतार हैं और उसी अवतार रूप मे मैने मधु-कैटभ असुरो को मार कर वेदो की रक्षा की।[5] महाभारत मे नारायण द्वारा हयशिर रूप धारण कर वेदो के उद्धार का उल्लेख मिलता है।[6]

उपर्युक्त उद्धरणो मे हयग्रीव का सम्बन्ध यज्ञ, प्रजापति एव वेदोच्चारण से स्पष्टतया परिलक्षित होता है और सम्भव है कि इन्ही उपदानो

---

१ ऋग्वेद ७/३१/१ ८/२१/१०
अथर्ववेद २०/१४/४ २०/६२/४

२ वृहदारण्यक उपनिषद् १/१/१ उद्धृत—म० सा० अ०, पृ० ४५२

३ वही १/१/२ उद्धृत—वही, पृ० ४५२

४ महाभारत आदिपर्व २३/१६

५ वही, शान्तिपर्व ३४२/९६–१०२

६. वही, शान्तिपर्व ३४७/१९–७१

के आधार पर पौराणिक कथानक का रूप दिया गया हो। भागवत मे ब्रह्मा द्वारा हयग्रीव अवतार ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। पुनः भागवत मे हयग्रीवावतार द्वारा मधु-कैटभ को मारकर वेदो का उद्धार करना मुख्य प्रयोजन बताया गया है।[1]

इस प्रकार २४ अवतारो की अवधारणा मे हयग्रीवावतार का मुख्य प्रयोजन दुष्टो का नाशकर पृथ्वी पर धर्म की स्थापना करना है। अस्तु हयग्रीवावतार मे भी भगवान् के अवतरण का प्रयोजन अन्य अवतारो की तरह धर्म का नाश कर धर्म की रक्षा करना रहा है।

पुन भागवत के द्वितीय स्कन्ध, अध्याय ७ मे भी भगवान् के चौबीस लीला-अवतारो की कथा कुछ अन्तर के साथ वर्णित है, मात्र अन्तर इतना है कि प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ मे वर्णित चौबीस अवतारो मे से नारद एव मोहिनी अवतारो के स्थान पर मनु एव चक्रपाणि (गजेन्द्र-हरि) अवतारो को लिया गया है। अत यहा पर दोनो अवतारो की विशद चर्चा करना उपयुक्त होगा।

मनु अवतार

भागवत के २४ अवतारो में मनु को भी अवतार रूप मे ग्रहण किया गया है। भागवत में मनु का अवतार दो रूपो में मिलता है, एक तो व्यक्तिगत रूप में विष्णु के अवतार कहे गये हैं, तो वही दूसरी ओर विभिन्न मन्वन्तर मे विभिन्न अवतार माने गये हैं।

पौराणिक मनुओ का उल्लेख ऋग्वेद सहिता मे 'मनु वैवस्वत', 'मनु सवरण', 'मनु आप्सव' और 'चाक्षुप मनु' के नाम से मिलता है, जिन्हे सूक्तो का रचयिता कहा गया है।[2]

शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद् मे भी मनु का नाम मिलता है।[3] गीता के ज्ञान प्राप्ति के प्रसग में मनु का उल्लेख पाया जाता है।[4] भारतीय साहित्य मे "मनुस्मृति" की रचना का सम्बन्ध मनु से बताया गया है। फर्कुहर ने इसका रचनाकाल २०० ई पू से २०० ई तक माना

१ भागवत ७/९/३६-३७, २/७/११

२ ऋग्वेद ८/२७, ७/१३, ९/१०६, १/१०६, द्रष्टव्य म० सा० अ०, पृ० ४६६

३ छान्दोग्योपनिषद् ६/११/४, शतपथ ब्राह्मण १/८/१/१, द्रष्टव्य वही

४ इम विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ —गीता ४/१

है ।[१] महाभारत मे मनु को विवस्वान् का पुत्र कहा गया है। इन्ही के द्वारा सूर्यवश या मनुवश का उद्गम एव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों का वर्गीकरण हुआ, ऐसा कहा गया है ।[२] गीता मे चार मनु ईश्वर की विभूति माने गये हैं ।[३] विष्णुपुराण मे सभी राजा विष्णु के अशावतार एव मनुवशी कहे गये हैं ।[४] भागवत मे अवतारो की अवधारणा की चर्चा मे ऋषियो और देवताओ के साथ मनु एवं मनुपुत्रो को भी विष्णु का कलावतार कहा गया है ।[५]

उपर्युक्त आख्यानो से इतना तो स्पष्ट लक्षित होता है कि चौबीस अवतारो की अवधारणा मे गृहीत होने से पूर्व मनु एव मनुवशियों को ईश्वर की विभूति, अश एव कलावतार माना जा चुका था। भागवत के २४ अवतारो मे इनके अवतारवादी रूप के साथ इनका उपास्य-लीलावतार रूप भी स्पष्ट दिखाई देता है ।[६] क्योंकि इसमे वे स्वायम्भुव आदि मन्वन्तरो मे मनुवश ही रक्षा करते हैं एव साथ ही दुष्ट राजाओ का सहार करते हुए प्रस्तुत किये गये हैं ।[७]

गजेन्द्र हरि अवतार

सभी अवतारो का अवश्य ही कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। गजेन्द्र-हरि अवतार मे भी भक्तोद्धार की भावना के तत्त्व स्पष्ट दिखाई देते हैं। यहाँ पर हमे विष्णु या हरि के उपास्य एव विग्रह रूप के दर्शन होते हैं।

महाभारत मे विष्णु के "हरि" अवतार के साथ ही अन्य स्थल पर कृष्ण के द्वारा हरि अवतार लेने का विवरण मिलता है ।[८] धर्म के चार

---

१ फर्कुहर पृ० ८१, उद्धृत म० सा० अ०, पृ० ४६६

२ महाभारत, आदिपर्व ७५/१३-१४

३ महर्षयः सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भाव मानसा जाता येषा लोक इमा प्रजा ॥ —गीता १०/६

४ इत्येष कथित सम्यङ् मानोर्वंशो मया तव।
यत्र स्थितिप्रवृत्तस्य विष्णोरंशाशका नृपा ॥ —विष्णुपु० ४।२४।१३८

५. भागवत १।३।२७

६ वही, २।६।४५

७ वही, २।७।२०

८ महाभारत, वनपर्व १२/२१

पुत्रों में "हरि" नाम के पुत्र का विवरण "नारायणीयोपाख्यान" में मिलता है।[1] हरे रंग के कारण नारायण को हरि कहा जाता है।[2] गीता में हरि शब्द विश्व रूप में प्रयुक्त हुआ है।[3] विष्णु जब अविद्या और अज्ञान को दूर करते हैं तब हरि कहलाते हैं।[4] विष्णुपुराण में हरि का अवतरण हर्या के गर्भ से बताया गया है।[5]

उपरोक्त तथ्यों से हरि अवतार का गज-ग्राह की कथा से कोई सम्बन्ध परिलक्षित नहीं होता है। परन्तु भागवत के चौबीस अवतारों की अवधारणा में गज-ग्राह से सम्बद्ध हरि गरुड़ पर चढ़कर हाथ में चक्र लिए गज की रक्षा करते प्रतीत होते हैं।[6]

इस प्रकार एक ओर तो हरि की हरिणी-गर्भ से उत्पत्ति बताई गई है तो दूसरी ओर हरि के उपास्य एवं विग्रह रूप का वर्णन किया गया है। गजेन्द्र हरि अवतार में एक विशेषता यह परिलक्षित होती है कि अन्य अवतारों में तो विष्णु गो, देवता एवं पृथ्वी की पुकार पर विभिन्न रूपों में प्रकट होकर रक्षा करते हैं पर गजेन्द्र-हरि में साक्षात् हरि एक पशु की प्रार्थना पर प्रकट होकर उसका उद्धार करते हैं।

---

१ महाभारत, शान्तिपर्व ३३४/८-९

२ वही, शान्तिपर्व ३४२/६८

३ एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ —गीता ११/९
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ —वही १८/७७

४ कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः ।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः ॥
—विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् संख्या ८२

५ तामसस्यान्तरे चैव सम्प्राप्ते पुनरेव हि ।
हर्यायां हरिभिस्सार्धं हरिरेव बभूव ह ॥ —विष्णुपुराण ३/१/३९

६ अन्तः सरस्युरुबलेन पदे गृहीतो ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः ।
आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय
श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेयश्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः ।
चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्माद्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार ॥
—भागवत २/७/१५-१६

१३. अवतारवाद के मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य पुरातन काल से ही सृष्टि के मूल में एक अज्ञात शक्ति का दर्शन करता रहा है और उसे सृष्टि का मूलाधार मानता रहा है। वह सृष्टि के सृजन (रचना) और संहार की प्रक्रिया को भी उसी अज्ञात शक्ति के द्वारा घटित मानता है, कालान्तर में यही अज्ञात शक्ति ईश्वर कही जाने लगी। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह दुःख, पीडा और अत्याचार के क्षणो मे किसी उद्धारक की शरण मे जाना चाहता है। वह आत्म-सुरक्षा के लिए सबल शरण की खोज प्राणीय स्वभाव है, अपने से सबल की शरण की खोज की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि एक ऐसी सबल सत्ता को नही खोज लिया जाता है, जिससे ऊपर अन्य कोई न हो और जिसे कोई भी पराजित नही कर सकता, मनुष्य ने यह माना कि ऐसी सबसे सबल शक्ति ईश्वर ही हो सकता है, अत उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिए। सबल के शरण की यह खोज ही अवतारवाद की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक आधार है। मनुष्य यह मानने लगता है कि जब भी वह अत्यन्त दुःख, पीडा और अत्याचार के क्षणो में होगा उसका उद्धारक आकर उसकी रक्षा करेगा, अवतार का, जो दुष्टो का सहारक और सज्जनो का रक्षक कहा गया है, उसके पीछे मूलभूत भावना व्यक्ति के आत्म-सरक्षण की है मनुष्य ने जब अपने आपको आत्मसरक्षण में अक्षम पाया तो उसने एक त्राता के रूप मे दैवीय शक्ति ईश्वर की खोज की और यह मान लिया कि वह दैवीयशक्ति या सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपने भक्तो की पीडा को दूर करने के लिए उच्चतम लोक से मानव भूमि पर अवतरित होकर उसकी रक्षा करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ईश्वर हमारी आस्था और भावना का केन्द्र होता है। वह मनुष्य को उसमे निहित भय की मूल प्रवृत्ति से छुटकारा दिलाकर साहस प्रदान करता है, ईश्वर के प्रत्यय का यही मनोवैज्ञानिक मूल्य है। अनुभव के क्षेत्र मे हम यह पाते है कि सकट के क्षणो में अथवा भयावह स्थितियो मे ईश्वर के प्रति व्यक्ति का यह अटूट विश्वास ही उसे उन कष्टो से उबार लेता है। मनुष्य के मन मे एक ऐसा आत्म विश्वास जागृत हो जाता है कि वह इन कठिन परिस्थितियो से जरा भी नही घबराता है। जिस प्रकार एक बालक अपने माता-पिता की उपस्थिति का अनुभव कर साहस के साथ सघर्ष करता है, उसी प्रकार व्यक्ति भी ईश्वर के प्रति अपनी दृढ आस्था के कारण सकट के क्षणो मे उसकी उपस्थिति का

अनुभव कर अपने साहस के द्वारा उनपर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य को भय से विमुक्ति दिलाने के लिए, उसमे साहस का संचार करने के लिए तथा उसकी भावनाओ को चरम अभि-व्यक्ति देने के लिए ईश्वर की अवधारणा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण है।

१४. अवतारवाद की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मनुष्य के मन का नैतिक द्वन्द्व भी उसे ईश्वर मे आस्था रखने के लिए प्रेरित करता है। यह नैतिकता के जीवन्त आदर्श के रूप मे ईश्वर को ग्रहीत करता है। इस प्रकार शिवत्व रूप ईश्वर मे विश्वास नैतिक आदर्श की अनुभूति का युक्तिकरण (Intellectualisation) है। कभी-कभी मनुष्य यह अनुभव करता है कि जब तक ईश्वर मे विश्वास नही करता, उसके आदेशो के अनुरूप आचरण नही करता, तब तक उसका कल्याण नही हो सकता। यही विश्वास नैतिक चरित्र को सुदृढ करता है। इसी को मनोवैज्ञानिक 'इच्छा-पूर्ति'' (wishfulfilment) की प्रक्रिया मानते हैं।

धार्मिक भावनात्मक अनुभूति का एक अग भी है। राबर्ट एच० थाउलेस ने आस्था, विश्वास, भावना एव सवेग के द्वारा ईश्वर के प्रत्यय का विश्लेषण किया है। उसने धार्मिक अनुभूति के तीन रूप माने हैं।[1]

१ पाप से क्षम्य होने को भावना।

२ प्रत्यक्ष अनुभूति।

३ विश्वास को निश्चयता।

(१) पाप से क्षम्य होने की भावना

मनुष्य मे निहित पशुत्व अथवा उसकी वासनायें उसे अपनी येन-केन-प्रकारेण पूर्ति के लिए विवश करती है। वासनामय जीवन मे ही पाप की अवधारणा का जन्म होता है। मनुष्य की यह विवशता है कि कितना भी प्रयत्न करे, किन्तु वासनामय जीवन से एकदम ऊपर नही उठ सकता। किन्तु वासनाओ को पूर्ति उसके मन मे यह भाव भी जागृत करती है कि वह पापी है, इस स्थिति मे वह एक ऐसी सत्ता की खोज करता है जो निष्कपट हृदय से उसके सामने प्रस्तुत होने पर, उसके पापो को क्षमा कर सके। पाप करना मानवीय प्रकृति की व्यवस्था है, किन्तु वह उससे मुक्त होना भी चाहता है और यही वह एक ऐसे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है जो उसके पापो को क्षमाकर, उसका उद्धार कर सके।

---

१ साइकॉलाजी एण्ड रिलीजन (युग), पृ० ४०

ही ईश्वर की अवधारणा की रचना की है। जिसके परिणामस्वरूप उनके ईश्वर सम्बन्धी दृष्टिकोणों और विचारों में बहुत विभिन्नता रही है। फ्रायड स्वयं ईश्वर में विश्वास नहीं करता है, फिर भी वह प्राचीनतम ईश्वर की अवधारणा से अवश्य प्रभावित हुआ है।[1] धार्मिक मनोवृत्ति को एडलर ने एक प्रकार की कायरता कहा है, क्योंकि कुछ लोग अपने दुःख को ईश्वर के ऊपर फेंकना चाहते हैं, इसका कारण यह है कि वे उसे अत्यधिक विश्वास एवं श्रद्धा से पूजते हैं तथा उससे व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सम्बन्ध भी जोड़ते हैं।

धर्म एवं ईश्वर के प्रति अविश्वास रखने वाले इन मनोवैज्ञानिकों के अलावा युग और मैक्डूगल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिनकी धर्म और ईश्वर के प्रति आस्था रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ईश्वरीय अवतरण की अवधारणा कठिनाई के क्षणों में मनुष्य में एक आत्मविश्वास उत्पन्न करती है तथा यह विश्वास दिलाती है कि वह नितान्त एकाकी नहीं है कोई अदृश्य शक्ति उसकी सहायक है, जो उसके उद्धार हेतु प्रयत्नशील है तथा विश्व को दुष्टों से त्राण दिलाती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवतारवाद का मूल्य यही है कि यह मनुष्यों में एक ऐसा विश्वास जागृत करता है, जिसके कारण मनुष्य कठिनता के क्षणों एव पीडा तथा अत्याचार की दशा मे अति निराश नही होता है।

१५. अवतारवाद की अवधारणा का वैज्ञानिक विश्लेषण

आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान के विकास के फलस्वरूप तथ्यो का अध्ययन वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रणाली से किया जाने लगा है, यो तो विज्ञान एव मनोविज्ञान दोनो का क्षेत्र पृथक् पृथक् है फिर भी अध्ययन विधि की दृष्टि से दोनो का एक दूसरे पर प्रभाव पडा है।

अवतारवाद की अवधारणा साहित्य, दर्शन, जैवविज्ञान, मनोविज्ञान कला आदि ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओ से सम्बद्ध होने के कारण अपना अन्तर्शास्त्रीय महत्व रखती है।

आज मनोविज्ञान मे मनुष्य की अचेतन और अवचेतन प्रकृतियो का व्यापक अध्ययन हो रहा है। अनेक मनुष्यो की दमित कुठाओ, वासनाओ

---

१ मोजेज मोनो, पृ० २०४

२ अन्डर स्टू० नेचर, पृ० २६३

तथा अतृप्त इच्छाओ के मनोवैज्ञानिक विश्लेपण किये जा रहे हैं। धार्मिको, भक्तो एव कवियो की मनोवैज्ञानिक वृत्तियो का विश्लेषण होने लगा है। इसी क्रम मे उन सस्कारगत मानव-प्रकृतियो का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है जिसने विश्व-साहित्य मे एक बडी पौराणिक परम्परा (Mythic-Tradition) खडी कर दी है। जिस प्रकार मनुष्य की अवचेतन प्रवृतियो को प्रभावित करने मे केवल उसकी अपनी दमित इच्छायें ही नही, अपितु उसका सास्कृतिक परिवेश एव परम्परागत अवधारणाएँ भी कार्य करती है। भारतीय पौराणिक साहित्य मात्र कुछ व्यक्तियो की इच्छा का प्रतिफल न होकर मानवीय सस्कृति की एक इकाई मे निहित पारम्परिक आस्था, विश्वास, सकल्प, समाज-चेतना, राजभक्ति आदि का एक सम्मिलित रूप है। युग ने उसे 'सामूहिक-चेतन' (Collective Consciousness) की सज्ञा प्रदान की।[1] अवचेतन मन मे इन सभी की एकत्रित अवस्था को 'सामूहिक अवचेतन' भी कहा जा सकता है।

इस दृष्टि से यदि पौराणिक साहित्य पर विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि पौराणिक साहित्य के उपादान भी मन के "सामूहिक-चेतन" और "सामूहिक अवचेतन" की तरह विभिन्न युगो के आवरणो मे आवेष्ठित उस सामूहिक चिन्तन धारा को व्यक्त करते हैं, जिसमें अवचेतन मन के विचारो की तरह शृ खलाबद्ध या विशृ खल दोनो प्रकार की परम्परागत अवधारणायें सन्निहित हैं और जो भारतीय साहित्य, दर्शन, विज्ञान, मनोविज्ञान और कला मे पृथक् या मिश्रित सभी रूपो मे व्यक्त हुई हैं। अत अवचेतन का रहस्योद्घाटन करने के लिये जिन मनोवैज्ञानिक विधियो का प्रयोग किया जा रहा है, उन्ही विधियो का प्रयोग पौराणिक तथ्यो के उद्घाटन के लिये भी समीचीन प्रतीत होता है। निश्चय ही इन पौराणिक उपादानो का वैज्ञानिक समाधान खोजने मे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अत विज्ञान या दर्शन के क्षेत्र मे जिन विचारधाराओ को लेते हैं, उनमे से अधिकाश का विश्लेषण और अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यक है।

अवतारवादी धारणा मे कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं जिनका मानवशास्त्रीय ढग से अध्ययन करना अनुचित नही होगा। यद्यपि बाह्यत मानवशास्त्र और अवतारवाद मे कोई वैज्ञानिक सम्बन्ध प्रतीत नही

---

१ युग साइकोलोजी एण्ड इट्स सोशल मीनिंग, पृ० ५३–५४

होता है किन्तु पौराणिक रूढियो और धारणाओ के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिये दोनो का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। अवतारवादी धारणाओ के प्रसग मे आने वाले कतिपय घटनात्मक कार्य व्यापार जैसे, बन्दरो द्वारा निर्मित पत्थरो का पुल, जगल मे निवास की परम्परा, वस्त्रो के रूप मे वृक्षो की छाल एव मृगछाला, वराह द्वारा दात का प्रयोग, नृसिंह द्वारा नख का प्रयोग, वामन के हाथ मे डडा, परशुराम द्वारा परशु (फरसा) का उपयोग, राम द्वारा धनुषबाण धारण आदि उपकरण मानवशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्यो की ओर सकेत करते है। मानवशास्त्र की तरह अवतारवाद की धारणा मे भी विकास प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं और इससे मानव सभ्यता के विकास क्रम का पता चलता है। मानवशास्त्र एव अवतारवाद मे अन्तर केवल इतना है कि आज मानवशास्त्र के उपकरण भूभौतिक, पदार्थगत तथा जीवो से सम्बद्ध है, जबकि अवतार मे अपने युग की विशेषताओ से युक्त प्रतिनिधिक उपादान हैं।

१६. पौराणिक सृष्टि और अवतार

पुराणो मे जो सृष्टि का क्रम पाया जाता है उसमे तत्वज्ञान मनोविज्ञान और जीवविज्ञान सभी का समन्वित रूप है। पौराणिक सृष्टिक्रम की चर्चा में, महाभारत मे भौतिक, वानस्पतिक, जैविक, मानसिक और आध्यात्मिक सृष्टियो के उद्धरण मिलते है। भौतिक सृष्टि का विकास कश्यप एव अदिति से सोम (चन्द्र), अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास से माना गया है।[१] वानस्पतिक सृष्टिक्रम मे बरगद, पीपल आदि वृक्षो को रखते हैं। महाभारत[२] मे जैविक सृष्टि के प्रतीक पुलह से शरभ, सिंह, किम्पुरुष, व्याघ्र, रीछ, ईहामृग आदि पाये जाते है। मानसिक सृष्टि के प्रतीक रूप मे कीर्ति, मेधा, श्रद्धा, लज्जा, मति, शान्त, शम, काम और हर्ष-तत्व महाभारत मे उपलब्ध हैं।[३] अन्त में हम विष्णु से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति को आध्यात्मिक सृष्टि का विकास कह सकते है।

श्रीमद्भागवत मे भी सृष्टि के विकासक्रम को उपरोक्त सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। भागवत मे कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व समस्त भूमण्डल जल मे व्याप्त था। मात्र विष्णु ही सभी प्राणियो के

---

१ महाभारत १/६६/१७-१८

२. वही, १/६६/८

३ वही, १/६६/१५, १/६६/२३, १/६६/३२

सूक्ष्म शरीर सहित जल मे निमग्न थे। ऐसे समय मे काल शक्ति ने विष्णु को प्रेरित किया[1], जिसके परिणामस्वरूप अण्डरूप हिरण्यमय विराट-पुरुष का आविर्भाव हुआ[2] और वह विराट पुरुष अनन्त वर्षों तक सम्पूर्ण जीवो को साथ लेकर रहा।[3]

इस प्रकार हम विष्णु को विभुत्व का तो हिरण्यगर्भ को अणुत्व का द्योतक कह सकते हैं। हिरण्यगर्भ मे अणुत्व के द्योतक के रूप मे एक-कोशीय (Nicellar) प्राणी से अनन्तकोशीय प्राणी के रूप मे विकसित होने की सम्भावनायें लक्षित हैं। भागवत मे क्रमश मुख, नाक, आँख, कान, त्वचा एव रोम रूप तनु कोष द्वारा हिरण्यमय पुरुष के शारीरिक विकास क्रम को बताया गया है, जिसमे क्रमश लिंग, वीर्य, गुदा, हाथ, चरण आदि भी उत्पन्न हुये[4], तथा बुद्धि, अहकार द्वारा उसके मानसिक विकास को परिलक्षित किया गया है।

महाभारत की तरह भागवत मे भी सृष्टि के विकास क्रम को निम्न रूपो मे बाँटा जा सकता है—

१. महत्
२. अहकार
३ भूत
४. इन्द्रियाँ
} यह आध्यात्मिक सृष्टि के तत्व हैं।[5]

५ सात्विक अहकार (मन)

६ अविद्या, तम, मोह, आदि से जीवो के मानसिक विकास पर प्रभाव पडता है।[6]

७ वृक्षो एव लताओ से वानस्पतिक विकास परिलक्षित होता है।

८ पशु-पक्षियो
९ मनुष्यो
} के विकास को जैविक सृष्टि कह सकते हैं।[7]

---

१ भागवत ३/९/१०
२ वही, ३/६/८
३ वही ३/६/६
४ वही ३/६/१८–२१
५ वही, ३/१०/१४–१६
६ वही, ३/१०/१७
७ वही, ३/१०/२१८–२२

१० इस सृष्टि मे देवता, पितर, असुर, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, सिद्ध, चारण, विद्याधर, भूत-प्रेत, पिशाच, किन्नर (हयमुख), किम्पुरुष (तुच्छ मानव) आदि से मानी गई है।

उपरोक्त सृष्टि क्रम से एक बात तो स्पष्ट नजर आती है कि इस सृष्टि क्रम से युग क्रम का बोध स्पष्ट नही होता, किन्तु वनस्पतियो एवं पशुओ के अनन्तर अश्व-मुख "किन्नर" तथा विकृत मानव "किम्पुरुष" हमे क्रमश एन्थ्रोप्वायड और ह्यूमनोआयड युग का भान कराते हैं। इनसे आदिम के विकास क्रम को जान सकते हैं। पशुओ की अपेक्षा मनुष्यो मे शब्दो एव भाषाओ को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। इससे सृष्टि विकास का कोई क्रम स्पष्ट नही प्रतीत होता, किन्तु पौराणिक अवतार, सृष्टि प्रक्रिया और विकास के युग क्रम का द्योतन करते हैं।

विदुषी एनी वेसेंट ने अपनी अवतार नामक पुस्तक मे अवतारो का निम्न क्रम मे युग विभाजन किया है—

१ मत्स्ययुग (Silurian Age)
२. कूर्मयुग (Amphibian Age)
३. वराहयुग (Mammalian Age)
४ नृसिंह युग (Lemurian Age)

इसी प्रकार उन्होने वामन आदि मानव अवतारो को विभिन्न विकास युगो के परिचायक रूपी में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

प्रसिद्ध जीवशास्त्री श्रीमानी ने अपनी पुस्तक Introduction to Zoology मे प्रचलित प्रत्येक अवतार को अपने युग विशेष का द्योतक कहा है।[1] इनके मतानुसार कूर्म सरीसृप (Reptile—रेंगने वाले) युग, वामन—Pigmy anthropoids परशुराम—Primitive man or hunter राम-धनुषधारी या Marked man etc तथा कृष्ण और बुद्ध परिष्कृत मानव के सूचक हैं। मानवशास्त्री श्री सत्यव्रत ने अपनी पुस्तक "मानव-शास्त्र" मे भी अवतारवादी क्रम प्रस्तुत किया है। इनके मतानुसार प्रथम जलजीव मत्स्य, जल-थल मे रहने वाला जीव कूर्म, जलप्रिय पशु-वराह, पशु-मानव मिश्रित रूप—नृसिंह, बौना मानवरूप—वामन, पूर्ण मानव प्रत्यय राम और कृष्ण बताये गये हैं।[2] इस प्रकार उपर्युक्त विभाजनो मे अवतारवादी विकास क्रम दर्शाया गया है।

1 Introduction to Zoology, p 709

२. मानवशास्त्र, पृ० ४८

१७. पौराणिक प्रतीक और विकासवादी उपादान

प्राकृतिक विज्ञानो के विकास और अवतारवादी विकासवाद में प्रमुख साम्य यह है कि दोनो में सूर्य से पृथ्वी का अवतरण और पृथ्वी पर जल-जीवो का आविर्भाव, जल-जीवो से जल पशु, जल-पशु से जल-स्थल उभय पशु, उभय पशु से सरीसृप पशु-पक्षी, सरीसृप से पशु, पशु से पशु-मानव, पशु-मानव से मानव, मानव से मेधावी मानव के आविर्भाव का क्रम मिलता है। दोनो अध्ययन-पद्धतियो मे अन्तर यह है कि प्राकृत विज्ञान वेत्ता एवं मानवशास्त्री जहाँ भूगर्भशास्त्र के द्वारा वस्तुनिष्ठ भौतिक पदार्थों या स्थूल शारीरिक पक्षो के विश्लेषण द्वारा सृष्टि या मानव सभ्यता का विकास निर्धारित करते हैं। वहा वैज्ञानिक दृष्टि से पौराणिक कथाओ के अध्ययन-कर्ताओ, विभिन्न युगो के अवतारो के प्रतिनिधि प्रतीको के द्वारा अथवा उनकी शारीरिक सम्पन्नता और आत्मिक शक्तियो के आधार पर उनके विकास क्रम का निर्धारण करते हैं।

प्राकृतिक विज्ञान से प्राणी-विज्ञान तथा प्राणी-विज्ञान से मानव-विज्ञान या मानवशास्त्र का विकास हुआ है। प्राणी विकास के वैज्ञानिक अध्ययन का आधार वे फासिल्स (अस्थि कंकाल) हैं जो चट्टानो में दबे हुए मिलते हैं। इन्ही अस्थि अवशेषो के अध्ययन से प्राणीय विकास के अध्ययन मे सहायता मिलती है। इस प्रकार विकासवादी अध्ययन के लिए पाई गई पशुओ, वानरो, वनमानुषो और मनुष्यों की वे हड्डियाँ और खोपड़ियाँ हैं, जिनके आकार, प्रकार, कठोरता आदि के आधार पर वैज्ञानिको ने प्राणियो का विकास क्रम निर्धारित किया है। आगे चलकर उनकी आदतो, कार्यो, स्वनिर्मित आयुधो, संगठनो रीति-रिवाजो, धर्म, कला, एवं विज्ञान आदि के आधार पर विकास क्रम को जाना गया है।

१८. अवतार-प्रतीक सन्धियुग के द्योतक

अवतारवादी परम्परा मे जो प्रतीक हुए हैं, वे जीव युग के विशेष प्रतिनिधि होने की अपेक्षा दो या दो से अधिक भूगर्भीय युगो के सन्धि-काल के प्रतिनिधि अधिक दिखाई देते हैं। जिस प्रकार लघुरूप मत्स्य का बढते-बढते बृहदाकार "एक शृंगतनु" रूप होना दो भूगर्भीय सन्धि-काल का द्योतक प्रतीक होता है। इस बृहदाकार मत्स्य में मत्स्य पूर्व और मत्स्य युग दोनो की विशेषतायें विद्यमान हैं। इसी प्रकार कूर्म भी मत्स्य युग और सरीसृप युग के बीच का प्रतिनिधि प्रतीत होता है

क्योकि उसमे दोनो युगो की विशेषताएँ मौजूद हैं अर्थात् वह जल एव स्थल दोनो जगह रह सकता है। वराह मे भी सरीसृप (रेंगने वाले) युग के अन्तिम अवस्था के गुण—पेट का बडा होना, मुँह का लम्बा होना तथा "मैमिलियन' युग के पावो से दौडना तथा दुग्धपान कराना आदि गुण "रेपिटिलियन" और "मैमिलियन" युगो के सन्धिकाल के द्योतक प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार "नृसिंह" में "मैमिलियन" और "ऐन्थ्रोपोआयड" युग के सन्धिकाल के गुण अर्द्ध-पशु और अर्द्ध-मानव प्रतीत होते हैं। 'वामन' 'ऐन्थ्रोपोआयड' प्राणी के आकार का लघुमानव रूप का द्योतक है।

प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विज्ञानवेत्ता पूर्वपाषाण युग और नवपाषाण युग के बीच मे एक सन्धि पाषाण युग (Mesolithic Period) मानते हैं।[1] इस युग तक मानव शिकारी-अवस्था के पश्चात् पशु-पालन एव आंशिक कृषि अवस्था तक पहुँच चुका था। परशुराम इसी युग के प्रतीक थे। गाधि को ऋचीक द्वारा दिये अश्व तथा कामधेनु को लेकर परशुराम-सहस्रबाहु युद्ध पशु-पालन को द्योतित करते हैं।

राम युग में जन जाति पराक्रम के विकसित और अविकसित ऐसे दो रूप मिलते हैं जिनमे परस्पर सघर्ष होते रहते थे। इस युग मे इन दो संस्कृतियो के समन्वय से आदर्श राजतन्त्र की स्थापना हुई। इस प्रकार राम पशुपालन युग और कृषि प्रधान राजतन्त्रीय समाज व्यवस्था के सन्धि काल के प्रतीक कहे जा सकते हैं। राम का काल आर्य और द्रविड संस्कृतियो के समन्वय का काल भी माना जा सकता है। कृष्ण के युग तक राजतन्त्र का बहुत ही विकास एव प्रसार हो चुका था तथा जनतन्त्र का प्रारम्भ हो गया था। कृष्ण का अवतरण अनेक राज्यो के स्वार्थपरक संघर्षों के काल में होता है। इस प्रकार कृष्ण सामन्तवाद एव साम्राज्य-वाद के सन्धि युग के प्रतीक विदित होते हैं। जब मानवीय भोग-लिप्सा एव भौतिक उपभोग्य सामग्रियो की प्रचुरता ने मानव की तृष्णा को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया, तब उस सम्पृक्त बिन्दु पर पहुँच कर भोगासक्त मानव में अहिंसा और अनासक्ति की भावना का उदय हुआ, बुद्ध इसी अवस्था के प्रतीक हैं। इस युग के परिचायक महावीर, कन्फ्यू-सियस, ईसा, जरथुस्त्र इत्यादि भी कहे गये हैं।

---

१ मानवशास्त्र, पृ० १००

वर्तमान युग मे अनैतिक एव भौतिक कामनाओ की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत एव सामूहिक प्रयत्न हो रहे हैं। इन स्वार्थो के पीछे आणविक युद्ध के बीज छिपे हैं और मानव जाति का सहार अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। सम्भव है कि युद्ध के समाप्ति पर कल्कि का अवतार सस्कृति एव सभ्यता मे नयी प्रवृत्तियो की चेतना का उदय करे। इस प्रकार विभिन्न अवतार युग परिवतन की विभिन्न अवस्थाओ के द्योतक हैं। यदि हम अवतारो की अवधारणा को जैविक विकास के आधार पर स्पष्ट करना चाहें तो हमें उसके पूर्व सृष्टि के विकास की प्रक्रिया का किसी सीमा तक समझना होगा। क्योकि सृष्टि विकास की इस प्रक्रिया मे भौतिक एव वानस्पतिक विकास के पश्चात् ही जविक और आध्यात्मिक विकास का क्रम आता है।

१९. अवतारवाद का दर्शन

अवतारवाद की अवधारणा की तात्त्विक पूर्व मान्यता (Postulate) यह है कि परमसत् चेतन है, क्योकि एक चेतन सत्ता ही विश्व के प्राणियो के प्रति करुणाशील होकर उनके उद्धार के लिए प्रयत्नशील हो सकती है। साथ ही उस परमसत्ता का "परिणामी" होना आवश्यक है क्योकि यदि परमतत्त्व चैतन्य होते हुए भी निर्विकार और कूटस्थ होगा तो भी 'अवतार की अवधारणा' सम्भव नही है। क्योकि ऐसी अपरिणामी शुद्ध चेतन सत्ता का शरीर धारण करना सम्भव नही है। शरीर धारण करना और विश्व के प्राणियो के सुख दु ख से प्रभावित होकर उनके प्रति करुणाशील होना किसी परिणामी चेतन सत्ता के तात्त्विक अवधारणा मे ही युक्तिसगत हो सकता है। निर्विकार चेतन तत्त्व करुणा, सकल्प या इच्छा से भी रहित होता है और बिना इच्छा के उसका अवतरण और शरीर धारण सम्भव नही होगा। अत अवतारवाद की अवधारणा का यह अनिवार्य फलित है कि परमतत्त्व—परम कारुणिक चेतन एव परिणामी है। यही कारण है कि अवतारवाद की धारणा रामानुज, वल्लभ, मध्व आदि के दर्शनो मे ही युक्तिसगत सिद्ध है। शकर के अनुसार परमसत्ता चैतन्य तो है किन्तु वह निर्विकार है अत उसमे अवतरण जो कि स्वत ही एक परिवर्तन है सम्भव नही होता। शकर के निरपेक्ष अद्वैतवादी दार्शनिक चौखटे मे अवतारवाद की अवधारणा को सुसगत बनाने के लिए अवतार को माया से युक्त मात्र व्यावहारिक सत्ता मानना होगा। अवतारवाद की अवधारणा के लिए यह भी आवश्यक है कि परमतत्त्व या ईश्वर सगुण एव साकार भी है। यही कारण था कि परवर्ती निर्गुणधारा के सन्तो ने अवतारवाद की समा-

हूँ जैसे कि कठपुतली की गतिविधिया उसके चालक द्वारा सचालित होती हैं। रामचरितमानस मे अनेक स्थानो पर इस प्रकार से नियतिवाद के दर्शन होते हैं। उसमे कहा गया है कि—

उमा दारु योषित की नाई, सवहि नचावत राम गोसाई।

अथवा

होईहै वही जो राम रचि राखा, को कर तरक वडावहि साखा।

अवतारवादी दर्शन मे कभी कभी तो यह नियतिवाद का पक्ष इतना प्रवल हो जाता है कि स्वय अवतारवाद भी नियति का एक घटनाक्रम वन जाता है तथा सर्वसमर्थ परमतत्व भी उन्ही स्थितियो से गुजरता है जिनसे एक सामान्य मानव को गुजरना होता है। अवतारवादी विचारको ने राम-कृष्ण आदि के जीवन की अनेक घटनाओ का तर्कसगत समाधान अन्तत नियति को अवधारणा मे खोजने का प्रयास किया है।

अवतारवाद के दर्शन मे पुरुषार्थ का तत्त्व कम होकर नियति की प्रधानता इसलिए भी हो जाती है कि मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक मे विश्वास करने लगता है जो करुणाशील होकर उसे दु ख, पीडा और अत्याचार से मुक्त करावेगा। अवतारवादी दर्शन मनुष्य को ईश्वर का आश्रित वनाता है और उसे पूर्णतया ईश्वर के प्रति समर्पित होने की बात कहता है। आश्रितता और समर्पण को इस भावना मे पुरुषार्थ का तत्त्व प्रधान नही वन पाता। यद्यपि गीता मे हमे आत्मा द्वारा आत्मा के उद्धार का सकेत मिलता है किन्तु उससे आगे बढकर गीता मे स्वय कृष्ण यह कहते हैं कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मान मत्परायण ॥[1]

तव हम पुरुषार्थ की प्रधानता नही देखते। अवतारवाद का दर्शन केवल हमे इतना ही सिखाता है कि हमे ईश्वरीय इच्छा का एक यन्त्र बनकर कार्य करना है।

पुन अवतारवाद को अवधारणा मे ज्ञान, भक्ति और कर्म मे भक्ति ही प्रधान स्थान को प्राप्त करती है। यदि ज्ञान और कर्म के महत्त्व को स्वीकार भी करें, फिर भी हमे इतना तो मानना होगा कि उसमे भक्ति

१ गीता, ९/३४

का तत्त्व प्रधान होता है। उसमें ज्ञान और कर्म दोनों ही भक्ति के आधीन होते हैं। अतः यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए कि अवतारवाद का दर्शन मूलतः भक्तिमार्ग का दर्शन है। उसमें भक्ति का स्वर ही प्रमुख है, वहाँ ज्ञान की प्राप्ति भी ईश्वरीय करुणा पर निर्भर है। अवतारवाद की अवधारणा में व्यक्ति का कार्य तो केवल इतना ही है कि वह ईश्वरीय लीला में उसकी इच्छा के अनुरूप उस लीला का पात्र बने और ईश्वरीय इच्छा के अनुसार अपने दायित्वों का निर्वाह करे। व्यक्ति के स्वतन्त्र इच्छा एवं स्वतन्त्र दायित्व प्रणाली का उसमें कोई स्थान नहीं।

यद्यपि इन कमी के बावजूद अवतारवाद के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह दुःख, पीड़ा और अत्याचार की दशा में भी साहस और संबल प्रदान करता है एवं उसे निराश होने से बचाता है। जो साधक अवतार के इस सिद्धान्त में निश्चल धारणा रखता है, वह निराश नहीं होता है। वह यह मानकर चलता है कि ईश्वरीय सत्ता उसके साथ है और वह निश्चय ही उसका उद्धार करेगी। अतः हमें इतना तो अवश्य मानना होगा कि अवतारवाद एक निराशावादी दर्शन न होकर एक आशावादी दर्शन है।

२० अवतार का प्रयोजन

प्रारम्भ से ही अवतारवाद प्रयोजन से निहित रहा है। भगवान् ने अपनी इच्छा से शरीर धारण कर विभिन्न लीलाएँ की हैं और उनके विभिन्न शरीर धारण का समस्त व्यापार किसी न किसी प्रयोजन से सम्बद्ध रहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रायः उनके सभी प्रयोजनों को समाविष्ट करने का प्रयास किया है।

सर्वप्रथम वैदिक विष्णु और इन्द्र आदि देवताओं के प्राचीन कार्य की व्याख्या की गई है, अवतार की अवधारणा में इनको विष्णु के अवतारों एवं उनके सहायकों पर आरोपित किया गया। विशेषकर भक्त, भूमि, भूसुर (ब्राह्मण), सुरभि (गाय) और सुर[1] आदि शब्दों से वैदिककाल में विष्णु के सम्बन्ध में कहे गये कुछ मन्त्रों से साम्य प्रतीत होता है।

---

१ भगत भूमि भूसुर, सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज-तनु, सुनत मिटहिं जजाल॥
—तुलसीदास, ग्रन्थावली, पृ० ९५, दो० १२१

ऋग्वेद मे भू शब्द से विष्णु के तीन पादो का क्रम मिलता है जिसके कारण उनको त्रिविक्रम कहा गया है।[१] कुछ मन्त्रो मे विष्णु को जगत् का रक्षक एव समस्त धर्मो का धारक कहा गया है।[२] विष्णु के कार्यों के बल पर ही यजमान अपने व्रतो का अनुष्ठान करते हैं, वे इन्द्र के सखा कहे गए हैं।[३] स्तुति करने वाले और मेधावी मनुष्य विष्णु के उस परम पद से अपने हृदय को प्रकाशित करते हैं।[४] एक मन्त्र मे विष्णु से उन्मत्त शृगवाली और शीघ्रगामी गायो के स्थान मे जाने के लिए प्रार्थना की गई।[५] इसी प्रकार एक मन्त्र मे देवताओ को विष्णु का अश कहा गया है।[६] इन्द्र जब शम्बरासुर को ९९ दृढ पुरियो को नष्ट करते हैं तब विष्णु उनकी सहायता करते हैं।[७]

महाकाव्य काल मे विष्णु के अवतरण का मुख्य प्रयोजन देव-शत्रु का वध करना है।[८] किन्तु गोस्वामी जी के अनुसार विष्णु के अवतार राम का मुख्य प्रयोजन विप्र, धेनु, सुर, सन्त आदि सभी के निमित्त असुरो का

---

१ अतोदेवा अवन्तु नो यतो विष्णु विचक्रमे ।
पृथिव्या सप्त धामभि ॥ —ऋग्वेद १/२२/१६

२ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ —वही, १/२२/१८

३ विष्णो कर्माणि पश्यत य तो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्य सखा ।
—वही, १/२२/१९

४ तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांस समिन्धते । विष्णोर्यत्परम पदम् ॥
—वही, १/२२/२१

५ ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परम पदमव भाति भूरि ॥
—वही, १/१५/४६

६ अस्य देवस्य मीढ हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृथेहविर्भि ।
विदेहि रुद्रो रुद्रिय महित्व यासिष्ट वर्त्तिरश्विनाविरावत् ॥
—वही, १/४०/५

७ ऋग्वेद, ९/९९/५

८ 'वधाय देव शत्रूणा नृणा लोके मन करु ।
एव मुक्तस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुगव ॥'
—वाल्मीकि रामायण, १/१५/२५

वध करना है।[1] गीता मे धर्म के पतन का कारण असुरो का उत्थान कहा गया है और धर्म की रक्षा ही मुख्य प्रयोजन है। इस प्रकार गीता में धर्मोत्थान के लिए अवतार को आवश्यक माना गया है।[2] गीता और रामचरितमानस मे पुन साधुओ के परित्राण दुष्टो के विनाश और धर्म की सस्थापना को युग-युग मे आवश्यक माना गया है।[3] वैदिक, महाकाव्य और गीता तीनो मे ही असुरो का विनाश मूलरूप मे उनके अवतार का प्रयोजन रहा है, फिर भी इन पर समय समय पर सम्प्रदाय विशेष का स्पष्ट प्रभाव प्रदर्शित होता है। वैदिक काल मे विष्णु पहले महान् देवता के रूप में थे अन्त मे वे उपास्य रूप मे ग्रहीत होते गए और इनका सम्बन्ध भक्ति, भक्त और भाव से होता गया, जिसके फलस्वरूप विष्णु या उनके अवतार का मुख्य प्रयोजन अहेतुक[4] अथवा भक्तो के प्रेमवश[5] या भक्तिवश[6] प्रतीत होता है। इस प्रकार अवतारवाद और भक्ति का समन्वय पुराणो मे जगह जगह देखने को मिलता है। भक्त के निमित्त अवतारवाद की अवधारणा यद्यपि अधिक प्रचलित हुई फिर भी पुराणो मे वेद, ब्राह्मण, देवता, पृथ्वी और गोरक्षा की भावना विद्यमान रही है।

---

१. "विप्र धेनु सुरसंत हित लीन्ह मनुज अवतार।
असुर मारि थापहि सुरन्ह राखहि निज श्रुति सेतु ॥"
जगविस्तारहि विपद जस राम जन्मकर हेतु ॥" —रामचरितमानस।

२ "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥" —गीता, ४/७

३ "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥" —वही, ४/८
"जब जब होई धरम की हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुत धरनी।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥"
—रामचरितमानस।

४ हेतु रहित जग जगु उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।
—वही

५ हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना। —वही

६ व्यापक विश्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥ —वही

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर अवतारवाद में भक्ति का प्राधान्य रहा है तो दूसरी ओर विष्णु और उनके रामकृष्णादि उपास्य रूपो का भी प्रचलन रहा है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप एक ओर विष्णु ने असुरो का सहार किया तो दूसरी ओर जय-विजय राक्षस विष्णु-पार्षद एव द्वारपालो के अवतार माने गये। "भागवत" की एक कथा के अनुसार सनकादि के शाप के कारण उनका अवतार हुआ।[1]

इस प्रकार अवतार का मुख्य प्रयोजन असुरो का विनाश एव धर्म की सस्थापना करना रहा है।

२१. अवतार की धार्मिक एवं सामाजिक उपादेयता

१ किसी व्यक्ति को ईश्वरीय अवतार अथवा ईश्वरीय अश मानकर उसके उद्देश्यो एव तार्किक सिद्धान्तो की प्रमाणिकता दी जा सकती है, क्योकि ईश्वर का अवतार होने से उसके वचन प्रमाण होंगे।

२ किसी व्यक्ति को ईश्वर का अवतार मानकर उसके प्रति धार्मिक आस्था को बलवती बनाया जा सकता है।

३ किसी सम्प्रदाय या धार्मिक परम्परा मे धार्मिक विश्वासो एव मान्यताओ को उसके आधार पर पुष्ट किया जा सकता है तथा मनुष्य को उसके प्रति अधिक श्रद्धालु बनाकर किसी धार्मिक सम्प्रदाय को जीवित या खडा किया जा सकता है।

४ किसी व्यक्ति के ईश्वरावतार होने पर उसके आसपास उपासको एव भक्तो का ऐसा समूह खडा हो जाता है, जो उन भक्तो मे एक विशेष प्रकार की सामाजिक चेतना को जागृत करता है, उसके प्रति आस्थावान व्यक्ति आपस मे एक दूसरे के प्रति भाई-चारे का व्यवहार करते हैं और इस प्रकार एक समाज सृजित होता है।

५ मनुष्य स्वभावत जब भी कठिनाई, पीडा या अत्याचार का शिकार होता है तो किसी आश्रय या सहारे की खोज करता है और ईश्वर की ओर विशेष रूप से, ऐसी स्थिति मे ईश्वर की अवधारणा उसे मनोवैज्ञानिक सबल प्रदान करती है। उसे यह विश्वास होता है कि कोई ऐसी शक्ति है जो उसके अथवा मानव समाज के उद्धार हेतु पृथ्वी पर अवतरित होगी।

---

१. भागवत ३/१५

तथ्य को और स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार कर्म मे आसक्त हुए समारी, अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं उसी प्रकार विद्वान् को भी लोक कल्याण के लिए अनासक्तभाव से कर्म करना चाहिए।[1] गीता स्पष्टरूप से इस वात का भी प्रति पादन करती है कि लोककल्याण के लिए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह लोगो को कर्म से विमुख न करे अपितु उन्हे योग्य विधि मे कर्म करने हेतु प्रेरित करे।[2] इस प्रकार सामान्य रूप से समग्र हिन्दू धर्म का विशेष रूप से गीता का यह सकेत है कि लोक मगल के लिए कर्म करना ईश्वर का और ज्ञानी जनो का अनिवाय कर्तव्य है। यद्यपि व्यक्ति लोकमगल के लिए कर्म नही करता है तो वह लोक का विनाश करने वाला माना जाता है। ईश्वर भी लोकमगल के लिए समय समय पर अवतार लेकर लोक के हित का साधन करते हैं।[3] उसके भी मूलभूत दो उद्देश्य हैं प्रथम तो लोक का कल्याण करना और दूसरा ससार के सम्मुख एक आदर्श स्थापित करना जिससे लोग लोककल्याण से विमुख न बनें। श्रीकृष्ण का यह कहना कि यदि लोकमगल के लिए कार्य न करूँ तो लोक का विनाश करने वाला वनूँ, बहुत ही महत्वपूर्ण सकेत देता है। वह एक ओर स्वयं लोकमगल को साधता है तो दूसरी ओर अपने जीवन मे लोगो के सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित कर देता है जिससे अन्य जनो के लिए भी लोकमगल की प्रेरणा मिले।

२३. अवतारवाद में भक्तितत्त्व या श्रद्धा का प्राधान्य

गीता मे श्रद्धा या भक्ति को प्रथम स्थान दिया गया है। गीताकार का कथन है कि श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त करता है अथवा ज्ञान का अधिकारी है।[4] यद्यपि ज्ञान की महिमा का विशद् विवरण गीता मे

---

१ "सक्ता कर्मण्यविद्वासो यथा कुर्वन्ति भारत
कुर्याद्विद्वास्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥"—गीता, ३/२५

२ "न बुद्धिभेद जनयेदज्ञाना कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्त समाचरन् ॥"—वही, ३/२६

३ "कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय ।
लोकसग्रहमेवापि सपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥"—वही ३/२०

४ "तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते ॥"—वही, १०/१०

उपलब्ध है फिर भी ज्ञान श्रद्धा से ऊपर अपना स्थान प्राप्त नही कर सका वल्कि श्रद्धा पर आश्रित माना गया, श्रद्धाशील को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण स्वय कहते हैं कि निरन्तर मेरे ध्यान मे लीन और प्रीतिपूर्वक भजने वाले लोगो को मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त कर लेते हैं।[1] इस प्रकार हम ज्ञान को श्रद्धा का प्रतिफल कह सकते हैं। अत गीता का मन्तव्य है कि यदि साधक श्रद्धा या भक्ति का सम्वल लेकर साधना के क्षेत्र में आगे बढे तो उसे ईश्वरीय दया के रूप मे ज्ञान प्राप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते है कि श्रद्धायुक्त भक्तजनो पर कृपा करने के लिए मैं स्वय उनके अन्त करण में प्रवेश कर ज्ञानरूपी प्रकाश से अज्ञानजन्य अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ।[2]

भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है और भक्ति या समर्पण भाव से किया गया कर्म भी वन्धन नही होता है। निष्काम कर्म वस्तुत. समर्पण या भक्ति से नि सृत कर्म है।

वस्तुत गीता में कर्म और ज्ञान को भक्ति से जोडने का प्रयत्न किया गया है। गीता कहती है कि कर्मफल को ईश्वर को अर्पित करते हुए जीव को कर्म करना चाहिए।

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ।"[3]

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरत· ससिद्धि लभते नर. ।"[4]

अपने-अपने कर्म मे लगा हुआ मनुष्य सिद्धि या मुक्ति को प्राप्त करता है। कर्म करते समय उसकी भावना यह होनी चाहिए कि वह अपने कर्मों द्वारा भगवान् की अर्चना (पूजा) कर रहा है अथवा दैवी आदेश के रूप मे कर्म कर रहा है। इसी मे कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का समन्वय है।

गीता मे स्वय श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मेरे लिए ही कर्म करने वाला, आसक्तिहीन, सब प्राणियो मे वैर-रहित मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त

---

१ गीता, १०/१०

२ "तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानज तम ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।"—वही, १०/११

३ वही, १८/४६

४ वही, १८/४५

होता है।[1] अत "तू मेरे मे मन लगा और मेरे मे ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त तू मेरे मे ही निवास करेगा अर्थात् मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमे कुछ भी सशय नही है।"[2] मेरा आश्रय लेने वाला पुरुष सारे कर्मों को करता हुआ भी मेरे अनुग्रह से शाश्वत पद को प्राप्त होता है।[3] हे अर्जुन, तुम सब धर्मो अर्थात् वर्णाश्रम धर्मो को त्यागकर सिर्फ मेरी शरण मे आओ, मैं तुम्हे सारे पापो से मुक्त कर दूंगा, तुम सोच मत करो।[4] यहाँ हमे भक्ति की प्रधानता स्पष्टरूप से दृष्टिगत होती है।

२४. अवतारवाद के सन्दर्भ में नियति और पुरुषार्थ

दार्शनिक दृष्टि से अवतारवाद की अवधारणा के साथ नियति और पुरुषार्थ का प्रश्न भी जुडा हुआ है। अवतारवाद मे सामान्यतया ईश्वर को विश्व का सचालक और नियामक मान लिया जाता है। जब ईश्वर विश्व का नियामक और सचालक है साथ ही सर्वशक्तिमान भी है तो फिर स्वाभाविक रूप से विश्व के सारे क्रिया-कलाप उसी की इच्छा या लीला के परिणाम हैं। गीता[5] मे श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियो के हृदय मे स्थित होकर सभी प्राणियो को उसी प्रकार भ्रमण कराता है जिस प्रकार यन्त्र पर आरूढ कठपुतली भ्रमण करती है, इसी बात को तुलसीकृत रामचरितमानस मे निम्न शब्दो मे कहा गया है—

उमा दारु जोषित की नाई। सबहि नचावत रामु गोसाई।

हम उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार करके यह मान लेते हैं कि समग्र विश्व ईश्वरीय इच्छा से सचालित है तो हमे अनिवार्य रूप से इस बात को भी स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता नही है।

---

१ गीता, ११/५५

२ "मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न सशय॥"—वही

३ "सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम्॥"—गीता, १८/५६

४ "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥"—वही, १८/६६

५ "ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"—वही, १८/६१

गीता मे अनेक स्थानो पर अर्जुन को यह समझाया गया है कि ईश्वरीय इच्छा, काल अथवा प्रकृति के कारण अवश्य हैं, उसे तो अपने को ईश्वरीय इच्छा का निमित्त मात्र बनकर कार्य करना है, किन्तु यदि व्यक्ति की अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नही है और वह स्वतन्त्र रूप से कुछ भी नही कर सकता है, तो ऐसी स्थिति मे हम उसे अपने शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी नही बना सकते हैं, परिणामस्वरूप कर्मसिद्धान्त और ईश्वरीय दड व्यवस्था निरर्थक हो जाती है। यदि ईश्वर अपनी इच्छा स्वयं को शुभाशुभ कर्मो मे नियोजित करता है तो व्यक्ति अपने शुभाशुभ के लिए उत्तरदायी कैसे हो सकता है। इस प्रकार ईश्वरवाद, नियतिवाद का पर्यायवाची बन जाता है। जैन और बौद्धों ने ईश्वरवाद पर नियतिवाद के आरोप लगाये हैं। यह निश्चित ही किसी सीमा तक सत्य है कि ईश्वरवाद मे पुरुषार्थ का मूल्याकन सम्यक् प्रकार से नही हो पाता है, क्योकि पुरुषार्थ की अवधारणा स्वतन्त्र प्रकृति की क्षमता पर ही विकसित होती है।

पुन अवतारवाद मे ईश्वरीय कृपा को बहुत महत्त्व दिया जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि ईश्वरीय कृपा से व्यक्ति के सभी काम सहज हो जाते हैं। यह बात भी सत्य है कि कृपा की अवधारणा मे पुरुषार्थ का महत्त्व कम हो जाता है। प्रभु की जिस पर कृपा हो जाती है वह अप्रयास ही सब कुछ पा लेता है। रामचरितमानस मे भी कहा गया है कि—

"मूक होइ बाचाल पगु चढइ गिरिवर गहन।"

सूरदास ने भी अपने पदो मे ईश्वरीय कृपा के बारे मे कहा है—

"जाकी कृपा पगु गिरि लघे, अन्धे को सब कुछ दर्शायी।"

इस प्रकार अवतारवाद में ईश्वर की नियामकता और ईश्वरीय कृपा ही ऐसे तत्त्व हैं जो पुरुषार्थ की अवधारणा को कुठित करते हैं और व्यक्ति को भाग्यवादी या नियतिवादी बनाते हैं, किन्तु यह मानना कि अवतारवाद या ईश्वरवाद नियतिवाद का समर्थक है तथा पुरुषार्थ की अवधारणा को कुण्ठित करता है, समुचित नही है। यह सही है कि अवतारवाद में ईश्वर विश्व का नियामक और कृपालु है किन्तु उसकी नियामकता का यह अर्थ नही है कि मनुष्य को कोई स्वतन्त्रता ही नही है, ईश्वर ने मनुष्य को सीमित स्वतन्त्रता प्रदान की है और वह अपनी इस सीमित स्वतन्त्रता का सम्यक् उपयोग करते हुए पूर्ण स्वतन्त्र भी हो सकता है।

पचम अध्याय

तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा : तुलनात्मक अध्ययन

१. अवतार, तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाओं का तुलनात्मक विवेचन

भारतीय साहित्य का प्राचीनतम भाग वेद है। यह सुनिश्चित सत्य है कि वेदो का काल लगभग १००० ई० पू० तक है। यह बहुदेववाद का युग है। वेदो मे यद्यपि हमे विष्णु का नाम मिलता है किन्तु वैदिक विष्णु इन्द्र, प्रजापति आदि के समान एक देवता मात्र हैं। वैदिक काल में भी मनुष्य जाति की रक्षा और कल्याण के लिये विभिन्न देवताओ की उपासना की जाती थी। आगे चलकर अनेक देवताओ में एक देव प्रमुख बना और वही परवर्ती युग मे आकर अवतारवाद का आधार बना। प्रारम्भ मे इन्द्र और प्रजापति को महत्त्व मिला, किन्तु आगे चलकर विष्णु प्रधान देव बन गये और विभिन्न अवतारी रूपो का सम्बन्ध उनसे जोडा गया। विष्णु के जिन विभिन्न अवतारो की चर्चा हमे उपलब्ध होती है, उनमें वराह अवतार और उनके पृथ्वी के उद्धार सम्बन्धी कथानक का सन्दर्भ हमे अथर्ववेद मे मिलता है। मत्स्य, कूर्म और वामन के आख्यान तैत्तिरीय सहिता और ब्राह्मणो मे भी मिलते हैं, यद्यपि इनमे मत्स्य, कूर्म और वामन का सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा प्रजापति से जोडा गया है। ऋग्वेद और बृहदारण्यक उपनिषद् मे इन्द्र के द्वारा माया रूप ग्रहण करने की चर्चा भी हुई है। सम्भवत इसी आधार पर आगे चलकर अवतारो की कल्पना विकसित हुई होगी। औपनिषदिक साहित्य मे यद्यपि स्पष्टरूप से हमे अवतारवाद की अवधारणा प्राप्त नही होती, किन्तु केनोपनिषद् मे ब्रह्म के यक्ष रूप मे प्रकट होने का हमे उल्लेख मिलता है। वस्तुत अवतारवाद की अवधारणा का विकास भागवत धर्म के साथ ही हुआ, चाहे उसके बीज वैदिक और औपनिषदिक साहित्य मे यत्र-तत्र बिखरे हुए रहे हो। ऐतिहासिक दृष्टि से अवतारवाद की अवधारणा का विकास ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी के बीच ही हुआ है। यही काल जैनो में तीर्थंकरो की अवधारणा के विकास का और बौद्धो मे बुद्ध और बोधिसत्व की अवधारणा के विकास का है। वे सभी साहित्य

जिनमें अवतार, तीर्थंकर और बुद्ध के उल्लेख उपलब्ध होते हैं और उनके जीवन वृत्तों का वर्णन मिलता है इसी अवधि के बीच रचा गया। रामायण महाभारत, हरिवंशपुराण और विष्णुपुराण का यही काल है और इसी प्रकार जैनपरम्परा के आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र तथा समवायांग और भगवती के कुछ अंश जिनमें तीर्थंकर सम्बन्धी अवधारणाओं का विवरण उपलब्ध होता है इसी काल की रचनायें हैं। बौद्ध परम्परा में दीघनिकाय, महायानसूत्र, लंकावतारसूत्र भी इसी काल की रचनायें हैं।

हिन्दू परम्परा में २४ अवतारों, बौद्धों में २४ बुद्धों तथा जैनपरम्परा में २४ तीर्थंकरों की अवधारणा का जो विकास हमें उपलब्ध होता है वह किस परम्परा ने किससे ग्रहण किया यह बता पाना तो अत्यन्त कठिन है किन्तु यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह सभी धारणायें लगभग समानान्तर विकसित होती रही हैं। यद्यपि सम्भावना यही अधिक है कि अवतारवादी अवधारणा के आधार पर ही विभिन्न कालक्रमों में जैनों में तीर्थंकरों के होने और बौद्ध परम्परा में बुद्धों के होने की अवधारणा का विकास हुआ है।

वस्तुतः हिन्दू परम्परा की अवतारवादी अवधारणा को ही जैनों ने तीर्थंकर के रूप, बौद्धों ने बुद्ध और बोधिसत्व के रूप में अपने-अपने दार्शनिक विचारों के आधार पर विकसित किया है। क्योंकि जैन और बौद्ध परम्परा के प्राचीनतम साहित्य में बुद्ध और महावीर का मानवीय रूप ही अधिक स्पष्ट होता है और जैन एवं बौद्ध साहित्य के गम्भीर और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया गया अध्ययन बहुत स्पष्टरूप से हमारे सामने यह स्पष्ट कर देता है कि उनमें तीर्थंकर और बुद्ध की लोकोत्तरता की अवधारणा का प्रवेश कालक्रम में धीरे-धीरे हुआ है। जैन और बौद्ध धर्मों में भक्ति की अवधारणा का विकास भी परवर्ती ही प्रतीत होता है और यह मानने में भी हमे कोई सकोच नहीं होना चाहिए, इस सम्बन्ध मे उन पर भागवत धर्म का प्रभाव है। इसी प्रकार तीर्थंकरों और बुद्धों तथा बोधिसत्वों के जीवन मे जिन अलौकिक तत्त्वों का प्रवेश हुआ उस पर भी हमे भागवत धर्म के प्रभाव की सम्भावना है। क्योंकि जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म मूलतः सन्यास-मार्गी और मानवतावादी रहे हैं। यह बात अलग है कि बौद्ध धर्म में प्रज्ञा को और जैन धर्म में तपस्या को अधिक महत्त्व दिया गया है किन्तु भक्ति की अवधारणा,

बुद्धो एव तीर्थंकरो का देवीकरण तथा इन परम्पराओ मे विभिन्न देवी-देवताओ का प्रवेश यह सब हिन्दू परम्परा का ही इन पर प्रभाव है। यद्यपि इसका यह अर्थ नही है कि जैन और बौद्ध श्रमण परम्परा का भागवत धर्म पर कोई प्रभाव न पडा हो। हिन्दू धर्म और विशेष रूप से भागवत धर्म मे कर्मकाण्ड और यज्ञवाद का विरोध, अहिंसा एव तप तथा त्याग की अवधारणाओ का विकास यह सब जैन और बौद्ध परम्पराओ का प्रभाव है। वस्तुत भागवत धर्म, वैदिक और श्रमण धर्मो के समन्वय से ही विकसित हुआ है, जिसमे भक्ति की धारा और देववाद वैदिक परम्परा से तथा अहिंसा और साधना श्रमण परम्पराओ से आई है। वैष्णव धर्म मे शूद्रो के प्रति जो थोडी-बहुत उदारता आई और उन्हे ईश्वर भक्ति का जो अधिकार मिला वह भी श्रमण परम्परा का प्रभाव है। जैन परम्परा के ऋषभदेव और बौद्ध परम्परा के बुद्ध का जो अवतारो की सूची मे प्रवेश हुआ है, वह केवल इनकी लोकप्रियता और प्रभाव को लेकर ही हुआ है। वस्तुत इसी बहाने जैन और बौद्ध परम्परा के लोगो को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया। यद्यपि ऋषभदेव और बुद्ध सम्बन्धी भागवत के विवरणो के मूल मे धर्म समभाव के स्थान पर साम्प्रदायिक दुराग्रह ही अधिक है, क्योकि श्रीमद्-भागवत में जहाँ ऋषभदेव और बुद्ध के जीवन-वृत्तो का उल्लेख है वही उनके तप-त्याग प्रधान और प्रज्ञा प्रधान का स्वरूप प्रकट नही हुआ है, किन्तु उसके साथ यह कहकर कि ये अवतार मूलत लोगो को वास्तविक धर्म से च्युत करने के लिये ही हुए हैं, इनकी छवि को धूमिल किया गया है। यह कार्य यद्यपि एकपक्षीय नही है, जैन और बौद्धो ने भी राम और कृष्ण को अपने महापुरुषो की श्रेणी में रखकर भी उन्हे तीर्थंकर या बुद्ध से निम्न स्तर का ही माना है। जैनकथा साहित्य मे एक ओर कृष्ण को अरिष्टनेमि का उपासक बताया और उसे तीसरे नर्क तक भेज दिया, तो दूसरी ओर उसे वासुदेव और भावी तीर्थंकर के रूप मे भी मान्य किया। जहाँ तक राम के जीवनवृत्त का प्रश्न है, जैन और बौद्ध परम्पराओ ने सदैव ही उसे सम्मान की दृष्टि से देखा है फिर भी इतना तो अवश्य है कि उन्हे तीर्थंकर अथवा बुद्ध का दर्जा नही दिया गया। जैन परम्परा ने हिन्दू परम्परा के चौवीस अवतारो मे से कुछ को अपनी परम्परा में स्वीकृत कर लिया है। राम और कृष्ण को तो ८वें बलदेव और ९वें वासुदेव के रूप मे जैन परम्परा में आत्मसात् किया ही गया है, साथ ही साथ

"इसिभासियाइ" मे नारायण, नारद, इन्द्र तथा उत्तराध्ययन में सनत्कुमार, कपिल आदि की गणना भी अर्हत् ऋषियों के रूप में कर ली गई।

बौद्ध परम्परा मे दशरथ जातक (४६१), देवधम्मजातक (५१६), शापितजातक (५१३), सामजातक (५४०) मे रामकथा का बौद्धरूप दृष्टिगत होता है[1] और घृणालजातक (५३६), घटजातक (३५५) मे कृष्ण सम्बन्धी विवरण उपलब्ध होते है।[2] ललितविस्तर मे विष्णु और नारायण के उल्लेख मिलते हैं[3] इसके अतिरिक्त सुखावती व्यूह, करण्डव्यूह आदि मे भी हमे नारायण के उल्लेख मिलते हैं।[4]

इस प्रकार तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओ मे परस्पर एक दूसरे का प्रभाव देखा जा सकता है।

२. तीर्थंकर और बुद्ध—दार्शनिक दृष्टि से समानता और अन्तर

बुद्ध की अवधारणा अवतारवाद से भिन्न है, यद्यपि वह किसी सीमा तक तीर्थंकर की अवधारणा के अधिक निकट बैठती है। फिर भी हमे यह समझ लेना होगा कि तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाएँ भी बिल्कुल समान नही हैं, उनमे यहाँ तक तो समानता है कि प्रत्येक तीर्थंकर और प्रत्येक-बुद्ध का भिन्न और स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है, फिर भी बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद और क्षणिकवाद जैन दर्शन के परिणामी नित्यवाद से भिन्न होने के कारण दोनो अवधारणाओ मे भी भिन्नता आ जाती है। जहाँ जैन दर्शन में कोई एक आत्मा अपने आध्यात्मिक विकास के माध्यम से तीर्थंकरत्व की ऊँचाई तक पहुँचती है, वहाँ बौद्ध दर्शन मे चित्त सन्तति की एक धारा आध्यात्मिक ऊँचाइयो की ओर अग्रसर होते हुए बुद्धत्व को प्राप्त करती है। तीर्थंकर एव बुद्ध की अवधारणाओ मे मूलभूत अन्तर उनके आत्मवाद सम्बन्धी अवधारणाओ पर है। जैन धर्म के अनुसार कोई एक आत्मा किसी जन्म मे सम्यक्त्व का बोध पाकर अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा तीर्थंकर नामगोत्र का बन्ध करती है, फिर

---

१ पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २९३-२९४

२ वही, पृ० २९४

३ ललितविस्तर, पृ० १२६, मूल ७,६ और ७,१४, पृ० १६५, मू० ७

४ सुखावती व्यूह, पृ० १७,२५, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १५०, करण्डव्यूह के आधार पर

वह तीर्थंकर के रूप मे जन्म लेती है और अन्त मे अपनी साधना द्वारा मुक्ति को प्राप्त करती है। यद्यपि बौद्ध दर्शन भी यह मानता है कि बोधि-बीज रूप कोई चित्त सन्तति अपना आध्यात्मिक विकास करते हुए और विविध जन्मो मे विविध पारमिताओ की साधना करते हुए बुद्धत्व की प्राप्ति करती है। फिर भी बौद्ध दर्शन की भाषा मे यह कहना कठिन है कि जिस चित्त ने बोधिसत्व का उत्पाद किया वही चित्त परिनिर्वाण का लाभ करता है। पुन जैन दर्शन मे तीर्थंकर अपने परिनिर्वाण के बाद भी अपना अस्तित्व रखते हैं, वहाँ बौद्ध दर्शन मे यह प्रश्न अव्याकृत करके ही छोड दिया है कि परिनिर्वाण के बाद बुद्ध का क्या होता है।

यद्यपि बौद्ध धर्म मे जो त्रिकायवाद का सिद्धान्त है उसके आधार पर हम कह सकते है कि परिनिर्वाण के बाद बुद्ध का सम्भोगकाय समाप्त हो जाता है, फिर उनका धर्मकाय और स्वभावकाय अविशिष्ट रहता है यद्यपि यह प्रश्न भी उलझन भरा है कि धर्मकाय से उनका क्या तात्पर्य है। धर्मकाय से उनका तात्पर्य यदि उनके धर्म के अस्तित्व से है तो यह बात हमे किसी सीमा तक जैन धर्म मे भी उपलब्ध हो जाती है जैन धर्म के अनुसार भी तीर्थंकर के परिनिर्वाण के बाद उनका धर्मसघ बना रहता है, यद्यपि जैन धर्म मे धर्मसघ या धर्म देशना का अस्तित्व व्यक्ति के अस्तित्व से भिन्न है।

(अ) तीर्थंकर एवं बुद्ध की अन्य समानता

१ कुछ अन्धक और उत्तरापथक बौद्धो की मान्यता है कि भगवान् के उच्चार-प्रस्राव (मल-मूत्र) का गन्ध अन्य गन्धो से विशिष्ट है ऐसी परम्परा जैनपरम्परा में भी है, जहाँ यह माना गया है कि तीर्थंकरो का उच्चार-प्रस्राव एक विशिष्ट गन्धवाला होता है।

२ कथावत्थु के १८वें वर्ग के अनुसार भगवान् बुद्ध ने एक शब्द भी नही कहा, यह मत या इस मत को मानने वाले बौद्ध-लोकोत्तरवादी कहलाते हैं। जैनो के दिगम्बर सम्प्रदायो की भी मान्यता थी कि तीर्थंकर कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात् बोलता नही मात्र भाषा वर्गणा के पुद्गल गिरते हैं जिससे एक विशिष्ट प्रकार की ध्वनि नि सृत होती है। समवशरण (प्रवचन-सभा) मे उपस्थित सभी प्राणी अपनी-अपनी भाषा मे उसका अर्थ ग्रहण कर लेते हैं।

३ बौद्धो की मान्यता है कि चरम-भविक (अन्तिम जन्मवाला) बोधिसत्व तुषित देवलोक से बुद्ध होने के लिए मनुष्य लोक में अवतीर्ण

६ बुद्ध के गर्भविक्रान्ति, सम्यक् सम्बोधि और निर्वाण के काल को पालि-त्रिपिटक मे अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। जैनपरम्परा मे तीर्थंकर की गर्भविक्रान्ति, जन्म, दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति और परिनिर्वाण को उसी प्रकार से कल्याणक रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया है।

७ जिस प्रकार पालिनिकाय मे यह माना जाता है कि बुद्ध जागृत ही माता के गर्भ मे प्रवेश करते है, उसी प्रकार जैनपरम्परा मे भी यह माना जाता है कि तीर्थंकर जब माता के गर्भ मे प्रवेश करते हैं तो वे अवधि-ज्ञान से सहित होते है वे यह जानते है कि मै देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ मे प्रवेश करूँगा, वे यह भी जानते हैं कि मैंने देव-लोक से च्युत होकर माता के गर्भ मे प्रवेश किया, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वे च्युत-काल को नही जान पाते हैं। इस प्रकार दोनो ही परम्परायें इतना तो मानती हैं कि बुद्ध और तीर्थंकर अपने गर्भकाल एव जन्मो के समय जागृत प्रज्ञा (अवधिज्ञान) वाले होते है।

८ बौद्ध परम्परा मे यह माना जाता है कि बुद्ध को माता बुद्ध के गर्भ मे प्रवेश के पूर्व अर्ध स्वप्निल अवस्था मे एक श्वेत हस्ति को अपनी कुक्षि मे प्रवेश करते देखती हैं। जैनपरम्परा के अनुसार तीर्थंकर के गर्भ मे आने के समय माता हस्ति, सिह, वृषभ आदि १४ अथवा १६ स्वप्न देखती हैं। यह भी माना जाता है कि वे स्वप्न मे देखे जाने वाले प्राणी या वस्तुएँ स्वर्ग से उतर कर माता के मुँह मे प्रवेश करती है।

९ जैन और बौद्ध दोनो ही परम्पराएँ इस बात को भी स्वीकार करती हैं कि गर्भकाल मे तीर्थंकर की माता को कोई कष्ट न हो इसके लिए देव उनकी रक्षा करते हैं। यद्यपि चारो दिशाओ मे चार देव पुत्रो के रक्षा करने की बात जैन आगम साहित्य मे हमे कही देखने को नही मिलती। फिर भी बौद्ध परम्परा के साथ जैनपरम्परा भी यह मानती है कि तीर्थंकर की गर्भविक्रान्ति के पश्चात् तीर्थंकर की माता बुद्ध की माता के समान सदाचारी और शीलवान होती है।

१० दोनो परम्पराओ मे यह बात भी सामान्यतया स्वीकृत है कि तीर्थंकर गर्भावास मे माता की जिस कुक्षि मे निवास करते हैं वह श्लेष्मा रुधिर आदि गन्दगियो से रहित होती है।

११. थोडे बहुत अन्तर से दोनो परम्परायें इस बात को भी स्वीकार करती हैं कि तीर्थंकर और बुद्ध के गर्भविक्रान्ति के पश्चात् उनका परि-वार धन-धान्य से समृद्ध हो जाता है।

१२ बुद्ध के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि जब वे माता की कुक्षि से बाहर निकलते हैं तो उन्हे पृथ्वी पर आने से पूर्व ही देव पुत्र ले लेते हैं और देवलोक से दो उदक धारायें उनका और उनकी माता का अभिषेक करती है। जैन परम्परा मे यद्यपि यह बात कुछ प्रकारान्तर से स्वीकार की गई है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर का जन्म होने पर इन्द्र एव देवगण उन्हे मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक करते हैं।

(ब) तीर्थंकर एव बुद्ध का अन्तर

अन्य समानताओ के बावजूद भी दोनो परम्पराओ मे कुछ महत्वपूर्ण अन्तर भी दिखाई देते हैं, जिन बातो को लेकर जैन और बौद्ध परम्पराओ मे अन्तर है, वे निम्न हैं—

१ जहाँ बौद्ध परम्परा यह मानती है कि बोधिसत्व की माता बोधिसत्व को जन्म देकर सातवें दिन स्वर्गवासी हो जाती है, जैन परम्परा को यह स्वीकार नही।

२ बौद्ध परम्परा मे यह उल्लिखित है कि बोधिसत्व की माता खडे-खडे प्रसव करती है, वहाँ जैन परम्परा मे ऐसे किसी नियम का उल्लेख नही है।

३ जहाँ बौद्ध परम्परा के अनुसार बोधिसत्व अपने जन्म के साथ ही सात कदम उत्तर दिशा की ओर चलता है और लोक मे अपने श्रेष्ठता का उद्घोष करता है, ऐसा उल्लेख जैन परम्परा मे हमे कही देखने को नही मिलता है।

४ जन्म के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रसग भी ऐसे हैं जिनमे दोनो परम्पराओ मे कुछ समानता और कुछ भेद हैं। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थङ्कर के अभिनिष्क्रमण के पूर्व देवता आकर उनसे लोक कल्याण के लिए प्रव्रजित होने की प्रार्थना करते है जबकि बौद्ध मान्यता मे बुद्ध की प्रव्रज्या के समय नही अपितु उनके अर्हत् बनने के बाद महाब्रह्मा लोक-मगल के लिए उनसे धर्मचक्र प्रवर्तन के हेतु प्रार्थना करते हैं।

५ बौद्ध परम्परा मे जहाँ बुद्ध के सशरीर तुषित देवलोक और शुद्धावास देवलोक मे जाने का उल्लेख है, वहाँ जैन परम्परा मे ऐसा उल्लेख नही मिलता है कि तीर्थङ्कर सशरीर देवलोक को जाता है। इसके विपरीत जैन परम्परा मे यह माना जाता है कि तीर्थङ्कर के प्रवचन को सुनने

के लिए तथा उनकी प्रवचन सभा की रचना करने के लिए देव स्वर्ग से भूतल पर आते हैं। बौद्धों की यह मान्यता है कि बुद्ध ने जब श्रावस्ती में प्रातिहार्य दिखाये तो उनका एक प्रातिहार्य ऐसा भी था—जिसमें देवगण उनकी सभा में उपस्थित होते हैं।

६. जहाँ बौद्ध परम्परा में पूरण काश्यप आदि तीर्थिकों के आग्रह पर बुद्ध द्वारा स्वयं प्रातिहार्य दिखाने की बात कही गई, वहीं जैन परम्परा में स्वयं तीर्थङ्कर द्वारा किसी प्रातिहार्य का दिखाने की कोई चर्चा नहीं है। स्मरणीय है कि वैसे बौद्ध परम्परा में भी भिक्षु के लिए चमत्कार दिखाना निषिद्ध है। यद्यपि जैन परम्परा यह मानती है—तीर्थङ्कर की महत्ता को स्थापित करने के लिए देवगण प्रातिहार्य दिखाते हैं।

३. बुद्ध और तीर्थंकर की अवधारणा में अलौकिकता का समान विकास

पालि त्रिपिटक की अपेक्षा भी परवर्ती महायान साहित्य में बुद्ध के सम्बन्ध में अनेक अलौकिकताओं का प्रवेश हो गया है। बुद्ध और तीर्थङ्कर की अलौकिकता की चर्चा के प्रसंग में हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में इनका क्रमिक विकास हुआ है। पालि-त्रिपिटक के प्राचीनतम अंश सुत्तनिपात आदि में बुद्ध के जीवन की चर्चा का कुछ उल्लेख होते हुए वहाँ उनके सम्बन्ध में किन्हीं अलौकिकताओं की कोई विशेष चर्चा नहीं है। पालि-त्रिपिटक के प्राचीनतम अंश बुद्ध को एक तपस्वी साधक के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं, जो अपनी साधना के द्वारा अन्त में ज्ञान को प्राप्त करता है। जैन आगम साहित्य के प्राचीनतम अंग आचारांग में हम यही बात देखते हैं कि उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में महावीर के जीवनवृत्त के कुछ अंशों का उल्लेख है परन्तु वहाँ उनकी अलौकिकता की कोई चर्चा नहीं है, उसमें वे कठोर साधक या महान् तपस्वी के रूप में ही प्रस्तुत हैं किन्तु इसी में जोड़ा गया परवर्ती अंश जो आचारचूला के नाम से जाना जाता है, में महावीर के जीवन चरित्र में अनेक अलौकिकताएँ आ गईं। इसी प्रकार कल्पसूत्र में भी उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ अलौकिकताओं का उल्लेख है। क्रमशः जैन एवं बौद्ध दोनों के परवर्ती साहित्यिक ग्रन्थों, दोनों में बुद्ध और तीर्थङ्कर को पूरे तौर से अलौकिक बना दिया गया।

४. तीर्थंकर एव बुद्ध के उद्देश्य की समानता

यदि हम तीर्थङ्कर और बुद्ध के प्रयोजन या उद्देश्य की दृष्टि से विचार करें तो दोनो के उद्देश्य समान हैं। दोनो अपनी आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के साथ-साथ लोक कल्याण के समान उददेश्य को लेकर चलते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र मे कहा गया है कि तीर्थङ्कर का प्रवचन लोक पीडा को दूर करने के लिए ही होता है, इसी प्रकार बुद्ध का उद्देश्य भी प्राणियो के दु ख को दूर करना है। इस उद्देश्यगत समानता के साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि बुद्ध और तीर्थंकर की यह लोक कल्याण की भावना निषेधात्मक या निष्क्रिय ही है क्योकि वे मात्र मार्ग के प्रस्तोता है। जैन और बौद्ध दोनो हो परम्परायें इस बात को स्वीकार करके चलती हैं कि व्यक्ति का उत्थान और पतन एव कल्याण या अकल्याण अपने प्रयत्नो से होता है, बुद्ध और तीर्थङ्कर तो मात्र उप-देशक है। इस दृष्टि से विचार करें तो अवतार की अवधारणा तीर्थङ्कर और बुद्ध की अवधारणा से थोडी भिन्न है क्योकि अवतार केवल सन्मार्ग का उपदेश ही नही देता बल्कि अपने भक्त की पीडा को दूर करने के लिए तथा दुष्टो के विनाश के लिए सक्रिय कार्य करता है। बुद्ध और महावीर जीवनपर्यन्त लोगो को सन्मार्ग का उपदेश दते रहे लेकिन वे राम और कृष्ण की तरह अत्याचारियो के दमन के लिए सक्रिय होकर सामने नही आ , क्योकि यह बात उनके अहिंसावादी दर्शन और निवृत्तिमार्ग के ढाचे के अनुरूप नही थी, फिर भी इस सन्दर्भ में तीर्थङ्कर और बोधिसत्व की अवधारणा मे एक स्पष्ट अन्तर है। तीथङ्कर अपने पूर्व जोवन मे भी मुख्यरूप से निवृत्तिमार्गी साधना को अपनाने के कारण सक्रिय होकर दुष्टो के या अत्याचारियो के दमन के लिए कार्य नही करता, यद्यपि जातक कथाओ से हमे यह ज्ञात होता है कि बोधिसत्व भी दुष्टो के या अत्याचारियो के दमन का कार्य तो नही करता, किन्तु जन जन के सेवा का आदर्श और कृत्य है अत उसे निष्क्रिय नही कहा जा सकता।

५ महाविदेह, सुखावती एव गोलोक की कल्पना

यद्यपि जैन एव बौद्ध दोनो ने यह माना कि भरतक्षेत्र मे अलग-अलग समय मे एक काल-चक्र मे २४ तीर्थङ्कर या २४ बुद्ध होते है किन्तु इसके साथ ही दोनो परम्पराओ मे मनुष्य ने कुछ ऐसे क्षेत्रो को मान लिया है

जहाँ सदैव तीर्थङ्कर एवं बुद्ध विद्यमान रहते हैं। बौद्धों का सुखावती और जैनों का महाविदेह क्षेत्र अपने वर्णन की दृष्टि से बहुत कुछ समानता रखता है। जिस प्रकार बौद्धों की यह कल्पना है कि सुखावती व्यूह में दुःख का उल्लेख नहीं होता तथा सदैव बुद्ध का सान्निध्य उपलब्ध रहता है। इसी प्रकार जैनों की भी कल्पना है कि महाविदेह क्षेत्र में सदैव ही चतुर्थ आरा वर्तमान रहता है तथा सदैव तीर्थंकरों का सान्निध्य उपलब्ध रहता है।

बुद्ध क्षेत्र के रूप में जो सुखावती व्यूह की कल्पना है या जैन में महाविदेह की कल्पना है उसी प्रकार हिन्दू परम्परा में विष्णु-लोक की कल्पना है। यद्यपि सुखावती व्यूह की महाविदेह की अपेक्षा विष्णु लोक से अधिक निकटता है यहाँ यह मान लिया गया है कि जो अमिताभ बुद्ध का भक्त होता है और उनका नाम लेता है वह सुखावती-व्यूह में जन्म लेता है। यह परम्परा ठीक वैसी है जैसे कि हिन्दू परम्परा में विष्णु का नाम लेने वाला विष्णु लोक में जन्म लेता है।

६. पूर्व बुद्धों एवं पूर्व तीर्थंकरों की अवधारणा का समसामयिक विकास

बुद्धों और तीर्थंकरों के सम्बन्ध में एक बात हमें जैन और बौद्ध दोनों में समान रूप से मिलती है कि जैन परम्परा में कल्पसूत्र और बौद्ध परम्परा में दीघनिकाय के महापदानसुत्त में पूर्व-तीर्थङ्करों एवं पूर्व बुद्धों का उल्लेख है। यद्यपि कल्पसूत्र में २४ तीर्थंकरों का नामोल्लेख आ गया है फिर भी वहाँ मुख्य रूप से ४ तीर्थंकरों का ही जीवनवृत्त वर्णित है। महापदानसुत्त में भी केवल ८ मानुषी बुद्धों का उल्लेख मिलता है। दोनों ही परम्पराओं में तीर्थंकरों एवं बुद्धों के जीवन-वृत्त आदि दोनों की वर्णन शैली में बहुत कुछ समानता है। दोनों ही परम्पराओं में तीर्थंकरों एवं बुद्धों के वंश, माता-पिता, प्रमुख भिक्षु-भिक्षुणियों के नाम, भिक्षु भिक्षुणियों की संख्या, प्रमुख उपासक-उपासिकाओं के नामों का ही उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा लगता है कि दोनों ही परम्पराओं में पूर्व बुद्ध और पूर्व तीर्थंकरों की कल्पना का एक समसामयिक विकास हुआ है। इस प्रसंग में दोनों ही परम्पराओं में एक दूसरे का प्रभाव देखा जाता है।

७. अवतारो, तीर्थंकरो और बुद्धों की सख्या सम्बन्धी अवधारणा का क्रमिक विकास

अवतारो, तीर्थङ्करो और बुद्धो की सख्या के प्रश्न के सन्दर्भ मे हमे हिन्दू, जैन और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थो के अध्ययन से तथा उनके ऐतिहासिक क्रम के अध्ययन से सुस्पष्ट हो जाता है कि इनकी सख्या मे क्रमशः वृद्धि होती रही है। हिन्दू परम्परा मे वेदो मे वराह, अश्विनो कुमार और विष्णु के उल्लेख प्राप्त होते हैं, तैत्तिरीयसहिता मे इनके साथ ही साथ मत्स्य, कूर्म, नरसिंह और वामन का उल्लेख भी प्राप्त हो जाता है। उपनिषद् युग मे उनमे कपिल का नाम जुड गया और महाकाव्य मे राम और कृष्ण के नाम भी जुड जाते हैं। प्रारम्भ मे इनकी सख्या १०, फिर २२, २४ ३९ और आगे चलकर अनेकानेक अवतारो की कल्पना है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ आचाराग (ई०पू० ४ शती) मे केवल महावीर का उल्लेख हमे मिलता है दूसरे प्राचीन ग्रन्थ ऋषिभाषित (ई०पू० २ शती) मे तथा उत्तराध्ययन (ई०पू० प्रथम शताब्दी) मे महावीर और पार्श्व के उल्लेख हैं। फिर कल्पसूत्र मे २४ तीर्थङ्करो के नामोल्लेख के साथ ही साथ ऋषभ अरिष्टनेमि, पार्श्व एव महावीर के कथानक उपलब्ध होते हैं। इसमे भी मात्र महावीर का जीवनवृत्त ही विस्तार के साथ उपलब्ध है। परवर्ती साहित्य मे सभी तीर्थङ्करो के जीवनवृत्त भी उल्लिखित हैं। समवायाग के परवर्ती अश मे भूत और भावी तीर्थङ्करो के भी उल्लेख मिलते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे एक साथ अधिक से अधिक १७० कम से कम बीस तीर्थङ्करो के होने का उल्लेख उपलब्ध है। आगे चलकर मनुष्य लोक के विभिन्न क्षेत्रो के भूत, वर्तमान और भविष्य काल के असख्य तीर्थंकरो की अवधारणा हमारे सामने आती है।

बौद्ध परम्परा मे भी प्रथम शाक्य मुनि बुद्ध का उल्लेख उसके बाद पिटक साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थ दीघनिकाय और सयुत्तनिकाय में ७ पूर्ववर्ती बुद्धो का उल्लेख उपलब्ध होता है। लकावतारसूत्र मे २४ बुद्धो की अवधारणा मिलती है, किन्तु उसमे आगे चलकर यह मान लिया गया कि जिस प्रकार गगा के बालू कणो की गणना असम्भव है उसी प्रकार बुद्धो की सख्या की गणना करना असम्भव है। अन्त मे यह मान लिया गया है कि बुद्ध भी अनन्त हैं।

इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में क्रमशः अवतार, तीर्थंकर और बुद्ध के संख्या के सन्दर्भ में विकास देखा जाता है।

८. तीर्थंकर और अवतार

हिन्दू परम्परा में जो स्थान ईश्वर के अवतारों का है, वही स्थान जैन परम्परा में तीर्थङ्करों का है। फिर भी हमें स्पष्टतया समझ लेना होगा कि तीर्थङ्करों की अवधारणा और अवतारों की अवधारणा में अनेक समानताओं के होते हुए मूलभूत विभिन्नताएँ हैं।

१ धर्म संस्थापक

हिन्दू परम्परा में और विशेषरूप से गीता में ईश्वरीय अवतार को धर्म का संस्थापक कहा गया है।[1] इसी प्रकार जैनधर्म में भी तीर्थङ्कर को धर्मतीर्थ का संस्थापक कहा गया है।

शक्रस्तव (देविन्दथुई) में तीर्थङ्कर को धर्म का आदि करने वाला, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाला, धर्म का दाता, धर्म का नेता और धर्म का सारथि कहा गया है।[1] जैन आचार्यों ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि समय-समय पर धर्म की स्थापना के हेतु तीर्थङ्करों का जन्म होता रहता है। धर्म की संस्थापना का कार्य अवतार और तीर्थंकर दोनों ही समान रूप से करते हैं। यद्यपि यहाँ दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी दिखाई देता है। जहाँ गीता में कृष्ण अपने को धर्म का संस्थापक कहते हैं, वहीं वे अपने को दुष्टों का दमन करने वाला भी कहते हैं, न केवल कृष्ण अपितु राम आदि सभी अवतारों के सन्दर्भों में धर्म की संस्थापना के साथ साथ दुष्ट जनों का संहार और गो, ब्राह्मण आदि का संरक्षण भी आवश्यक मान लिया गया है। जबकि जैन परम्परा में तीर्थंकर मात्र धर्म का संस्थापक है, दुष्टों का विनाश एवं पराभव उसका कार्य नहीं है। हमे ऐसा लगता है कि जैनधर्म में तीर्थंकर के साथ दुर्जनों के

---

१ गीता ४/७–८

१ "नमोत्थुण अरिहंताण, भगवंताण।
आइगराण, तित्थयराण, सयसंबुद्धाण।।
धम्मदयाण, धम्मदेसयाण, धम्मनायगाण,
धम्म सारहीण, धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीण।।"

—सामायिक सूत्र शक्रस्तव

विनाश की बात इसलिए नही जोडी गई कि उसके अहिसा के सिद्धान्त पर सम्भवत खरोच आती प्रतीत हुई होगी। उसे धर्ममार्ग का उपदेशक तो बताया किन्तु न तो उसे सज्जनो का सरक्षक, न दुर्जनो का विनाशक। सज्जनो की रक्षा और दुर्जनो का विनाश उसके निवृत्ति मार्ग के चौखटे मे उपयुक्त नही थे अत उसने तीर्थ कर को मात्र धर्म का सस्थापक माना, न कि दुष्टो का विनाशक और सज्जनो का रक्षक। लोक परित्रात तीर्थ करो के जीवन का लक्ष्य अवश्य रहा है मात्र सन्मार्ग के उपदेश के द्वारा न कि भक्तो के मगल हेतु दुर्जनो का विनाश करना। तीर्थङ्कर धर्म का सस्थापक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से सक्रिय नही कहा जा सकता। अवतार की अवधारणा मे जो सक्रियता हमे परिलक्षित होती है, वह सक्रियता तीर्थङ्कर की अवधारणा मे नही है। वह सामाजिक दुर्घट-नाओ का मूक दर्शक के रूप मे ही धर्ममार्ग का उपदेशक है। अत वह "परित्राणाय साधुनाम" की बात नही कहता।

२ भक्तो का उपास्य

जिस प्रकार हिन्दू धर्म मे अवतार उपास्य के रूप मे पूजित हैं उसी प्रकार जैन धर्म मे भी तीर्थ कर को उपास्य माना गया है। गीता मे श्रीकृष्ण कहते है—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ १८/६५

अर्थात् तू मेरे मे मन लगा, मुझे ही नमस्कार कर, मै तुझे सर्व पापो से मुक्त कर दूंगा। आचाराग मे यही बात "आणाय मामगम धम्म" कहकर अपनी आज्ञा के पालन मे ही धर्म की उद्घोषणा की गई है। जिस प्रकार गीता मे श्रीकृष्ण भक्त के सभी पापो को नष्ट करने वाले कहे गये हैं, उसी प्रकार जैन परम्परा मे तीर्थ कर को सभी पापो का नाश करने वाला कहा गया है। एक गुजराती जैन कवि ने कहा है—

"पाप पराल को पुज वण्यो अतिमानो मेरु आकारो।
ते तुम नाम हुतासन सेती, सहज ही प्रजलत सारो॥"

अर्थात् पाप चाहे मेरु का आकार समूह ही क्यो न हो, प्रभु के नाम रूपी अग्नि से सहज ही विनष्ट हो जाता है।

इस प्रकार दोनो ही परम्परायें उसे उपास्य के रूप मे ग्रहण करती हैं और यह मानती हैं कि उसका नाम हमारे कोटि जन्मो के पापो का

प्रक्षालन कर सकता है। दोनो परम्पराओ मे उसे उपास्य मानते हुए भी और उसके नाम मे पाप प्रक्षालन की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी मूलभूत दृष्टि से अन्तर है। हिन्दू परम्परा मे अवतार एक सक्रिय व्यक्ति है, वह खुले दिल से अपने भक्त को आश्वासन देता है कि तू मेरे प्रति समर्पित हो जा। मै तेरे सम्पूर्ण पापो से मुक्ति दिला दूँगा। जबकि जैन-परम्परा मे तीर्थंकर एक निष्क्रिय व्यक्ति है। वह अपनी ओर से कोई आश्वासन नही देता, वह तो स्पष्ट रूप से कहता है कि कृत कर्मों के फल भोग के बिना मुक्ति नही है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मो का लेखा-जोखा स्वय ही पूरा करना है। चाहे तीर्थंकर के नाम रूपी अग्नि से पापो का प्रक्षालन होता हो किन्तु तीर्थंकर मे ऐसी कोई शक्ति नही है कि वह अपने भक्त को पीडाओ से उबार सके, उसके दु ख कम कर सके, उसको पापो से मुक्ति दिला सके। जबकि हिन्दू परम्परा में उन्हे उपास्य के रूप में तो स्वीकार करती है, किन्तु जैनधर्म का तीर्थंकर उस अर्थ मे अपने भक्त का त्राता नही है, जिस अर्थ मे हिन्दू धर्म का अवतार है।

आचार्य समन्तभद्र ने बहुत स्पष्ट रूप मे इस बात को स्वीकार किया था कि हम तेरी स्तुति इसलिए नही करते कि उस स्तुति के करने या नही करने से तू कोई हित या अहित करेगा। वे कहते हैं—

"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्य गुण-स्मृतिर्नः
पुनातु चेतो दुरिताजनेभ्यः ॥"[1]

अर्थात् तेरी प्रशसा करने से भी कोई लाभ नही क्योकि तू वीतराग है। अत स्तुति करने पर प्रसन्न नही होगा। तेरी निन्दा करने मे भी कोई भय नही है क्योकि तू तो विवान्तवैरे है। अत निन्दा करने पर नाराज नही होगा। फिर हम तेरी स्तुति किस लिये करें। कवि कहता है कि तेरे पुण्य गुणो का एक ही लाभ है कि उन गुणो के स्मरण के द्वारा हमारा चित्त दुर्गुणो से पवित्र हो जाता है। इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए श्रीमद् देवचन्द्र ने कहा है—

---

१ स्वयम्भूस्तोत्र

"अज-कुल-गत केशरी लहेरे,
निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभुभक्ति भवि लहेरे,
आतम शक्ति सभाल॥

अर्थात् जिस प्रकार भेडो के समूह मे पला हुआ सिंह-शावक वास्तव मे सिंह को देखकर अपने स्वरूप को पहचान लेता है, उसी प्रकार भक्त-आत्मा भी प्रभु की भक्ति द्वारा अपने आत्मस्वरूप को पहचान लेता है। यह बोध तो स्वय भक्त को करना है, उपास्य वहाँ निमित्त मात्र है।

इस प्रकार हम देखते है कि दोनो ही परम्पराओ मे क्रमश अवतार एव तीर्थ कर को उपास्य मानते हुए भी उनके उपासना की फलश्रुति मे ही अन्तर है। हिन्दूधर्म का अवतार अपने भक्त की पीडा दूर करने मे समर्थ है, जबकि जैनधर्म का तीर्थ कर अपने भक्त के उद्धार मे पूर्णतया असमर्थ है। एक और उल्लेखनीय बात जो हमे मिलती है, वह यह है कि जहाँ हिन्दूधर्म मे ईश्वर या अवतार सक्रिय है और वह भक्त को निष्क्रिय होने का उपदेश देता है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि तू सब कुछ मुझ पर छोड दे मैं तुझे सब पापो से मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर, तू मेरी इच्छा का निमित्त मात्र बन जा।[1]

वहाँ जैनधर्म का तीर्थ कर स्वय निष्क्रिय होकर भक्त को प्रेरणा देता है कि तू सक्रिय हो, तेरा उत्थान और पतन मेरे हाथ मे नही, तेरे ही हाथ मे निहित है। इस प्रकार दोनो धर्मो मे अवतार एव तीर्थ कर के प्रति उपास्यभाव होते हुए भी मूलभूत दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि परवर्ती जैन साहित्य मे अनेक स्थलो पर इस प्रकार के उद्गारो को जिसमे भक्त भगवान् (तीर्थ कर) से दु खो को मुक्त करने एव सुख-शान्ति देने की याचना करता है। प्राचीनतम जैन स्तोत्र उवसग्गहर एवं मानतुङ्ग के भक्तामरस्तोत्र मे तीर्थ कर के नाम को सर्व आपदाओ का शामक बतलाया गया है। चाहे यह स्तुतियाँ या उद्गार एक भावुक मन को सन्तोष देते हो, किन्तु जैनधर्म की दार्शनिक मान्यताओ की कसौटी पर खरे नही उतरते हैं।

---

१ "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥ —गीता १८/६६

३ अवतारवाद बनाम उत्तारवाद

यद्यपि दोनो ही धर्मों मे अवतार एव तीर्थङ्कर के समय समय पर जन्म ग्रहण करने की बात कही गई है और प्रथमत इस आधार पर उनमे एक समानता मानी जा सकती है किन्तु अवतार के पुन पुन जन्म ग्रहण या पुन पुन शरीर धारण करने की अवधारणा और तीर्थङ्करो के काल क्रम मे पुन· उत्पन्न होने की अवधारणाएँ मूलत भिन्न नही हैं। अवतार-वाद की अवधारणा मे ईश्वर लोकमगल के लिए पुन पुन शरीर धारण करता है, जबकि तीर्थङ्कर की अवधारणा मे वही आत्मा पुन जन्म धारण नही करती। तीर्थङ्कर की अवधारणा मे समय-समय पर एक भिन्न आत्मा परमात्मा शक्ति से युक्त हो लोकमगल हेतु मार्ग निर्देशन करती है। अवतारवाद एक ही सत्ता के अवतरण का सिद्धान्त है जबकि तीर्थङ्कर की अवधारणा किसी आत्मा के परमात्म तत्व के रूप मे विकसित होने का सिद्धान्त है। जैनधर्म की मान्यता यह है कि सामान्य आत्माओ मे से ही कोई एक अपने आध्यात्मिक विकास की क्रमिक यात्रा को करते हुए, तीर्थङ्कर के गरिमामय पद को प्राप्त कर लोकमगल हेतु अपने जीवन को समर्पित करता हुआ निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार तीर्थङ्कर की अवधारणा मे प्रत्येक तीर्थङ्कर की आत्मा भिन्न-भिन्न है। सिद्धावस्था मे भी प्रत्येक तीर्थङ्कर अपना भिन्न अस्तित्व रखता है। उसका अपने पूर्वगामी या पश्चगामी तीर्थंकर से कोई सम्बन्ध नही होता है। उनसे मात्र समरूपता है वे समान उच्च गुणो के साधक हैं। योग्यता की दृष्टि से समान होते हुए भी वे भिन्न व्यक्ति हैं। अवतारवाद में आत्मा या परमात्मा ऊपर से नीचे जाता है जबकि तीर्थंकर की अवधारणा मे कोई परमात्मतत्व की ऊँचाइयो को प्राप्त कर लेता है। एक में अवतरण है तो दूसरे मे उन्नयन है अत दोनो अवधारणाएँ बाह्यत समान होने पर भी मूलतः भिन्न-भिन्न हैं।

४. "अय आत्मा ब्रह्म" अथवा "अहं ब्रह्मास्मि"

कहकर हिन्दू धर्म मे जीवात्मा और परमात्मा के मध्य ऐक्य स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार जैनधर्म में 'अप्पा सो परमप्पा" कहकर आत्मा और परमात्मा के बीच एकत्व स्थापित किया गया है। यहाँ भी शाब्दिक बाह्य समानता के आधार पर इस भ्रम मे नही रहना चाहिए कि दोनो का दृष्टिकोण एक है क्योकि हिन्दू धर्म में "अयं आत्मा ब्रह्म"

के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी यह माना गया है कि जीवात्मायें मृत्युलोक मे उसी परमात्मा का आंशिक प्रकटन हैं।[1]

हिन्दू धर्म मे विशेषरूप से अद्वैत वेदान्त मे अपने जागतिक अस्तित्व के पूर्व एव निर्वाण पश्चात् सामान्य वैयक्तिक आत्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। यद्यपि कुछ हिन्दू दर्शनो मे प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार भी किया गया है, फिर भी उसे परमात्मा से भिन्न कोटि का एव उनके सेवक के रूप मे स्वीकार किया गया है। हिन्दू धर्म मे जो यह कहा गया है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा है या प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है। जीव और ब्रह्म की समरूपता का सूचक नही है। जीव तो उसकी अभिव्यक्ति का एक अश है और कथमपि उसके समकक्ष नही है। जबकि जैनधर्म मे "अप्पा सो परमप्पा" की बात जो कही गई है उसका आशय कुछ भिन्न ही है। वहाँ प्रत्येक आत्मा अपनी क्षमता की दृष्टि से परमात्म स्वरूप ही है, दूसरे शब्दो मे प्रत्येक आत्मा परमात्मा बीज है। जैनधर्म यह मानता है कि प्रत्येक आत्मा अपना आध्यात्मिक विकास करते हुए परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक आत्मा सत्ता की दृष्टि से परमात्मा है। अत जहाँ हिन्दू धर्म मे प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा की अभिव्यक्ति है वही जैनधम मे प्रत्येक आत्मा स्वय परमात्मा है। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक मुक्त आत्मा परमात्मा है और वह स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व रखता है, इसी प्रकार जहाँ हिन्दू धर्म मे एक परमात्मा है, वहाँ जैनधर्म में एक ही नही अपितु अनेक परमात्मा हैं। इस प्रकार दोनो अवधारणायें बाह्यत समानतायें रखते हुए मूलत भिन्न-भिन्न है।

९. अवतारवाद एव तीर्थंकर की अवधारणा : व्यक्ति स्वतन्त्रता के सन्दर्भ

यद्यपि अवतार और तीर्थङ्कर दोनो को ही व्यक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ और उच्चतम माना गया है फिर भी दोनो के दर्शन मे एक मूलभूत अन्तर यह भी है कि जहाँ अवतारवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुठित करता है, वहाँ तीर्थङ्करत्व की अवधारणा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुठित नही करती। अपितु वह कहती है कि तू अपने बन्धन के लिए स्वय उत्तर-

---

१ "ममैवांशो जीव लोके जीवभूत सनातन ।
मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ —गीता १५/७

दायी है, तू अपने बन्धनो को तोड और हमारे समान हो जा। अवतार-वाद की अवधारणा मनुष्य को ईश्वरीय इच्छा या ईश्वरीय लीला के एक पात्र से अधिक कुछ नही रहने देती, उसके अनुसार व्यक्ति का उद्धार केवल ईश्वरीय कृपा पर निर्भर है। वह स्वय ईश्वरीय इच्छा का एक यन्त्र है जैसा कि रामचरितमानस में कहा गया है—

"होई हैं वही जो रामरचि राखा।
को करि तरक बढावे साखा॥"

अथवा "उमा दारु योशित की नाही।
सबहि नचावत राम गोसाई॥"

अर्थात् जो भी कुछ होना है वह ईश्वरीय इच्छा के अधीन है। व्यक्ति का कार्य केवल उसकी भक्ति करना है। ईश्वरवाद या अवतार-वाद मे व्यक्ति सदैव ही भक्त बना रहेगा, वह भगवान् का दर्जा कभी प्राप्त नही कर सकता। अवतार भक्त को यह सान्त्वना देता है कि मैं तुझे सर्व पापो से मुक्त कर दूँगा। किन्तु वह व्यक्ति को कभी यह नही कहता कि मै तुझे अपने समान बनाऊँगा। अवतारवाद मे उपास्य-उपासक, स्वामी-सेवक का भाव सदैव बना रहता है, चाहे वह मुक्ति की दशा ही क्यो न हो। जबकि तीर्थङ्कर या बुद्ध की अवधारणा इससे भिन्न है। तीर्थङ्कर का सन्देश होता है कि तुम में भी वही परमात्म तत्त्व अथवा जिनत्व सोया पडा है, उठो, प्रयत्न करो और यदि तुम्हारे प्रयत्न सम्यग् दिशा मे होगे, तो तुम एक दिन स्वय हमारे समान बन जाओगे। तीर्थङ्करत्व की अवधारणा मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता कुंठित नही होती बल्कि स्वतन्त्र होने के लिए आह्वान किया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति की अवस्था मे महावीर की आत्मा और एक सामान्य साधक की आत्मा मे कोई अन्तर नही होता। सभी मुक्त जीव समकक्ष हैं उनमे न कोई छोटा न बडा, न कोई स्वामी न सेवक। अवतारवाद की शिक्षा मे दीनता की शिक्षा है, वहाँ याचकता का भाव है जबकि तीर्थ-ङ्करत्व की शिक्षा वीरत्व की शिक्षा है, वह याचना नही बल्कि अधिकार की बात कहती है। वह मागने से भी नही मिलती, उसे स्वय के पुरुषार्थ के द्वारा पाना होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अवतार-वाद का दर्शन परतन्त्रता का दर्शन है। अवतारवाद आध्यात्मिक ऊँचा-इयो पर भी एक राजतन्त्र की कल्पना करता है जबकि तीर्थंकरत्व का दर्शन एक प्रजातन्त्र की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। तीर्थङ्करत्व के

दर्शन मे सभी राजा हैं, सभी समान है, उनमे राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य ऐसा कोई भी द्वैत नही है।

१०. तीर्थंकर एव अवतार की समानता

जैन साहित्य मे तीर्थङ्कर अपने उपास्य रूप मे अधिक ग्राह्य होने के कारण अपने सम्प्रदाय मे देवाधिदेव परमात्मा के रूप मे ग्रहीत हुए। जैनधर्म मे तीर्थङ्कर के सहस्र विभिन्न नामो का उल्लेख विष्णु के सहस्र नाम के समान हुआ है। पुष्पदन्त ने अपने महापुराण मे इन्हे अनेक स्थलो पर पौराणिक देवो की अपेक्षा विष्णु से अभिहित किया है। महापुराण मे ऋषभ की प्रार्थना करते हुए उन्हें आदि वराह के रूप मे पृथ्वी का उद्धारक कहा गया है।[1] इसी प्रकार विष्णु के वराहावतार में उनसे पृथ्वी के उद्धार की प्रार्थना की गई है। मधु और माधव को मारने वाले वे तीनो लोको के स्वामी मधुसूदन कहे गए है।[2] इसी प्रकार विष्णु को भी मधुसूदन कहा गया है। ऋषभ को गोवर्धनधारी[3], परमहस और केशव[4] कहा गया है। अजितनाथ तीर्थङ्कर को (वसुवई) श्री और (वसुमई) पृथ्वी का पति कहा गया है।[5] अवतार परम्परा मे दोनो विष्णु की पत्नियाँ मानी गई हैं। एक तीर्थङ्कर को गोपाल (गोवालु) नाम से अलकृत किया गया।[6]

---

१ "वैयगववाई जयकमल जोणि आईवराह उद्धरिय खोणि"—महापुराण जी०, १ १० ५ १०

२ "जयमाहव तिहुवणमाहवेस, महुसूयण दमिय मडु विसेस।
वही, जी० १ १० ५ १४

३ "गोवद्धण" का अर्थ श्री वैद्य ने ज्ञानवर्धन किया है, किन्तु अन्य स्थलों पर कृष्ण से सम्बन्धित गोवर्द्धन के लिए भी 'गोवद्धण' का प्रयोग हुआ है। जैसे महापुराण जी० ३ ८५ १६ द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ९१ 'गिरि गोद्धणउ गोवद्धणेण उच्चाइउ'।

४ 'जयालोअणि ओहय परमहस योवद्धण केसव परमहस।'
वही, पृ० १ १० ४ १५

५ 'वसुवइवसुमई कताकते।'—वही, २ ३८ १८ १०

६ "जई तुहु गोवालु णियारिचडु तो काई णत्थि करि तुज्झ दडु।"
—*महापुराण*, पृ० २ ४८ १० २

उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ९२

कृष्ण कथा के प्रसग मे कस को जब पता चलता है कि यह शेषशय्या पर सोने वाला, शख बजाने वाला तथा धनुष धारण करने वाला उनका शत्रु है।[1] तो कस इन्ही प्रतिज्ञाओ के धारण करने वाले से अपनी कन्या के विवाह की घोषणा करता है।[2] यहाँ पर कृष्ण ने उन प्रतिज्ञाओ का पालन किया है।[3] किन्तु सत्यभामा के व्यगात्मक वचनो के फलस्वरूप तीर्थंकर नेमिनाथ ने भी उक्त तीनो प्रतिज्ञाओ का प्रदर्शन किया।[4] शेषशायी, पचजन्य शख एव शार्ङ्गधनुष इन तीनो का स्पष्ट सम्बन्ध वैष्णव परम्परा मे विष्णु से लिया जाता है। अर्थात् इन तथ्यो के आधार पर ही महापुराण मे तीर्थंकर को विष्णु के सदृश या तद्रूपित कहा गया है।

अवतार प्रयोजन

सामान्यत पुराणो मे विष्णु के अवतार के साथ-साथ उनके अवतरण का लक्ष्य निहित होता है, इसी लक्ष्य के फलस्वरूप साधारण जन्म और अवतार मे अन्तर है, किन्तु सिद्धान्तत जैन परम्परा मे उच्चकोटि के अवतारवाद को मान्यता नही है। इसका मुख्य कारण यह है कि जैन-परम्परा मे अवतरण की अपेक्षा साधनात्मक उत्क्रमण पर बल दिया गया है। यद्यपि जैनपरम्परा मे तीर्थंङ्करो के दिव्य एव अवतारानुरूप जन्मो के वर्णन मे प्रयोजन विशेष का कोई सकेत नही मिलता है फिर भी महा-

---

१ "णायो मिज्जई विसहर समणें जो जलयरुआऊरइ वयणें
जो सारगकोठि गुण पावई, सो तुज्झु वि जमपुरि पहु दावइ।"
महा० पुराण जी० ३ ८५ १७ ११–१२
द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ९२

२ "जो फणि सयणि सुयई घणु णावइ, सखु ससासें पूरिवि दावइ।
तहु पहु देइ देसु दुहियइ सहुं, ता धाइयउ णिवहु सइ महु महु॥"
वही, जी०, पृ ८५,१८, ९–१० द्रष्टव्य वही, पृ० ९२

३ वही, जी० ३, पृ० ८५, २२–२४

४ "इय ज सर दुव्वयणीण हुउ त लग्गउ तह् अहिमाणमउ।
णारायण पहरणसाल जहि परमेसरु पत्तउ झति तहिं॥
चप्पिउ कुप्परेहि फणिसयणु धणाविउ वाम पाएण।
धणु करि णिहिउ ससुआऊरिउ जगु बहिरिउ णियाएण॥"
वही, जी० ३, पृ० ८८, १९ दो० १९ और २०
—द्रष्टव्य मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ९२

पुरुषो के जन्मो के साथ कालान्तर मे उनके द्वारा समाज के उत्थान का लक्ष्य हो प्रयोजन के रूप मे स्वाभाविक ढग से आरोपित हो जाते हैं। ऋषभ आदि तीर्थंकरो के जन्मो के साथ भी इस प्रकार के साम्प्रदायिक प्रयोजनो का समावेश निहित है। "भागवत" मे आदितीर्थंकर ऋषभदेव को विष्णु का अवतार माना गया है, क्योंकि वहाँ वे मुनि धर्म प्रकट करने एव मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए अवतरित हुए हैं।[1] इन्ही प्रयोजनो का समावेश जैन धर्म मे भी मिलता है। प्राय सभी तीर्थंकरो का मुख्य प्रयोजन श्रमण धर्म एव मोक्ष की शिक्षा रहा है। "तिलोयपण्णत्ति" मे सभी तीर्थङ्करो को मोक्षमार्ग का नेता कहा गया है।[2] हरिवशपुराण मे ऋषभदेव को असि, मसि एव कृषि आदि समस्त रीतियो का अन्वेषक एव धर्मतीर्थ का प्रथम प्रवर्तक कहा गया है।[3] महापुराण मे कहा गया है कि ऋषभदेव ने श्रमण धर्म का प्रवर्तन करने के लिए, उनके दरबार मे इन्द्र की नीलजना नाम की अप्सरा, जो नृत्य करते हुए मर जाती है, जीवन की क्षणभगुरता को बताया है।[4] इस प्रकार उनका अवतार प्रयोजन स्पष्ट लक्षित होता है। जीवन की नश्वरता के फलस्वरूप इनके विरक्त होने पर इन्द्र आदि देवता इनको जैन धर्म के प्रवर्तन के लिए प्रोत्साहित करते हैं[5] और इसके निमित्त वह दिगम्बर वृत्ति अपनाकर जैनधर्म का प्रचार करते हैं।[6]

इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थङ्करो के जन्म लेने या अवतरित होने का मुख्य प्रयोजन जैन मुनियो के आचरण का आदर्श प्रस्तुत करना, आचार एव नियम पालन की शिक्षा देना तथा जैनधर्म का प्रचार करना रहा है।

---

१ भागवत ५/३/२०, ५/६/१२

२ तिलोयपण्णत्ति —४, ९२८

३ हरिवशपुराण पृ० ११६, ८/९२

४ महापुराण ६, ४

५ "उट्ठिय देव महाकुल कलयलि पुणु ववारएहि णिय णहयलि।
चल्लिउ अणुभग्गो सिय सेविइ णाहिणराहिउ सहू मरु एविइ॥
तुरिउ चलतु खलतु विसठुलु णीससतु चलमोक्कलकातलु॥"
—महापुराण, ७, २३-२४

६ "मोह जालु जिह मेल्लिवि अबरु झति महामुणि हुवउ दियवरु॥"
—वही, ७ २६ १५

११ तीर्थंकर और अवतार का अन्तर

जैन साहित्य मे उल्लिखित तीर्थङ्करो का आविर्भाव वैष्णव अवतारवाद से कुछ अर्थों मे भिन्न है। वैष्णव अवतारवाद मे विष्णु स्वय अवतार धारण करते हैं। उनको यह पद किसी साधना के बल पर प्राप्त नही हुआ है, अपितु वे स्वयं ब्रह्म हैं, स्रष्टा, पालक एव संहारक हैं। इसके विपरीत जैन परम्परा मे तीर्थङ्कर पद साधना द्वारा प्राप्त होता है और कोई अन्य विभिन्न जन्मो मे साधना के द्वारा इस पद को प्राप्त करता है। "परमात्मप्रकाश" के अनुसार प्रत्येक आत्मा तत्त्वत परमात्मा है किन्तु कर्म-बन्धन के कारण उसका परमात्मा स्वरूप आवरित है। कर्मबन्धन से मुक्त होने से ही वह परमात्मा बन जाता है।[1] "प्रवचनसार" के अनुसार आत्मा मे ईश्वर बनने की शक्ति होती है, जो कर्मक्षीण होने पर पूर्णता को प्राप्त होती है।[2]

तीर्थङ्कर के पूर्व जन्मो को देखने से उनके क्रमिक आध्यात्मिक विकास का भान होता है। जैसे तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ पूर्वजन्म मे पहले श्री शर्मा नामक राजपुत्र थे, द्वितीय जन्म मे साधना के फलस्वरूप श्रीधर नामक देवता बने और तृतीय जन्म मे तपस्या के फलस्वरूप अजितसेन नामक चक्रवर्ती हुए। इस प्रकार अन्य तीर्थङ्करो ने भी अपनी विभिन्न जन्मो में साधना के बल पर तीर्थङ्करत्व प्राप्त किया है। इस आधार पर इनकी उत्क्रमणशील प्रकृति के दर्शन होते है। तीर्थंकरत्व मूलरूप मे साधना के द्वारा साधक के विकास का सूचक है।

१२. बुद्ध और अवतार

बौद्ध धर्म मे बुद्ध का वही स्थान है जो हिन्दू धर्म मे अवतार और जैनधर्म मे तीर्थङ्कर का है। बौद्ध धर्म मे अनेक बुद्धो की कल्पना ठीक उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार हिन्दू धर्म मे अनेक अवतारो की की गई है। हिन्दू धर्म के अवतारवाद के समान ही बौद्ध धर्म यह मानता है कि जन-साधारण को धर्म का उपदेश देने के लिए समय-समय पर बुद्धो का आविर्भाव होता रहा है। फिर भी जैसा तीर्थङ्कर एव अवतार की तुलना करते समय देखा है कि दोनो इस बात मे एक मत होते हुए भी कालक्रम मे तीर्थङ्कर और अवतार होते रहते है, इस बात मे यह भेद रखते हैं, जहाँ अवतार एक ही ईश्वर का अनेक बार अनेक रूपो मे

१ परमात्मप्रकाश, पृ० १०२

२ प्रवचनसार मू० ९२-९३

करते हैं, जिस प्रकार वैष्णव धर्म मे विष्णु अवतीर्ण होने के पूर्व देवताओ से परामर्श करते हैं उसी प्रकार बुद्ध के अवतीर्ण होने के पूर्व तुषित देव-लोक में देव, नाग, बोधिसत्व आदि एकत्र होते है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि अवतार देवयोनि, पशुयोनि और मानवयोनि किसी मे से भी सम्भव है जब कि बुद्ध केवल मनुष्य योनि मे ही जन्म लेते है। सामान्यतया अवतार के लिए कोई जातिगत बन्धन नही है यद्यपि अवतारो में अधिकाशत ब्राह्मण और क्षत्रियवश से सम्बन्धित हैं। बुद्ध भी तो ब्राह्मण और क्षत्रिय वश में जन्म लेते है।[1] इस प्रकार इस सम्बन्ध में अवतार और बुद्ध में आशिक समानता मानी जा सकती है। ललितविस्तर में यह भी माना गया है कि बुद्ध जम्बूद्वीप के मध्यदेश में योग्य वश का चुनाव कर ही जन्म लेते हैं।[2] यद्यपि अवतार के सम्बन्ध में हमें ऐसा कोई नियम देखने को नही मिलता है। इन सब आधारो पर हम यह कह सकते हैं कि बुद्ध और अवतार की अवधारणाओ में काफी साम्य है, वे एक दूसरे से प्रभावित हुई हैं। महायान की बुद्ध सम्बन्धी अवधारणा तो निश्चय ही वैष्णव धर्म से प्रभावित है।

१३. उत्तरकालीन बुद्ध को अवधारणा और अवतारवाद से उसकी समानता

जिस प्रकार बौद्ध धर्म मे बुद्ध पद-चिह्नो की पूजा की जाती है उसी प्रकार हिन्दू परम्परा मे विष्णु पद की पूजा की जाती है। सद्धर्मपुण्डरीक में तथागत बुद्ध के लिए सर्वत्र भगवान् शब्द का प्रयोग किया गया है, कहीं-कही उन्हें पुरुषोत्तम शब्द से भी अभिहित किया गया है।[3] ललित-विस्तर मे विष्णु और नारायण शब्द का भी उल्लेख मिलता है। उसमे शक्र, ब्रह्मा, महेश्वर एव सभी देवसमूहो को बुद्ध का [illegible] गया है[4] तथा बुद्ध को नारायण कहा गया है।[5] पुन [illegible] महानारायण भी कहा गया है।[6] साथ ही उन्हे

१ ललितविस्तर, पृ० ३७
२ वही, पृ० ७५
३ सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० १६, ४६
४. ललितविस्तर (अनुवाद), पृ०
५ वही, पृ० १०४, १०९,
६.

युक्त भी माना गया है।[1] बुद्ध नारायण के समान अच्छेद्य और अभेद्य काय वाले है।[2] २३वें अध्याय मे उनको भगवत् स्वरूप कहा गया है।[3] आगे चलकर बुद्ध को साक्षात् नारायण का अवतार ही माना है।[4]

इससे स्पष्ट होता है कि ललितविस्तर के काल तक बुद्ध का नारायण के साथ तादात्म्य माना जाने लगा था। साथ ही इस काल के महायानी साहित्य पर नारायण का यथेष्ट प्रभाव भो परिलक्षित होता है। इससे ऐसा लगता है कि प्रथम शती पूर्व की रचना ललितविस्तर में ही बुद्ध को ही नारायण मान लिया गया था। सम्भव है कि इसी आधार पर वैष्णव पुराणो मे आगे चलकर बुद्ध को विष्णु या नारायण का अवतार मान लिया गया हो, क्योकि बुद्ध साहित्य में वे बहुत पहले से ही नारायण नाम से अभिहित किये जा चुके थे। विदित होता है कि बौद्ध ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प में बुद्ध को स्वय विष्णु के चिह्नो से युक्त कहा गया है। बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में नृसिंह और कृष्ण, लकावतारसूत्र में राम, तथागत गुह्यक मे हयग्रीव और मञ्जुश्रीमूलकल्प में वराह का उल्लेख मिलता है।[5] यहाँ पर ये सभी विष्णु के अवतार की अपेक्षा बुद्ध के ही आविर्भाव माने गये है। लकावतारसूत्र में बुद्ध के बलि के रूप में आविर्भाव का उल्लेख मिलता है[6], जो सम्भवत वामन अवतार का ही परिवर्तित रूप माना जा सकता है।

१४. अवतारवाद और पैगम्बरवाद

इस्लाम धर्म मे भी हिन्दू अवतारवाद की "सम्भवामि युगे युगे" की अवधारणा के तत्त्व विद्यमान हैं, क्योकि इस्लाम धर्म भी यह मानता है कि प्रत्येक युग मे पैगम्बर मानव के रूप मे प्रकट होता है या जन्म लेता है। पैगम्बर के भी जन्म लेने या प्रकट होने का प्रयोजन वही होता है,

---

१ ललितविस्तर (मूल), पृ० १२४, १२६, १४७, १९४

२ "नारायणस्य यथा काय अच्छेद्यभेद्या" —ललितविस्तर (मूल), पृ० ३९२

३ वही, पृ० ४७३

४ "जात लक्षणपुण्यतेजभरित नारायणस्याभवत्" —वही, प० १२४/७

५ ललितविस्तर, पृ० ५३९, १९१, लकावतारसूत्र, पृ० १६६, तथागतगुह्यक, पृ० ७१, "घोररूपो महाघोरो वराहाकारसम्भव"—मञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० १५३ द्रष्टव्य मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० १२, १३

६ लकावतारसूत्र, पृ० २८८ द्रष्टव्य—वही

जो हिन्दू धर्म का अवतार का प्रयोजन है, अर्थात् अधर्म का नाश करना और धर्म की स्थापना करना।[1] इस्लाम धर्म में पैगम्बर की परम्परा का का शुभारम्भ मुहम्मद से नही हुआ बल्कि सर्वप्रथम खुदा ने आदम के नफ्स् का निर्माण किया तदनन्तर उसी की अनुकृति स्वरूप मुहम्मद ने नफ्स् को बनाया।[2] इस प्रकार इस्लाम धर्म मे भी आदम से लेकर मुहम्मद तक पैगम्बरो की एक लम्बी परम्परा है जो आशिक रूप से हिन्दू धर्म की अवतारवाद की परम्परा के अनुरूप है। हिन्दू परम्परा में "गीता" के कृष्ण स्वय अवतरित होकर धर्म की स्थापना एव साधुजनो की रक्षा करते हैं उसी प्रकार इस्लाम धर्म में कुरान के अनुसार अल्लाह् समय-समय पर पैगम्बरो को भेजते हैं और वे हर कौम के लोगो को उनके दुष्कृत कर्मों के परिणामो से डराते हैं, हिदायत देते हैं और सारे कौम के लडाई झगडो का फैसला भी करते हैं।[3] इस प्रकार स्थानगत और सस्कृतिगत वैषम्य होते हुए भी आन्तरिक एकता लक्षित होती है।

इस समानता के बावजूद भी इस्लाम धर्म में पैगम्बर के अवतरण या जन्म हिन्दू परम्परा के अवतार से भिन्न है। हिन्दू धर्म की अवतार की अवधारणा ईश्वर के जन्म या अवतरण को मानती है, जबकि इस्लाम धर्म में पैगम्बरवाद हुलूल या जन्म विरोधी होने के कारण अल्लाह् का जन्म या अवतरण स्वीकार नही करता है। सम्भवत इसीलिए इस्लाम धर्म में मुहम्मद को अल्लाह् का अवतार न कहकर, उनको पैगम्बर कहा है। लेकिन फिर भी अवतार से साम्य रखनेवाले "निर्माण", प्राकट्य और प्रतिरूप शब्द इस्लामी सम्प्रदायो में प्रयुक्त हुए हैं। शेख शाहबुद्दीन के अनुसार अल्लाह् ने अपने स्वरूप से आदम का निर्माण किया। इन्होने आदम को ब्रह्मा का प्रतिरूप माना है।[4] इस प्रतिरूपता के सिद्धान्त में हिन्दू अवतारवाद में गाथा की जो कल्पना है उसी का पुट है मुस्लिम सूफी चिन्तको ने प्रतिरूपता की अवधारणा को अपनाया है। वे भी

---

१ स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, पृ० १०६

२ वही, पृ० ११९ कु० २, सू० ४८

३ कुर्आनशरीफ, पृ० ३६१ सूरा १० आयत ४८ पृ० ४१९, सू० १३ आ० ९, पृ० ७२३ सू० ३५ आ० २५

४ दी अवारिफुलामा रिफ पृ० १२५ : द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ २६४

हिन्दू दशन की तरह 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्घोष करते हैं। पैगम्बर को ईश्वर के प्रतिरूप मानने के लिए तार्किक रूप मे कहा गया है कि पैगम्बर "मीम" अक्षर से युक्त होने के कारण अहमद (ससीम) है और "मीम" रहित होने पर अहद (असीम) कहलाता है।[१] यहाँ "मीम" को हम माया या आवरण मान सकते हैं। कुछ हदीसो के आधार पर इस्लाम मे पूर्णावतार के सदृश पूर्ण-आविर्भाव माना गया है, वहदत से लेकर आजम तक सभी आविर्भावो मे वह "खातुम" या "खासिम" कहा गया है।[२]

इससे स्पष्ट है कि इस्लाम मे अवतार विरोध की भावना होते हुए भी ऐसे अनेक तत्त्व मिलते हैं, जिनका हिन्दू अवतारवाद से अत्यधिक साम्य है। दोनो विचारधाराओ मे मूलभूत अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ हिन्दू परम्परा स्वय ईश्वर के अवतरण को स्वीकार करती है वहाँ इस्लाम में यह माना गया है कि अल्लाह या ईश्वर अपने प्रतिनिधि के रूप मे पैगम्बर को भेजता है, पैगम्बर अल्लाह का प्रतिनिधि है, स्वय अल्लाह नही। यही पैगम्बर और अवतारवाद का मूलभूत अन्तर है।

१५. बुद्ध एव पैगम्बरवाद

बौद्ध धर्म के बोधिसत्व की अनन्त करुणा इस्लाम धर्म मे भी दिखाई देती है। जिस प्रकार महायान मे बुद्ध को महाकरुणा से युक्त माना गया है[३], उसी प्रकार इस्लाम मे अल्लाह को भी अत्यन्त क्षमाशील एव सृष्टि के प्राणियो के प्रति करुणा से युक्त कहा गया है।[४] अल्लाह के करुणामय रूप को "अलरहमान" कहते हैं। अपने इसी रूप मे वह जीवों पर दया करता है। करुणा की दृष्टि से दोनो धर्मों के उपास्य बुद्ध और अल्लाह मे साम्य दृष्टिगत होता है। शेख शाहबुद्दीन अपनी पुस्तक "दि अवारिफुल मारिफ" मे कहते हैं कि पैगम्बर वे हैं जो महायानी बोधि सत्वो के सदृश निर्वाण प्राप्त करने या सिद्ध होने के बाद जनकल्याण

१ सिक्रेट आफ अनलहक, पृ० ७३ द्रष्टव्य—म०सा०अ०, पृ० २६४।
२ वही, पृ० ८३ द्रष्टव्य—वही।
३ बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १०६।
४ स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, पृ० ९९।
उद्धृत मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० २६५।

के लिए पृथ्वी पर भेजे जाते हैं।[1] इस प्रकार प्रयोजन की दृष्टि से पैगम्बर और बोधिसत्व मे समानता है। बौद्ध धर्म मे जिस प्रकार प्रत्येक बुद्ध अपने ही निर्वाण की चिन्ता करते हैं, उसी प्रकार इस्लाम धर्म मे शेख भी अपने साध्य की सिद्धि के बाद जनकल्याण के लिए कोई कार्य नही करते हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म और इस्लाम मे क्रमश प्रत्येक बुद्ध और शेख "स्वान्त सुखाय" की साधना करते हैं किन्तु बोधिसत्व और पैगम्बर सिद्ध या "इनसानुलामिल" होने के बाद भी जनकल्याण किया करते हैं।

जिस प्रकार बौद्ध धर्म मे अतीत, अनागत और वर्तमान बुद्धो की स्थिति मानी गई है उसी प्रकार सूफी साधको ने पैगम्बरो का त्रैकालिक अस्तित्व स्वीकार किया है।[2] पुन बुद्ध के समान ही सभी पगम्बरों मे धर्म सन्देश या धर्म शिक्षा की भावना दिखाई देती है। अत बुद्ध और पैगम्बरो के प्रयोजनो में समानता है।

यद्यपि बुद्ध और पैगम्बर की अवधारणा मे कुछ अन्तर भी है—जहाँ बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है वहाँ इस्लाम ईश्वरवादी है अत पैगम्बर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। बुद्ध अपनी स्वानुभूति के आधार पर प्राप्त सत्य का सन्देश देते हैं, जबकि पैगम्बर ईश्वर के सन्देशवाहक हैं। बुद्ध अपना सन्देश सुनाते हैं जबकि पैगम्बर ईश्वर का सन्देश सुनाते हैं। बुद्ध स्वय की साधना के बल पर बुद्ध के रूप मे उत्पन्न होते है, जबकि पैगम्बर ईश्वर (अल्लाह) के द्वारा उत्पन्न होते है। बुद्ध स्वय सत्य का साक्षात्कार करते हैं, जबकि पैगम्बर को सत्य का दर्शन अल्लाह कराता है। अत बुद्ध और पैगम्बर की अवधारणा मे किंचित् समानता और किंचित् भेद है।

●

१ दि अवारिफुल मारिफ, पृ० १३३ उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० २६५।

२ सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ३५१।

उपसंहार

भारतोय धर्मो मे अवतार, बुद्ध और तीर्थंकर की अवधारणाएँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। जहाँ हिन्दू धर्म मे उपास्य के रूप मे अवतार को स्थान मिला है, वहाँ बौद्ध धर्म एव जैन धर्म मे क्रमश बुद्ध और तीर्थंकर को उपास्य माना गया है। ये तीनो अवधारणाएँ भारतीय धर्म दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अग हैं।

प्रत्येक धर्म के लिए दो बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम तो उसमे एक धमप्रवर्तक होता है, जो धर्म-साधना तथा आचार की पद्धति निर्धारित करता है। इस प्रकार धर्म प्रवर्तक उस धर्म के धार्मिक और सामाजिक नियमो और मर्यादाओ का सस्थापक होता है। उस धर्म के अनुयायियो के लिए उसके वचन प्रमाण होते हैं। पुन सभी धर्मों मे साधना का एक आदर्श होता है, इसे हम धार्मिक जीवन का साध्य भी कह सकते हैं। ससार के सभी धर्मों मे यह दोनो तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत जो धर्म का प्रवर्तक होता है, वही धार्मिक साधना का आदर्श और साध्य भी होता है। ईश्वरवादी धर्मो मे जहाँ एक ओर ईश्वर को अवतार के रूप मे धर्म का प्रवर्तक कहा गया है, वही उसकी प्राप्ति को धार्मिक जीवन का साध्य भी मान लिया गया है। अनीश्वर-वादी धर्मो मे भी उसके प्रवर्तक को न केवल धर्म-प्रवतक के रूप मे देखा गया, अपितु उसे धार्मिक साधना के उच्चतम आदर्श के रूप मे भी स्वीकार किया गया और समग्र धर्म-साधना को उस आदर्श या ऊँचाई तक पहुँचने के लिए एक साधन माना गया। जैन और बौद्ध धर्मो मे तीर्थंकर और बुद्ध धर्म-प्रवर्तक के साथ-साथ धार्मिक साधना के आदर्श भी माने गये। इस प्रकार प्रत्येक धर्म का प्रवर्तक धार्मिक जीवन का साध्य भी बन गया। जैन धर्म मे यह केन्द्रीय तत्त्व तीर्थंकर के रूप मे, बौद्ध धर्म मे बुद्ध के रूप मे, हिन्दू धर्म मे अवतार के रूप मे, इस्लाम मे पैगम्बर के रूप मे तथा ईसाई धर्म मे ईश्वर-पुत्र के रूप मे स्वीकार किया गया।

जैन धर्म मे तीर्थंकर धर्म सस्थापक के साथ-साथ धार्मिक साधना का आदर्श भी है। "शक्रस्तव" नामक प्राकृत स्तोत्र मे तीर्थंकर को धर्म का आरम्भ करने वाला, धर्म का दाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता और

धर्म का सारथी कहा गया है। इस प्रकार जैन धर्म मे साधना का केन्द्र-विन्दु तीर्थंकर है। तीर्थंकर शब्द "तीर्थ" से बना है। तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा—घाट या नदी का तीर, जैन धर्म मे धर्मशासन एवं चतुर्विध सघ को भी तीर्थ कहा गया है। इसी आधार पर ससाररूपी समुद्र से पार कराने वाले, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले अथवा श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—इस चतुर्विध सघ के सस्थापक को तीर्थंकर कहा गया है। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति व्यक्ति की उच्च आध्यात्मिक साधना का परिणाम है। समवायाग मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई भी जीव तप-साधना के द्वारा तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन कर तीर्थंकर बन सकता है। सामान्यतया तीर्थंकर और अरिहन्त दोनो को एक ही माना जाता है, परन्तु कुछ जैनाचार्यों ने इनमे अन्तर किया है। जैन धर्म मे जीवन-मुक्त अवस्था के दो भेद हैं—प्रथम वे, जिनके विशेष पुण्योदय के कारण गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य एव निर्वाण कल्याणक (महोत्सव) मनाये जाते हैं तीर्थंकर कहलाते हैं; दूसरे वे, जिनके ऐसे महोत्सव नही मनाये जाते, अर्हत् या सामान्य-केवली कहे जाते हैं। अर्हत् (सामान्य-केवली) और तीर्थंकर आध्यात्मिक श्रेष्ठता से समान होते है, अन्तर मात्र इतना है कि सामान्य-केवली स्वयम् अपनी मुक्ति का लक्ष्य लेकर साधना मार्ग मे प्रवेश करता है, जबकि तीर्थंकर धर्म-तीर्थ की स्थापना का लक्ष्य लेकर आते हैं और ससार-सागर से स्वय पार होने के साथ-साथ दूसरो को भी पार कराते हैं। इस प्रकार स्वहित और लोकहित की दृष्टि से ही इनमे अन्तर है। सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् भी लोकहित मे लगा रहता है। लोक-कल्याण ही उनके जीवन का ध्येय बन जाता है। जैन धर्म में प्रत्येक बुद्ध और सामान्य-केवली दोनो ही आत्म-कल्याण का आदर्श लेकर चलते हैं, दोनों में मात्र अन्तर यह है कि प्रत्येक बुद्ध किसी निमित्त से स्वय वैराग्य को प्राप्त कर कैवल्य और निर्वाण लाभ प्राप्त करते हैं, जबकि सामान्य-केवली किसी उपदेश से साधना मार्ग मे प्रवृत्त होकर अध्यात्म पूर्णता को प्राप्त होता है। एक स्वय-सम्बुद्ध है तो दूसरा बुद्ध-बोधित है अर्थात् गुरु के सहारे चलने वाला। "समवायाग" मे तीर्थंकर के ३४ विशिष्ट गुणों का विवेचन है। श्वेतावर आगम "ज्ञाताधर्मकथा" मे तीर्थंकरत्व प्राप्त करने के बीस कारण बतलाये गये हैं, जबकि दिगम्बर साहित्य मे १६ कारण बतलाये गये हैं। जैन मान्यता के अनुसार भरत और ऐरावत क्षेत्र मे प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मे २४-२४ तीर्थंकर होते

मे अलौकिक होते हुए भी शारीरिक धर्मों की दृष्टि से अन्य मनुष्यो के समान ही माने गये थे, किन्तु क्रमश उनके व्यक्तित्व मे अन्य अलौकिकताओ को प्रवेश मिलता गया। हीनयान के बुद्ध का लक्ष्य अपने क्लेशो से मुक्ति पाकर अर्हत् पद प्राप्त करना होता है, जबकि महायान का बुद्ध ससार के सभी प्राणियो के निर्वाण लाभ के बाद ही स्वय का निर्वाण चाहता है। यद्यपि बौद्ध धर्म नित्य आत्मतत्त्व को मानने से इन्कार करता है, फिर भी उसमे चित्तधारा को मानकर बोधिसत्व और बुद्ध की सत्ता को स्वीकार किया गया है। उसमें चित्तधारा एक ऐसा योजकसूत्र है, जिसके चित्तक्षण एक दूसरे से पृथक् होकर भी व्यक्तित्व की सर्जना कर देते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति १० पारमिताओ की साधना के द्वारा बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। निदानकथा के अनुसार निम्न ८ गुणो से युक्त व्यक्ति बुद्धत्व को प्राप्त हो सकता है—मनुष्य योनि, पुरुष लिंग, हेतु (बुद्ध-बीजत्व), शास्तादर्शन, प्रव्रज्या, गुण-सम्प्राप्ति, अधिकार और छन्दता। महायान सम्प्रदाय मे बुद्धत्व की प्राप्ति का मूलाधार बोधिचित्त का उत्पाद है, क्योकि बोधिचित्त का उदय होते ही प्राणी के अन्दर करुणा भाव की अनुभूति होने लगती है और यही करुणा भाव बुद्धचित्त की प्राप्ति का आवश्यक तत्त्व है। हीनयान और महायान के प्रारम्भिक ग्रन्थो मे बुद्ध के रूपकाय और धर्मकाय की चर्चा उपलब्ध है, किन्तु आगे चलकर बुद्ध के रूपकाय को अनित्य और विनाशशील माना गया और धर्मकाय को स्वाभाविक और नित्य कहा गया। महायान में बुद्ध के रूपकाय को सम्भोगकाय और निर्माणकाय मे विभाजित करके त्रिकायवाद की अवधारणा का विकास हुआ। जैनधर्म के समान बौद्ध धर्म मे भी अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध की अवधारणाएँ मिलती हैं। अर्हत् पथ का साधक बुद्ध के उपदेशो से प्रेरित होकर साधना के द्वारा दु ख-विमुक्ति और निर्वाणलाभ प्राप्त करता है। किन्तु बुद्ध और बोधिसत्व का साध्य अपनी दु ख-विमुक्ति के साथ ससार के प्राणियो की दु खमुक्ति भी होती है। बौद्ध धर्म में भी प्रारम्भ में ७, फिर २४ बुद्धो की अवधारणा प्रचलित हुई। बौद्ध धर्म मे भक्ति की अवधारणा का विकास भागवत धर्म के प्रभाव का ही प्रतिफल है। यद्यपि प्रारम्भिक पालि ग्रन्थो मे "सद्धा" का उल्लेख है फिर भी भक्ति-प्रधान नही है, किन्तु आगे चलकर जातकों तथा महायान ग्रन्थो मे सर्वत्र भक्ति तत्त्व विद्यमान हैं। लोक-कल्याण ही बुद्धत्व का आदर्श है। बुद्ध ने स्वय बोधि प्राप्त कर

लोक-कल्याण के लिए कार्य करना श्रेयस्कर समझा और सन्देश दिया कि हे भिक्षुओ ! बहुजनो के हित के लिए, बहुजनो के सुख के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए तथा देव और मनुष्यो के सुख के लिए परिचारण करते रहो।

जहाँ तक हिन्दू धर्म मे अवतार की अवधारणा का प्रश्न है, अवतार शब्द का सामान्य अर्थ होता है—नीचे उतरने वाला। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ मे अवतार का अर्थ है—दैवीय शक्ति का दिव्य लोक से भूतल पर उतरना। हिन्दू धर्म मे "अवतार" शब्द का प्रयोग आसुरी शक्तियों के विनाश, साधुजनो के रक्षण एव धर्म स्थापनार्थ ईश्वर के शरीर धारण के अर्थ मे किया गया है। ऋग्वेद मे प्रयुक्त "अवतार" शब्द का अर्थ विनाश या सकट दूर करने वाला है। सामान्यतया अवतरण का अर्थ विष्णु अर्थात् ईश्वर के अवतरण से है, किन्तु प्रारम्भ में अवतार की अवधारणा का तात्पर्य मुख्यत इन्द्र तथा प्रजापति के अवतार से था, कालान्तर मे वह विष्णु पर आरोपित हो गया। अवतारवाद का प्रारम्भिक परिचय महाभारत और पुराणो मे मिलता है। महाभारत मे पहले विष्णु के ६ अवतार—वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण की चर्चा हुई है। पुन अगले अध्याय मे ६ के साथ ४ अवतार—हस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि को मिलाकर १० की सख्या पूरी की गयी है। विष्णु-पुराण मे दशावतार का कोई उल्लेख नही मिलता है, किन्तु अग्नि, वराह, नृसिंह, देवीभागवत, हरिवश, वायु और ब्रह्मपुराणो मे १० अवतारो की सूचियाँ कुछ अन्तर के साथ मिलती हैं। भागवत मे विष्णु के अवतारो की अनेक सूचियाँ मिलती हैं, जिसमे २४ अवतारो की अव-धारणा भी है। विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति विश् अर्थात् प्रवेश करना अथवा अश् अर्थात् व्याप्त करना धातु से की गयी है। ऋग्वेद में विष्णु को सौर देवता कहा गया है और वे सूर्य के ही रूप है। कठोपनिषद् मे विष्णु को व्यापक या व्यापनशील कहा गया है। आचार्य यास्क के अनुसार रश्मियो द्वारा समग्र ससार को व्याप्त करने के कारण सूर्य ही विष्णु नाम से अभिहित हुए हैं। महाभारत, मत्स्य, ब्रह्म और श्रीमद्भागवत मे भी सूर्य ही विष्णु के प्रत्यक्ष रूप माने गये हैं। इस विराट् भावना के कारण पुराणो मे विष्णु का महत्त्व स्वीकार किया गया है। विष्णु के अवतार की अवधारणा के प्रारम्भिक रूप का दर्शन हमे महाभारत और वाल्मीकि रामायण मे होता है। इन दोनो महाकाव्यो मे अवतार की

अवधारणा का मूल उद्देश्य आसुरी शक्ति का विनाश ही विदित होता है। अवतार का मुख्य उद्देश्य यहाँ दैत्यो का सहार है। वाल्मीकि रामायण मे राम को दैत्यो के सहार के मुख्य प्रयोजन के कारण विष्णु का अवतार कहा गया है। महाभारत के अनुसार भी दैत्यो का सहार करने के लिए विष्णु ने श्रीकृष्ण के रूप मे अशावतार ग्रहण किया है। गीता के चतुर्थ अध्याय मे भी अवतार की अवधारणा मिलती है। विशेषता यह है कि महाभारत कृष्ण को पूर्णावतार न कहकर अशावतार ही कहती है। गीता मे ईश्वर के अवतार का प्रयोजन धर्म की स्थापना, साधुओ की रक्षा और दुष्टो का विनाश करना कहा गया है। विष्णुपुराण एव भागवत मे भी अवतार का प्रयोजन धर्म की रक्षा एव भूभार-हरण है। अवतार-वाद की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक पक्ष यह है कि वह मनुष्य को आत्मविश्वास दिलाता है कि वह नितान्त एकाकी नही है कोई अदृश्य शक्ति उसकी सहायक है और उसे कष्टो से मुक्त करने मे प्रयत्नशील रहती है। मनुष्य मे यह आस्था या विश्वास जागृत करना ही मनोविज्ञान के दृष्टिकोण मे अवतारवाद का मूल उत्स है, क्योकि श्रीकृष्ण गीता मे अर्जुन से कहते हैं कि तू मेरे मे मन लगा, मुझे ही नमस्कार कर, मैं तुझे सर्वपापो से मुक्त कर दूगा। इस प्रकार हिन्दू धर्म का अवतार भक्तो के योगक्षेम का वाहक और लोककल्याण का कर्ता है।

सक्षेप मे तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार सभी के जीवन का मूलभूत लक्ष्य धर्म की सस्थापना या धर्म का प्रवर्तन है। फिर भी तीर्थंकर और बुद्ध की अव-धारणाओ से भिन्न अवतार की अवधारणा का लक्ष्य न केवल धर्म की सस्थापना है अपितु साधुजनो की रक्षा तथा दुष्टो का विनाश भी है। इस प्रकार जहाँ तीर्थङ्कर और बुद्ध मूलत धर्म सस्थापना के लक्ष्य को लेकर चलते हैं, वहाँ अवतार धर्म सस्थापना के साथ दुष्टो का नाश और साधु-जनो की रक्षा का लक्ष्य भी अपने सामने रखता है। पुन तीर्थङ्कर और बुद्ध मूलत व्यक्ति के सर्वोच्च आध्यात्मिक विकास के परिचायक हैं। इन दोनो अवधारणाओ मे व्यक्ति को परमात्म-स्वरूप एव बुद्ध-बीज माना गया है और यह बताया गया है कि व्यक्ति अपने आध्यात्मिक विकास के द्वारा उसे प्राप्त भी कर सकता है, जबकि हिन्दू धर्म मे व्यक्ति को ईश्वर का अश माना गया है और उसमें एव ईश्वर में एक अन्तर या दूरी मान ली गई है। उसकी भक्तिमार्गी परम्पराएँ स्वामी और दास की अवधारणा

मे अपने को नही बचा सकी हैं। यद्यपि उपनिषदकार और शकर जैसे विचारक "अहं ब्रह्मास्मि" का निनाद भी करते हैं। पुन हिन्दू धर्म मे जो दस अवतारो की कल्पना है वह किसी सीमा तक जैविक-विकास की परिचायक तो अवश्य है, किन्तु अवतारवाद मूलत विकास की अवधारणा का विरोधी ही है। तीर्थङ्कर और बुद्ध की अवधारणा मे व्यक्ति नीचे से ऊपर आध्यात्मिक विकास की दिशा मे उत्क्रमण करता है, जबकि अवतार की अवधारणा मे पूर्ण पुरुष ऊपर से नीचे की ओर आता है। इस प्रकार उत्तरण एवम् अवतरण के प्रश्न को लेकर ये विचारधारायें एक दूसरे से भिन्न है। तीर्थङ्कर और बुद्ध की अवधारणा व्यक्ति को यह आश्वासन देती है कि यदि वह आध्यात्मिक साधना के द्वारा प्रगति करे तो स्वय भी तीर्थङ्करत्व या बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। जबकि अवतारवाद की अवधारणा म व्यक्ति अपनी साधना के द्वारा चाहे ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर ले, परन्तु ईश्वर नही बन सकता। अवतारवाद के अनुसार उपास्य और उपासक का भेद सदा बना रहता है जबकि तीर्थङ्कर और बुद्ध की अवधारणाएँ इस द्वैत को समाप्त करने की बात करती हैं, चाहे वह बौद्ध धर्म हो या जैन धर्म, दोनो ही व्यक्ति की सम्प्रभुता को स्वीकार करके चलते है, जबकि अवतारवाद उस सम्प्रभुता को स्वीकार नहीं करता।

पुन जहाँ तीर्थङ्कर और बुद्ध की अवधारणाएँ पुरुषार्थवाद का समर्थन करती हैं वहाँ अवतारवाद मे कृपा और नियति के तत्त्व प्रमुख बन जाते हैं। तीर्थङ्कर और बुद्ध दोनो ही व्यक्ति को सन्देश देते हैं कि तू अपना भाग्य का निर्माता है, अपने उत्थान-पतन के लिए स्वय ही जिम्मेदार है, जबकि अवतार व्यक्ति को यह आश्वासन देता है कि तू मेरे प्रति पूर्णरूप से समर्पित हो जा, फिर तेरे कल्याण का दायित्व मेरा है। यद्यपि यह सत्य है कि तीर्थङ्कर बुद्ध और अवतार तीनो ही लोकमगल के लक्ष्य को लेकर आते है। किन्तु यदि हम विचारपूर्वक देखें तो न तो तीर्थङ्कर और न बुद्ध ही लोककल्याण मे सक्रिय भागीदार बनते हैं। वे मात्र मार्ग-उपदेष्टा या पथप्रदर्शक बन कर रह जाते हैं। वे अपने उपासक को यह आश्वासन नही दे पाते कि तुम्हारे कल्याण का सम्पूर्ण दायित्व हमारा है, जबकि अवतार लोककल्याण विशेष रूप से अपने भक्तो के लोककल्याण का सक्रिय भागीदार होता है। वस्तुत तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाओ से अवतार की अवधारणा की यह भिन्नता, मूलत उन धर्मों की निवृत्ति-

मूलक और प्रवृत्तिमूलक दृष्टि के कारण है। जैन और बौद्ध धर्म निवृत्ति-मूलक हैं। इसीलिए वे तीर्थंकर और बुद्ध को भी लोकमंगल का सक्रिय भागीदार नही बना सके। यद्यपि महायान ने इस दिशा मे एक कदम आगे बढाया है, जबकि हिन्दू धर्म मूलत प्रवृत्तिमार्गी है अत वह अपने ईश्वर या अवतार को लोककल्याण का सक्रिय भागीदार बना सका है। वह भक्त की पीडा दूर करने हेतु भागा चला जाता है।

यद्यपि तीनो ही धर्मों मे अपने उपास्य के प्रति आस्था और श्रद्धा को आवश्यक माना गया है, फिर भी जैन धर्म और बौद्ध धर्म उतने आस्था प्रधान और भक्ति प्रधान नहीं बन सके, जितना कि हिन्दू धर्म। जहाँ बौद्ध धर्म मे ज्ञान या प्रज्ञा को प्रधानता मिली, वहाँ जैन धर्म चारित्र या सदाचरण प्रधान बना, जबकि हिन्दू धर्म और विशेष रूप से वैष्णव धर्म मे प्रारम्भ से अन्त तक श्रद्धा या भक्ति तत्व ही प्रधान बना रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा मे बहुत कुछ समानता होते हुए भी मौलिक अन्तर है। हमे ऐसा लगता है कि अवतारवाद की अवधारणा के प्रभाव के कारण ही जैन और बौद्धधर्म मे २४ तीर्थंकर या २४ बुद्धों की कल्पना आई होगी। जैनधर्म और बौद्धधर्म के साहित्य का अवलोकन करने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि २४ तीर्थंकरो और २४ बुद्धों की अवधारणा का विकास ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे ही हुआ है, यही काल पाचरात्र सम्प्रदाय एव वैष्णव धर्म के विकास का भी काल है। सम्भवत बौद्ध धर्म मे जो महायान का विकास हुआ है और त्रिकायवाद की अवधारणा आई, वह भी बहुत कुछ वैष्णव धर्म का ही प्रभाव रहा हो। यद्यपि कुछ लोग यह भी कहने का साहस कर सकते हैं कि महायान का विकास वैष्णव धर्म के विकास का कारण बना हो, किन्तु जैन और बौद्ध धर्म की मूलभूत निवृत्तिमार्गी दृष्टि को ध्यान मे रखते हुए, हमें यही कहना पडेगा कि उनमे तीर्थंकरो और बुद्धो का दैवीकरण बहुत कुछ हिन्दू परम्परा के प्रभाव के कारण ही हुआ है। पुन तीर्थंकर और बुद्ध वीतराग और वीततृष्ण होने के कारण वे अपने भक्तो के कल्याण के सक्रिय भागीदार नही हो सकते, इसी की पूर्ति के लिए जहाँ जैन धर्म मे शासन रक्षक देवता के रूप मे पद्मावती, अम्बिका और चक्रेश्वरी तथा यक्ष-यक्षी की कल्पना विकसित हुई, वही बौद्धधर्म मे तारा आदि की अवधारणा विकसित हुई। मात्र यही नही, इन धर्मो मे तीर्थङ्कर और बुद्ध को अतिमानवीय बनाने के लिए इन्द्र और देवताओ को उनका

उपास्य भी बना दिया गया। जिस प्रकार हिन्दू धर्म मे अन्य सब देवताओं को ईश्वर के अधीन करने का प्रयत्न किया गया वैसा ही एक प्रयत्न जैन और बौद्ध धर्मों मे भी हुआ, जिसके परिणामस्वरूप इन्द्र और दूसरे देवताओ को तीर्थङ्कर और बुद्ध के उपास्य के रूप मे दिखाया गया।

वस्तुत जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परायें एक ही परिवेश मे विकसित हुई है, अत मूल दृष्टिकोण मे अन्तर होते हुए भी उन्होंने एक दूसरे से काफी कुछ ग्रहण किया है। उनमे किसी भी परम्परा को एक दूसरे से पृथक् करके नही समझा जा सकता है। प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन यह बताता है कि तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार का अवधारणाओ मे इन तीनो परम्पराओ ने एक दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया है—

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धार्मिक जीवन को साधना के रूप मे तीर्थंकर, बुद्ध, अवतार तथा पैगम्बर को अवधारणा को स्वीकर करना आवश्यक है, क्योकि बिना किसी धर्मप्रवर्तक और धार्मिक जीवन के यथार्थ को स्वीकार कर कोई भी धर्म अपना अस्तित्व नही रख सकता।

●

परिशिष्ट

(तालिका)

इस्लाम धर्मग्रन्थ : कुर्आन शरीफ में उपलब्ध पैगम्बरों के नाम

क्रम संख्या	पारा १, सूरा २	पा० ३, सू० २,३ पा० ६, सू० ५	पा० ५, सू० ४	पा० ७, सू० ६	पा० १६, सू० १९	पा० २२, सू० २३ पा० ४ , सू० ३ पा० २६, सू० ४५,४९	पा० २८, सू० ६१
१	आदम	आदम	—	—	—	—	—
२	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	—	—
३	याकूब	—	याकूब	याकूब	याकूब	—	—
४	इस्माईल	—	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	—	—
५	इसहाक	—	इसहाक	इसहाक	इसहाक	—	—
६	मूसा	—	मूसा	मूसा	मूसा	—	—
७	ईसा	—	ईसा	ईसा	ईसा	—	—
८	—	—	नूह	नूह	नूह	—	—
९	—	—	अयूब	अयूब	—	—	—
१०	—	—	यूनुस	यूनुस	—	—	—
११	—	—	हारून	हारून	हारून	—	—
१२	—	—	सुलेमान	सुलेमान	—	—	—
१३	—	—	दाऊद	दाऊद	—	—	—
१४	—	—	—	यूसुफ	—	—	—

१५	—	—	—	जकरिया	जकरिया	—	—
१६.	—	—	—	यहिया	यहिया	—	—
१७	—	—	—	इलयास	—	—	—
१८.	—	—	—	यसअ	—	—	—
१९.	—	—	—	लूत	—	—	—
२०.	—	—	—	—	इद्रीम	—	—
२१	—	—	—	—	इसराईल	—	—
२२	—	—	—	—	—	मुहम्मद	—
२३	—	—	—	—	—	—	अहमद

श्वेताम्बर एव दिगम्बर ग्रन्थों के आधार पर

तीर्थङ्कर परिचय तालिका

	१	२	३	४	५	६
कमसख्या	तीर्थंकर नाम	पिता का नाम	माता का नाम	जन्मभूमि	च्यवनस्थल	च्यवननक्षत्र
१	ऋषभदेव	नाभि	मरुदेवी	अयोध्या	सर्वार्थसिद्धि	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	जितशत्रु	विजया	अयोध्या	विजयविमान	रोहिणी
३	सभवनाथ	जितारी	सेना	श्रावस्ती	सतवाग्रैवेचक	मृगशीर्ष
४	अभिनन्दन	सवर	सिद्धार्था	अयोध्या	जयतविमान	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मेघ	मगला	अयोध्या	जयतविमान	मघा
६	पद्मप्रभ	धर	सुसीमा	कौशाम्बी	नौवाग्रैवेयक	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	प्रतिष्ठ	पृथ्वी	वाराणसी	छठाग्रैवेयक	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	महासेन	लक्ष्मणा	चन्द्रपुरी	वैजयन्त	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	सुग्रीव	रामा	काकन्दी	अनन्तस्वर्ग	मूल
१०	शीतलनाथ	दृढरथ	नन्दा	भद्दिलपुर	प्राणतस्वर्ग	पूर्वाषाढ़ा
११	श्रेयामनाथ	विष्णु	विष्णु	सिंहपुर	अच्युतस्वर्ग	श्रवण
१२	वासुपूज्य	वसुपूज्य	जया	चम्पा	प्राणतस्वर्ग	शतभिषा

१३	विमलनाथ	कृतवर्मा	सामा	कपिलपुर	सहस्रारस्वर्ग	उत्तराभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	सिंहसेन	सुजशा	अयोध्या	प्राणतस्वर्ग	रेवती
१५	धर्मनाथ	भानु	सुव्रता	रत्नपुर	विजय	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	विश्वसेन	अचिरा	हस्तिनापुर	सर्वार्थसिद्धि	भरणी
१७	कुंथुनाथ	सूर	श्री	हस्तिनापुर	सर्वार्थसिद्धि	कृत्तिका
१८	अरनाथ	सुदर्शन	देवी	हस्तिनापुर	सर्वार्थसिद्धि	रेवती
१९	मल्लिनाथ	कुंभ	प्रभावती	मिथिला	जयंत	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	सुमित्र	पद्मावती	राजगृह	अपराजितविमान	श्रवण
२१	नमिनाथ	विजय	वप्रा	मिथिला	प्राणतस्वर्ग	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	समुद्रविजय	शिवा सोरियपुर	सोरियपुर	अपराजितविमान	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	अश्वसेन	वामा	वाराणसी	प्राणतस्वर्ग	विशाखा
२४	महावीर	सिद्धार्थ	त्रिशला	कुंडपुर	प्राणतस्वर्ग	उत्तराफाल्गुनी

नोट —तालिका स्पष्टीकरण निर्देश अगले पृष्ठों पर दर्शाया गया है।

क्रमसंख्या	७ जन्म तिथि	८ जन्म नक्षत्र	९ दीक्षा नक्षत्र	१० केवलज्ञान नक्षत्र	११ निर्वाण नक्षत्र	१२ चैत्य वृक्ष
१	चैत्र कृ० ९	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	अभिजित	न्यग्रोध
२	माघ सु० ८, १०	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	मृगशीर्ष	शक्तिपर्ण
३	माघ सु० १४	मृगशीर्ष	अभिजित	मृगशीर्ष	आर्द्रा	शाल
४	माघ सु० २	पुष्य	मृगशीर्ष	अभिजित	पुष्य	पियय
५	वैशाख सु० ८	मघा	मघा	मघा	पुनर्वसु	प्रियगु
६	कार्तिक कृ० १२	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	छत्राभ
७	ज्येष्ठ शु० १२	विशाखा	विशाखा	विशाखा	अनुराधा	सिरीश
८	पौष कृ० १२	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	ज्येष्ठा	नागवृक्ष
९	मार्गशीर्ष कृ० ५	मूल	मूल	मूल	मूल	माली
१०	माघ कृ० १२	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पिलक्खु
११	फाल्गुन कृ० ११	श्रवण	श्रवण	श्रवण	घनिष्ठा	तिन्दुक
१२	फाल्गुन कृ० १४	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	उत्तराभाद्रपद	पाटल
१३	माघ सु० ३	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद	रेवती	जम्बू
१४	वैशाख कृ० १३	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	अश्वत्थ
१५	माघ सु० ३	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य	दधिपर्ण
१६	ज्येष्ठ कृ० १३	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी	नन्दि वृक्ष

१७	वैशाख कृ० १४	कृत्तिका	कृत्तिका	कृत्तिका	कृत्तिका	पिलक्षु
१८	मार्गशीर्ष सु० १०	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	आम्र
१९	मार्ग सु० ११	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	भरणी	अशोक
२०	ज्येष्ठ कृ० ८	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	चम्पक
२१	श्रावण कृ० ८	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	वकुल
२२	श्रावण शु० ५	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	वेतस
२३	पौष १०	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	धातकी
२४	चैत्र शु० १३	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी	स्वाति	साल

क्रमसख्या	१३ वर्ण	१४ लाछन	१५ यक्ष	१६ यक्षिणी	१७ प्रथम गणधर	१८ प्रथम आर्यिका	१९ आयु
१	तप्तस्वर्ण	वृषभ	गोवदन	चक्रेश्वरी	उषभसेन	ब्राह्मी	८४ लाख पूर्व
२	तप्तस्वर्ण	गज	महायक्ष	रोहिणी	सिंहसेन	फलगू	७२ „
३	तप्तस्वर्ण	अश्व	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति	चारु	श्यामा	६० „
४	तप्तस्वर्ण	वानर	यक्षेश्वर	वज्रशृंखल	वज्रनाभ	आजीता	५० „
५	तप्तस्वर्ण	क्रौंच (कुञ्चु)	तुम्बुरव	वज्राङ्कुशा	चमर	कासवी	४० „
६	लाल	कमल	मातङ्ग	अप्रतिचक्रेश्वरी	प्रद्योत	रति	३० „
७	तप्तस्वर्ण	स्वस्तिक	विजय	पुरुषदत्ता	विदर्भ	सोमा	२० „
८	श्वेतवर्ण	चन्द्र	अजित	मनोवेगा	दिन्न	सुमना	१० „
९	श्वेतवर्ण	मगर	ब्रह्म	काली	वराह	वारुणी	२ „
१०	तप्तस्वर्ण	श्रीवत्स	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी	प्रभुनन्द	सुलसा	१ „
११	तप्तस्वर्ण	गेंडा	कुमार	महाकाली	कौस्तुभ	धारिणी	८४ लाख वर्ष
१२	लाल	महिषि	रान्मुख	गौरी	सुभौग	धरणी	७२ „
१३	तप्तस्वर्ण	वराह	पाताल	गान्धारी	मन्दर	धरणीधरा	६० „
१४	तप्तस्वर्ण	श्येन	किन्नर	वैरोटी	यश	पद्मा	३० „
१५	तप्तस्वर्ण	वज्र	किंपुरुष	सोलसा	अरिष्ठ	शिवा	१० „
१६	तप्तस्वर्ण	हरिण	गरुड	मानसी	चक्रायुध	सुयी (श्रुती)	१ „

१७	तप्तस्वर्ण	छाग	गन्धर्व	महामानसी	सव/स्वयंभू	अंजुका/भावितात्मा	९५ हजार
१८	तप्तस्वर्ण	नन्द्यावर्त	कुबेर	जया	कुम्भ	रक्षी	८४ ,,
१९	नील (प्रियगु)	कलश	वरुण	विजया	भिषग	बन्धुमती	५५ ,,
२०	काला	कूर्म	भृकुटी	अपराजिता	मल्ली	पुष्पवती	३० ,,
२१	तप्तस्वर्ण	नीलोत्पल	गोमेध	बहुरूपिणी	शुभ	अनिला	१० ,,
२२	श्यामवर्ण	शंख	पार्श्व	कूष्माण्डी	वरदत्त	यक्षिणी	१ ,,
२३	प्रियगु	सर्प	मातङ्ग	पद्मा	आर्यदिन्न	पुष्पचूला	१०० वर्ष
२४	तप्तस्वर्ण	सिंह	गुह्यक	सिद्धयिनी	इन्द्रभूति	चन्दना	७२ वर्ष

	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क्रमसंख्या	साधु सं०	साध्वी सं०	श्वेताम्बर	दिगम्बर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	८४ हजार	३ लाख	३ लाख ५० हजार	३ लाख	५ लाख ५४ हजार	५ लाख
२	१ लाख	३ लाख ३० हजार	२ लाख ९८ हजार	३ लाख	५ लाख ४५ हजार	५ लाख
३	२ लाख	३ लाख ३६ हजार	२ लाख ९३ हजार	३ लाख	६ लाख ३६ हजार	५ लाख
४	३ लाख	६ लाख ३० हजार	२ लाख ८८ हजार	३ लाख	५ लाख २७ हजार	५ लाख
५	३ लाख २० हजार	५ लाख ३० हजार	२ लाख ८१ हजार	३ लाख	५ लाख १६ हजार	५ लाख
६	३ लाख ३० हजार	४ लाख २० हजार	२ लाख ७६ हजार	३ लाख	५ लाख ५ हजार	५ लाख
७	३ लाख	४ लाख ३० हजार	२ लाख ५७ हजार	३ लाख	४ लाख ९३ हजार	५ लाख
८	२ लाख ५० हजार	३ लाख ८० हजार	२ लाख ५० हजार	३ लाख	४ लाख ९१ हजार	५ लाख
९	२ लाख	१ लाख २० हजार	२ लाख २९ हजार	२ लाख	४ लाख ७१ हजार	४ लाख
१०	१ लाख	१ लाख मात्र ६	२ लाख ८९ हजार	२ लाख	४ लाख ५८ हजार	४ लाख
११	८४ हजार	१ लाख ३ हजार	२ लाख ७९ हजार	२ लाख	४ लाख ४८ हजार	४ लाख
१२	७२ हजार	१ लाख	२ लाख १५ हजार	२ लाख	४ लाख ३६ हजार	४ लाख
१३	६८ हजार	१ लाख ८ सौ	२ लाख ८ हजार	२ लाख	४ लाख २४ हजार	४ लाख
१४	६६ हजार	६२ हजार	२ लाख ६ हजार	२ लाख	४ लाख १४ हजार	४ लाख
१५	६४ हजार	६२ हजार ४ सौ	२ लाख ४ हजार	२ लाख	४ लाख १३ हजार	४ लाख
१६	६२ हजार	६१ हजार ६ सौ	२ लाख ९० हजार	२ लाख	३ लाख ९३ हजार	४ लाख

१७	६० हजार	६० हजार ६ सौ	१ लाख ७९ हजार	१ लाख	३ लाख ८१ हजार	३ लाख
१८	५० हजार	६० हजार	१ लाख ८४ हजार	१ लाख	३ लाख ७२ हजार	३ लाख
१९	४० हजार	५५ हजार	१ लाख ८३ हजार	१ लाख	३ लाख ७० हजार	३ लाख
२०	३० हजार	५० हजार	१ लाख ७२ हजार	१ लाख	३ लाख ५० हजार	३ लाख
२१	२० हजार	४१ हजार	१ लाख ७० हजार	१ लाख	३ लाख ४८ हजार	३ लाख
२२.	१८ हजार	४० हजार	१ लाख ६९ हजार	१ लाख	३ लाख ३६ हजार	३ लाख
२३	१६ हजार	३८ हजार	१ लाख ६४ हजार	१ लाख	३ लाख ३९ हजार	३ लाख
२४	१४ हजार	३६ हजार	१ लाख ५९ हजार	१ लाख	३ लाख १८ हजार	३ लाख

तीर्थंकर परिचय तालिका निर्देश ·

उपयुक्त ग्रन्थ—श्वेताम्बर समवायाग (सम०), प्रवचनसारोद्धार (प्रव०), आवश्यकनियुक्ति (आ० नि०), सत्तरिसयद्वार (सत्त०), दिगम्बर हरिवशपुराण (हरि० पु०), उत्तरपुराण (उ० पु०) तिलोयपण्णत्ति (ति०प०)।

परिचय तालिका उपरोक्त ग्रन्थो के आधार पर सकलित की गयी है। जिन ग्रन्थो मे नाम-साम्य मे विभेद हैं उसे अधोलिखित किया जा रहा है—

तीर्थंकर क्रमाक	तालिका कालम न०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
३	२	उ० पु०	दृढराज्य
९	३	उ० पु०	जयरामा
१३	३	हरि० पु०	शर्मा
१४	३	उ० पु०	जयश्यामा
१८	३	दिग० ग्र०	मित्रा
२०	३	उ० पु०	सोमा
२४	३	दिग० ग्र०	प्रियकारिणी
४	४	आ० नि०	विनीता
५	४	आ० नि०	कोसलपुर
१०	४	उ० पु०	भद्रपुर
१६, १७, १८	४	सत्त० आ० नि०	गजपुरम
२२	४	उ० पु०	द्वारावती
३	५	उ० पु०	प्रथम ग्रैवेयक
६	५	उ० पु०, ति० प०	ऊर्ध्व ग्रैवेयक
९	५	उ० पु०	प्राणत स्वर्ग
१०	५	उ० पु०	आरण १५वाँ स्वर्ग
११	५	ति० पु०	पुष्पात्तर विमान
९	३	आ० नि०	श्यामा

दिगम्बर ग्रन्थ—दिग० ग्र०, श्वेताम्बर ग्रन्थ—श्वे० ग्र०

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
११	३	उ० पु०	सुनन्दा
१३	३	उ० पु०, ति० प०	जयश्यामा
१६	३	दि० ग० ग्र०	ऐरा
१६	३	हरि० पु०	रक्षिता
२३	३	उ० पु०	ब्राह्मी
१	४	सत्त०, आ० नि०	इक्ष्वाकुभूमि
४	४	ति० प०	साकेतपुरी
५	४	ति० प०	साकेतपुरी
११	४	हरि० पु०	सिंहनादपुर
२०	४	हरि० पु०	कुशाग्रनगर
२२	४	ति० प०	शौरीपुर
३	५	ति० प०	अधोग्रैवयक
७	५	उ० पु०, ति० प०	मध्य ग्रैवयक
९	५	ति० प०	आरण युगल
१०	५	ति० प०	आरण युगल
१२	५	उ० पु०, ति० प०	महाशुक्र विमान
१३	५	ति० प०	शतारकल्प
१५	५	उ० पु०, ति० प०	सर्वार्थसिद्ध
१८	५	ति० प०	अपराजित
२०	५	उ० पु०	प्राणत
२२	५	उ० पु०	जैन
१५	६	दिग० ग्र०	रेवती
१	७	सत्त०	चैत्र कृ० ८
३	७	हरि० पु०, ति० प०	मार्ग सु० १५
४	७	दिग० ग्र०	माघ सु० १२
५	७	उ० पु०	चैत्र शु० ११
९	७	दिग० ग्र०	मार्ग कृ० १
१३	७	दिग० ग्र०	माघ शु० १४
१५	७	दिग० ग्र०	माघ शु० १३
१७	७	दिग० ग्र०	वैशाख शु० १

तीर्थङ्कर क्रमाक	तालिका कालम न०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
२१	७	दिग० ग्र०	आषाढ कृ० १०
२२	७	हरि० पु०, ति० प०	वैशाख शु० १३
२३	७	दिग० ग्र०	पौष कृ० ११
४	८	दिग० ग्र०	पुनर्वसु
१३	८	दिग० ग्र०	पूर्वाभाद्रपद
३	९	दिग० ग्र०	ज्येष्ठा
९	९	दिग० ग्र०	अनुराधा
१२	९	दिग० ग्र०	विशाखा
३	१०	दिग० ग्र०	ज्येष्ठा
५	१०	दिग० ग्र०	हस्त
१२	१०	दिग० ग्र०	विशाखा
१४	५	उ० पु०, ति० प०	पुष्पोत्तरविमान
१८	५	उ० पु०	जयत
१९, २१	५	उ० पु०, ति० प०	अपराजितविमान
२०	५	ति० प०	आनतविमान
२४	५	उ० पु०, ति० प०	पुष्पोत्तरविमान
२२, २४	६	दिग० ग्र०	उत्तराषाढा
२	७	हरि० पु०	माघ सु० ९
३	७	उ० पु०	कार्तिक शु० १५
५	७	हरि० पु०, ति० प०	श्रावण शु० ११
६	७	दिग० ग्र०	कार्तिक कृ० १३
११	७	सत्त०	फाल्गुन कृ० १२
१४	७	दिग० ग्र०	ज्येष्ठ कृ० १२
१६	७	दिग० ग्र०	ज्येष्ठ कृ० १४
२०	७	दिग० ग्र०	आश्विन शु० १२
२१	७	ति० प०	आषाढ शु० १०
२२	७	उ० पु०	श्रावण शु० ६
३	८	दिग० ग्र०	ज्येष्ठा
१२	८	दिग० ग्र०	विशाखा
१८	८	दिग० ग्र०	रोहिणी

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
४	९	दिग० ग्र०	पुनर्वसु
१०	९	दिग० ग्र०	मूल
२४	९	दिग० ग्र०	उत्तरा
४	१०	दिग० ग्र०	पुनर्वसु
१३	१०	दिग० ग्र०	उत्तराषाढा
२४	१०	दिग० ग्र०	मघा
१	११	दिग० ग्र०	उत्तराषाढा
३	११	दिग० ग्र०	ज्येष्ठा
५	११	दिग० ग्र०	मघा
१३	११	दिग० ग्र०	पूर्वभाद्रपद
२	१२	हरि० पु०	सप्तपर्ण
६	१२	हरि० पु०	प्रियंगु
१०	१२	हरि० पु०	प्लक्ष
१४	१२	हरि० पु०	पीपल
२३	१२	हरि० पु०	धव
७	१३	हरि०, पु०, ति० प०	हरितवर्ण
८	१३	हरि० पु०	गौर श्वेत
९	१३	हरि० पु०	शंख के समान
२०, २२	१३	दिग० ग्र०	नीलवर्ण
२३	१३	ति० प०, उ० पु०	हरित वर्ण
५	१४	ति० प०	चकवा
८	१४	ति० प०	अर्द्धचन्द्र
१२	१४	ति० प०	भैंसा
१४	१४	ति० प०	सेही
१	१७	सत्त०	पुण्डरीक
२	१७	ति० प०	केसरीसेन
५	१७	ति० प०	वज्र
६	१७	सत्त०	सुज्ज-सुद्योत
७	१७	हरि०	बली
८	१७	हरि० पु०	दत्त

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
९	१७	हरि० पु०	विदर्भ
२	११	दिग० ग्र०	भरणी
४	११	दिग० ग्र०	पुनर्वसु
१२	११	दिग० ग्र०	अश्विनी
१	१२	हरि० पु०	वट
४	१२	हरि० पु०	सरल
९	१२	हरि० पु०	शाली
१३	१२	हरि० पु०	जामुन
२२	१२	हरि० पु०	मेढासोगो
४	१३	उ० पु०	चन्द्रमा के समान
७, ८	१३	उ० पु०	चन्द्रमा के समान
८, ९	१३	ति० प०	कुन्द पुष्प
१९	१३	दि० ग्र०	स्वर्ण
२३	१३	हरि० पु०	श्यामल
१	१४	ति० प०	बैल
७	१४	ति० प०	नन्द्यावर्त
१०	१४	ति० प०	स्वस्तिक
१३	१४	ति० प०	सूकर
१८	१४	ति० प०	तगर कुसुम (मत्स्य)
१	१७	हरि० पु०, ति० प०	वृषभसेन
४	१७	ति० प०	वज्रचमर
५	१७	सम०	सुव्रत
६	१७	हरि० पु०, ति० प०	वज्रचमर
७	१७	ति० प०	बलदत्त
८	१७	ति० प०	वैदर्भ
९	१७	ति० प०	नाग
१०	१७	हरि पु०	अनगार
११	१९	सत्त०	कुन्छुभ
११	१७	ति० प०	धर्म
१२	१७	ति० प०	मन्दिर

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
१४	१७	हरि० पु०	जय
१५	१७	ति० प०	सेन
१९	१७	सम०	इन्द्र
२०	१७	सम०	कुम्भ
२१	१७	ति० प०	सुप्रभ
२३	१७	हरि० पु०, ति० प०	स्वयंभू
३	१८	दि० ग्र०	धर्म श्री/धर्माया
८	१८	दिग० ग्र०	वरुणा
१०	१८	दिग० ग्र०	धरणा
१२	१८	दिग० ग्र०	वरसेना
१४	१८	दिग० ग्र०	सर्वश्री
१६	१८	दिग० ग्र०	हरिसेणा
१८	१८	हरि० पु०, ति० प०	कुन्थुसेना
१९	१८	हरि० पु०, ति० प०	मधुसेना
२०	१८	हरि० पु०, ति० पु०	पूर्वदत्ता
२१	१८	दिग० ग्र०	मागिणी
२२	१८	हरि० पु०, उ० पु०	यक्षी
२३	१८	हरि पु०, ति० प०	सुलोका
१०	१७	ति० प०	कुन्थु
११	१७	हरि० पु०	कुन्थु
१२	१७	सम०, हरि० पु०	सुधर्मा
१३	१७	ति० प०	जय
१४	१७	ति० प०	अरिष्ठ
१८	१७	हरि० पु०	कुन्थु
१९	१७	हरि० पु०, ति० प०	विशाख
२१	१७	हरि० पु०	शोमक
२३	१७	सत्त०	आर्यदत्त
२	१८	दिग० ग्र०	प्रकुब्जा
५	१८	अनन्तमती	अनन्तमती
९	१८	दिग० ग्र०	घोषा

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
११	१८	दिग० ग्र०	चारणा
१३	१८	दिग० ग्र०	पद्मा
१५	१८	दिग० ग्र०	सुव्रता
१७	१८	प्रव०, सत्त०	दामिणी
१८	१८	उ० पु०	यक्षिला
१९	१८	उ० पु०	बन्धुषेणा
२०	१८	उ० पु०	पुष्पदन्ता
२२	१८	प्रव०, सत्त०	जक्खदिन्ना
२२	१८	ति० प०	यक्षिणी
२३	१८	उ० पु०	सुलोचना
१	२१	दिग० ग्र०	३ लाख ५० हजार
३	२१	दिग० ग्र०	३ लाख ५० हजार
५,७	२१	दिग० ग्र०	३ लाख ३० हजार
११	२१	दिग० ग्र०	१ लाख २० हजार
१३	२१	दिग० ग्र०	१ लाख ३० हजार
१६	२१	दिग० ग्र०	६० हजार ३ सौ
२१	२१	दिग० ग्र०	४५ हजार
२४	२१	हरि० पु०	३५ हजार
३	२१	उ० पु०	३ लाख २० हजार
२	२१	दिग० ग्र०	३ लाख २० हजार
४	२१	दिग० ग्र०	३ला० ३०हृ० ६सौ
९,१०	२१	दिग० ग्र०	३ लाख ८० हजार
१२	२१	दिग० ग्र०	१ लाख ६ हजार
१४	२१	दिग० ग्र०	१ लाख ८ हजार
१७	२१	दिग० ग्र०	६०हृ० ३सौ पचास
२३	२१	उ० पु०	३६ हजार
४	२१	हरि० पु०	३ लाख ३० हजार
११	२१	ति० प०	१ लाख २० हजार

बौद्ध धर्म के चौबीस बुद्धों की विवरण तालिका

	१	२	३	४	५	६	७	८
बुद्ध का नाम	दीपंकर	कौण्डिण्य	मंगल	सुमन	रेवत	शोभित	अनोमदर्शी	पद्म
जन्म स्थान	रम्यवती	रम्यवती	उत्तर	खेम	धन्यवती	सुधर्म	चन्द्रवती	चम्पक
पिता का नाम	सुदेव	आनन्द	उत्तर	सुदत्त	विपुल	सुधर्म	यशवान्	असम
माता का नाम	सुमेधा	सुजाता	उत्तरा	सिरिमा	विपुला	सुधर्मा	यशोधरा	असमा
बोधिवृक्ष	पिप्पली	अश्वत्थ	नागवृक्ष	नागवृक्ष	नागवृक्ष	नागवृक्ष	अर्जुनवृक्ष	महासोण
प्रधान-शिष्य	सुमंगल	भद्र	सुदेव	शरण	वरुण	असम	निसम	साल
	तिष्य	सुभद्र	धर्मसेन	भावितात्मा	ब्रह्मदेव	सुनेत्र	अनोम	उपसाल
परिचारक	सागत	अनिरुद्ध	पालित	उदेन	संभव	अनोम	वरुण	वरुण
प्रधान शिष्यायें	नन्दा	तिष्या	शिवला	सोणा	भद्रा	नकुला	सुन्दरी	रामा
	सुनन्दा	उपतिष्या	अशोका	उपसोणा	सुभद्रा	सुजाता	सुमना	सुरामा
धर्म-सम्मेलन उपस्थिति								
प्रथम	१ अरब	१० खरब	१० खरब	१० अरब	अनुपलब्ध	१ अरब	८ लाख	१० खरब
द्वितीय	१० खरब	१० अरब	१० अरब	९ खरब	१० खरब	९० करोड	७ लाख	३ लाख
तृतीय	९ खरब	९० करोड	९० करोड	८ अरब	१० खरब	८० करोड	६ लाख	२ लाख
बोधिसत्व	सुमेध	विजितावी-राजा	सुरुचि-ब्राह्मण	अतुल-नागराज	अतिदेव ब्राह्मण	सुजात-ब्राह्मण	यक्ष-सेनापति	सिंहराज
ऊँचाई	८० हाथ	८८ हाथ	८८ हाथ	९० हाथ	८० हाथ	५८ हाथ	५८ हाथ	५८ हाथ
आयु (वर्ष में)	१ लाख	१ लाख	९० हजार	९० हजार	६० हजार	९० हजार	१ लाख	१ लाख

	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
बुद्ध का नाम	तिष्य	पुष्य	विपश्यी	शिखी	विश्वभू	ककुसन्ध	कोणागमन	काश्यप
जन्म स्थान	क्षेम	काशी	बन्धुमती	अरुणवती	अनुपम	क्षेम	शोभावती	वाराणसी
पिता का नाम	जनसन्ध	जयसेन	बन्धुमान्	अरुण	सुप्रतीत	अग्निदत्त	यज्ञदत्त	ब्रह्मदत्त
माता का नाम	पद्मा	सिरिमा	बन्धुमती	प्रभावती	यशवती	विशाखा	उत्तरा	धनवती
बोधिवृक्ष	असनवृक्ष	आमलक	पाटलि	पुण्डरीक	महाशाल	शिरीष	उदुम्बर	न्यग्रोध
प्रधान-शिष्य	ब्रह्मदेव	सुरक्षित	खण्ड	अभिभू	शोण	विधुर	भीयस	तिष्य
	उदय	धर्मसेन	तिष्य	सम्भव	उत्तर	संजीव	उत्तर	भारद्वाज
परिचारक	सभव	सभिय	अशोक	क्षेमंकर	उपशान्त	बुद्धिज	स्वस्तिज	सर्वमित्र
प्रधान शिष्यायें	स्पर्शा (फुन्ना)	चाला	चन्द्रा	सखिला	दामा	सामा	समुद्रा	अनुला
	सुदत्ता	उपचाला	चन्द्रमित्रा	पद्मा	समाला	चम्पका	उत्तरा	उरुवेला
धर्म-सम्मेलन उपस्थिति								
प्रथम	१ अरब	६० लाख	६८ लाख	१ लाख	८० लाख	४० हजार	३० हजार	२० हजार
द्वितीय	९० करोड	५० लाख	१ लाख	८० हजार	७० हजार	—	—	—
तृतीय	८० करोड	३२ लाख	८० हजार	७० हजार	६० हजार	—	—	—
बोधिसत्व	सुजात क्षत्रिय	विजितावी क्षत्रिय	अतुल नागराज	अरिन्दम राजा	सुदर्शन राजा	क्षेमराजा	पर्वत नामक राजा	ज्योतिपाल माणव
ऊँचाई	६० हाथ	५८ हाथ	८० हाथ	३७ हाथ	६० हाथ	४० हाथ	३० हाथ	२० हाथ
आयु (वर्ष में)	१ लाख	९० हजार	८० हजार	३७ हजार	६० हजार	४० हजार	३० हजार	२० हजार

भागवत पुराण में अवतार की सूचियाँ

सं०	प्रथम स्कन्ध अध्याय–३	द्वितीय स्कन्ध अध्याय–७	दशम स्कन्ध अध्याय–२	दशम स्कन्ध अध्याय–४०	एकादश स्कन्ध अध्याय–४
१	सनकादि	वराह	मत्स्य	मत्स्य	नर-नारायण
२	वराह	सुयज्ञ	हयग्रीव	हयग्रीव	हंस
३	नारद	कपिल	कच्छप	कच्छप	दत्तात्रेय
४	नर-नारायण	दत्तात्रेय	नृसिंह	वराह	सनकादि
५	कपिल	सनकादि	वराह	नृसिंह	ऋषभ
६	दत्तात्रेय	नर-नारायण	हंस	वामन	हयग्रीव
७	यज्ञ	राजा पृथु	राम	परशुराम	मत्स्य
८	ऋषभदेव	ऋषभदेव	परशुराम	राम	वराह
९	राजा पृथु	हयग्रीव	वामन	कृष्ण	कूर्म
१०	मत्स्य	मत्स्य	कृष्ण	बुद्ध	नृसिंह
११	कच्छप	कच्छप	—	कल्कि	वामन
१२	धन्वन्तरि	नृसिंह	—	—	परशुराम
१३	मोहिनी	चक्रपाणि	—	—	राम
१४	नरसिंह	वामन	—	—	कृष्ण
१५	वामन	हंस	—	—	बुद्ध
१६	परशुराम	मनु	—	—	कल्कि
१७.	व्यास	धन्वन्तरि	—	—	—

१८.	राम	परशुराम	—	—	—
१९.	बलराम	राम	—	—	—
२०.	श्रीकृष्ण	बलराम	—	—	—
२१	बुद्ध	कृष्ण	—	—	—
२२	कल्कि	व्यास	—	—	—
२३.	हंस	बुद्ध	—	—	—
२४	हयग्रीव	कल्कि	—	—	—

पुराणों में दशावतार की सूची

क्रम सं०	अग्नि, वराह, शिवपुराण	महाभारत	नरसिंह पुराण	देवीभागवत पुराण	हरिवंशपुराण	वायु, ब्रह्माण्ड पुराण	भागवत
१.	मत्स्य	मत्स्य	मत्स्य	—	—	—	मत्स्य
				भार्ग	दवाम्	वैन्य (पृथु)	
२.	कूर्म	कूर्म	कूर्म	—	—	—	कूर्म
				दत्तात्रेय	दत्तात्रेय	दत्तात्रेय	
३.	वराह	वराह	वराह	—	वराह	—	वराह
				सोम		मान्धाता	
४.	नरसिंह	नरसिंह	नरसिंह	नरसिंह	नरसिंह	नरसिंह	नरसिंह
५.	वामन	वामन	वामन	वामन	वामन	वामन	वामन
६.	परशुराम	परशुराम	परशुराम	परशुराम	परशुराम (जामदग्न्य)	परशुराम (जामदग्न्य)	परशुराम
७.	राम	राम	राम	राम	राम	राम	राम
८.	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	—
							हयग्रीव
९.	बुद्ध	—	—	—	—	—	बुद्ध
		हंस	हंस	अर्जुन	वेदव्यास	वेदव्यास	
१०.	कल्कि	कल्कि	—	—	कल्कि	कल्कि	कल्कि
			बलराम	कुमारास			

सहायक ग्रन्थ सूचिका

मूल ग्रन्थ

आचारांगसूत्र (प्रथम श्रुतस्कन्ध)	मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), द्वि० श्रुतस्कन्ध, १९८०
ऋग्वेद	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, १९५४
ऋग्वेद संहिता	सं० १९८३ वि०, अजमेर वैदिक यन्त्रालय
ऋग्वेद संहिता	एफ० मैक्समूलर, भाग १,२,३,४, दी चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६६
ऋग्वेद संहिता (प्रथम, द्वितीय)	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, १९८३ वि०
ऋग्वेद-हिन्दी	रामगोविन्द त्रिवेदी, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) लि०, प्रयाग, १९५४
कल्याण 'अग्नि-पुराण'-गर्ग-संहिता	अंक वर्ष ४४ संख्या १, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर।
कल्याण 'अग्निपुराण'-गर्गसंहिता नरसिंह पुराण	वर्ष ४५, संख्या १, सपादक—हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर।
कल्याण 'देवीभागवत'	वर्ष ३४, सख्या १, जनवरी १९६०
कल्याण 'संक्षिप्त वराह पुराणाङ्क'	वर्ष ५१, संख्या १, संपादक—हनुमान प्रसाद पोद्दार, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर।
कल्याण 'संक्षिप्त विष्णु-पुराणांक'	वर्ष २८, अंक १, संपादक—हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, घनश्याम जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर।
कल्याण संक्षिप्त ब्रह्म-वैवर्त्तपुराणांक	वर्ष ३७, सख्या १, सपादक—हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर।
कुर्आन शरीफ	मुतर्जम' वरहाशिय, किताब घर, लखनऊ सातवाँ सस्करण, १९८५ ई०

खुद्दकनिकाय : भिक्खु जगदीश काश्यप, विहार राज्य पालि पब्लिकेशन बोर्ड, प्रथम-१९५९, द्वितीय-१९५९, चतुर्थ भाग-१९६०, पचम-१९६०

गीता गीता प्रेस, गोरखपुर।

जातक भदन्त आनन्द, कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम-षष्ठ, १९४२, १९४६, १९५१, १९५४,।

जिनसहस्रनाम : पंडित, आशाधर भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम सस्करण, फरवरी १९५४

तत्त्वार्थसूत्र : सपादक—डॉ० मोहनलाल मेहता, श्री जमनलाल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी-५, १९७६

धम्मपद आनन्द कोसल्लानेन जगदीसकस्सपेन, उत्तम-भिक्खुना पकासितो, २४८१ बुद्धवच्छरे

नन्दिसूत्रम् स० मुनिपुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, अहमदाबाद-९, १९६६

पद्मपुराण : दौलतराम जी, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, प्रयाग, १९५०

पाणिनि अष्टाध्यायी भडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९३५

बुद्धचर्या : राहुल साकृत्यायन, शिवप्रसाद गुप्त, सेवा उपवन, काशी, वि० १९८८

बुद्धवस-अट्ठकथा : सशो०—डॉ० पारसपति नाथ सिंह, नवनालन्दा महाविहार (विहार), वि० २०३३

बुद्धवसो राहुल साकृत्यायन, उत्तम भिक्खुनापकासितो, १९३७

बोधिचर्यावतार शान्तिदेव, बुद्धविहार, लखनऊ, प्रथम स० १९५५,

भगवद्गीता शाकरभाष्य, १४वाँ सस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर, स० २०४२

भागवत (प्रथम भाग, द्वितीय भाग) पचम संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर, स० २०२१

मत्स्यपुराण (उत्तरार्ध)	वर्ष ५९ का कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९८५
मत्स्यपुराण (प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड)	स० श्रीराम शर्मा, आचार्य सस्कृत सस्थान (वेदनगर) बरेली, १९७०
महाभारतम्	स० प० रामचन्द्र शास्त्री प्रथम, १९३० ई० सन् शकर नरहर जोशी, पूना
यजुर्वेद-सहिता	दामोदर भट्ट, स्वाध्याय मडल, औंध, स० १९४८
यजुर्वेद-सहिता	श्रीनिवास महाराज, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-प्रकाशन, स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४८ वि०, १८४९
लिंगपुराण (प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड)	सपादक प० श्रीराम शर्मा, आचार्य सस्कृत संस्थान, (वेदनगर) बरेली, १९६९
वाल्मीकि रामायण	स०—वासुदेव शास्त्री, पाडुरग जावाली, बम्बई चतुर्थ, १९३०
विष्णुपुराण	छठा सस्करण, गीता प्रेस, स २०२४
विष्णुपुराण (प्रथम, द्वितीय खड)	श्रीराम शर्मा, आचार्य सस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुब बरेली, द्वितीय सस्करण-१९६९, चतुर्थ संस्करण-१९६९
शतपथब्राह्मण (प्रथम, द्वितीय भाग)	प० चन्द्रधर शर्मणा, अच्युत ग्रथमाला कार्यालय, काशी, स० १९७४, १९९७
संयुक्तनिकाय	भिक्षु जगदीश काश्यप एव धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, प्रथम संस्करण, १९५४
समवायाग	सम्पा० युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, अनु० पं० हीरालाल जी शास्त्री, श्री आगम प्रकाशन समित ब्यावर, राजस्थान, १९८२
सूत्रकृतागसूत्र (प्रथम, द्वितीय श्रुतस्कन्ध)	आत्मज्ञान पीठ-मानसा, १९७९
सूत्रकृताग (प्रथम, द्वितीय श्रुतस्कन्ध)	स० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, राजस्थान, १९८२
स्थानागसूत्र	अनु० प० हीरालाल शास्त्री, श्री आगम प्रकाशन ब्यावर, राजस्थान, १९८१

सहायक ग्रन्थ

अवतार . एनीबेसेण्ट, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, आड्यार, मद्रास, १९२५

आवश्यक नियुक्ति (भाग १) . हरिभद्रसूरि, वि० स० २०३८

ईशदूत ईसा स्वामी विवेकानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, मार्च, ७६

ईसा मसीह की वाणी श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, जून, ७९

ऋषभदेव-एक परिशीलन देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, राजस्थान, द्वितीय सस्करण, १९७७

जीव से जिन की ओर हरेन्द्र प्रसाद वर्मा, ज्ञानम-भागलपुर, १९७४

जैन अगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२, प्रथम स०, नवम्बर, १९७४

जैन तर्कभाषा (हिन्दी अनुवाद सहित) अनु० प० शोभा चन्द्र भारिल्ल, श्रीत्रिलोक रत्न स्थानक वासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, अहमदनगर

जैनत्व की झाकी अमरमुनि, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, षष्ठम सस्करण, १९७९

जैनधर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम, द्वितीय भाग) हस्तीमल जी, जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान) प्रथम सस्करण, १९७४

जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन . डॉ० सागरमल जैन, प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर, १९८२

जैन बौद्ध और गीता का साधनामार्ग डॉ० सागरमल जैन, प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर (राजस्थान), १९८२

जैनसिद्धान्त प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८३

धर्म और दर्शन विष्णुदेव उपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम सस्करण १९७८

नया नियम अर्थात् प्रभु यीशु का सुसमाचार बाइबिल सोसायटी आफ इण्डिया, बंगलौर, १९७९

निदानकथा (हिन्दी अनुवाद सहित) — महेश तिवारी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७०

पारसी धर्म एवं सेमेटिक धर्मों मे मोक्ष की धारणा — डॉ० अरुण बनर्जी, आर्य भाषा संस्थान, वाराणसी, प्रथम सं० १९८२

पारसी धर्म क्या कहता है ? : श्रीकृष्ण दत्त भट्ट, सर्वसेवा संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण, जून ८५

बोधिचर्यावतार — शान्ति देव, बुद्धविहार, लखनऊ, प्रथम, १९५५

बौद्धदर्शन — बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, गणेश दीक्षित, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९४६

बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (द्वितीय भाग) — भरत सिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मंडल कलकत्ता, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०११

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास — डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, १९७६ ई०

बौद्धधर्म दर्शन — आ० नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, ई० १९५६, वि० २०१३

बृहद्देवता (प्रथम, द्वितीय) — ए० ए० मैक्डोनेल, हारवर्ड यूनिवर्सिटी, प्रथम संस्करण, १९०४ ई०

भगवद्गीता — राधाकृष्णन्, सरस्वती विहार, दिल्ली–११००३२, सातवा संस्करण, १९८० ई०

भगवद्गीता रहस्य : बालगंगाधर तिलक, रामचन्द्र, बलवन्त तिलक, पुणे, सप्तम संस्करण, १९३३ ई०

भगवतीसूत्र पर-श्री जवाहिराचार्य के व्याख्यान — सम्पादक प०–शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम वीराब्द–२४७१, विक्रमाब्द–२००२

भारतीय दर्शन (प्रथम भाग, द्वितीय भाग) — डॉ० राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली–६, प्रथम संस्करण (१९६६–६९)

भारतीय संस्कृति मे जेनधर्म का योगदान	डॉ० हीरालाल जेन, मध्यप्रदेश शासन, साहित्य परिषद्, भोपाल, प्रथम सस्करण, १९६२ ई०
मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद	कपिलदेव पाण्डेय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम सस्करण–वि० स० २०२०
मुहम्मद पैगम्बर की वाणी	श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, जून, ७८ ई०
यजुर्वेद भाषाभाष्य (द्वितीय भाग, भाषानुवाद)	श्री दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, चतुर्थ सस्करण, वि० स० १९८६
राम कथा	कामिल बल्के, हिन्दी परिषद विश्वविद्यालय, प्रयाग, नवम्बर, १९५०
ललितविस्तर	अनु०–शान्ति भिक्षु शास्त्री, उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ, प्रथम सस्करण, १९८४
वचन बाबू जी महाराज भाग १	राधा स्वामी ट्रस्ट, आगरा, तीसरा संस्करण, १९६१ ई०
विशुद्धि मार्ग (प्रथम, द्वितीय भाग)	भिक्षु धर्म रक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५७
वेदवाणी	सम्पादक–ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, वेदवाणी कार्यालय, वाराणसी, वर्ष १४, अक ४–८
वैदिक देवता, उद्भव और विकास—प्रथम खण्ड	डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली-वाराणसी, प्रथम संकरण, १९८१
शिवपुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना	डॉ० रमाशकर त्रिपाठी, हरिशकर त्रिपाठी, डुमराव कालोनी, अस्सी, वाराणसी, १९७६
शिक्षा समुच्चय,	लेखक श्री परशुराम शर्मा, दी मिथिला इन्स्टीच्यूट आफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, दरभगा, १९६१
हरिवशकथा	जिनसेन, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन दिल्ली–६, प्रथम, १९७०

कोश

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश भाग १–४ : क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७१, प० म०–१९७२, द० हु० १९७३

संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे जी० पी० मलालसेकर, लन्दन,

डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स भाग १, ए० डी० भाग २ जॉन मरे, अल्बेमर्ले स्ट्रीट, डब्ल्यू० आई० पब्लिश्ड फार दी गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया, १९३७, १९३८

पालि इंग्लिश डिक्शनरी टी० डब्ल्यू आर एच थाई डेविड एण्ड विलियम स्टीडे दी पाली टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन।